मानव-भोज्य-मीमांसा

लेखक—

श्री पन्यास कल्याणविजयजी गणी

प्रकाशक—

श्री कल्याणविजय-शास्त्र-संग्रह-समिति

जालोर (राजस्थान)

(श्री कोटपाला जैन संघ की आर्थिक सहायता से प्रकाशित)

— ॐ —

विक्रम संवत् २०१८ } वीर संवत् २४८७ { मूल्य

ईसवी सन् १९६१ } प्रथमावृत्ति १००० { रु० ३ ५० न पै

पुस्तक मिलने का पता —

१. सरस्वती पुस्तक भंडार

हाथी खाना, रतनपोल, अहमदाबाद

२. कस्तूरचंद थानमल

१६/२१ विट्ठलवाडी, बंबई नं० २

मु-क-

श्री वीर प्रेस,

मनिहारों का रास्ता, जयपुर।

प्रकाशकीय-निवेदन

पाठक गण यह जानकर प्रसन्नता का अनुभव करेंगे कि प० श्री कल्याणविजयजी गणिवर के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ "जैन काल गणना", "श्रमण भगवान्-महावीर" "कल्याण कालिका" के प्रकाशित होने के बाद आज "मानव भोज्य मीमांसा" ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। इसका तृतीय अध्याय जो डेढ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था, उसे पढ़कर अनेक विद्वान् पाठकों ने इस सम्पूर्ण ग्रन्थ को जल्दी प्रकाशित करने का आग्रह किया था, हमारी इच्छा भी इस ग्रन्थ को सत्वर प्रकाशित करने की थी फिर भी प्रमादिके प्रमाव से इसके प्रकाशन में धारणा से कुछ अधिक विलम्ब हो गया है, इसके लिए पाठक महोदय क्षमा करेंगे।

संवत् २०१४ की मार्गशीर्ष शुक्ला षष्ठी को पंन्यासजी महाराज, विद्वान् श्री सौभाग्य विजयजी महाराज मुनिवर श्री मुक्ति विजयजी महाराज, द्वारा ओटवाला स्थान के जैन मन्दिरजी की प्रतिष्ठा निर्विघ्न सम्पन्न हुई उसकी स्मृति में कोई उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशित कराने की वहाँ के जैन संघ ने अपनी इच्छा व्यक्त की थी। जब "मानव भोज्य-मीमांसा' तय्यार होने की खबर मिली तब ओटवाला के जैन श्रावक संघ ने इस कार्य में हाथ बटाने के लिए समिति के पास तीन हजार रुपया भेज दिया, इसके लिए समिति ओटवाला-जैन संघ को धन्यवाद देती है, और उक्त सहायता से प्रोत्साहित होकर यह निर्णय करती है कि 'मीमांसा' की शताधिक

कॉपियाँ यूनिवर्सिटियों, कालेजों की लाइब्रेरियों एवं इस विषय के विशिष्ट विद्वानों को निःशुल्क भेजी जाएँ तथा अन्य ग्राहकों को लागत से भी कम मूल्य में बेची जाय।

आशा है पाठकगण इसे जल्दी मँगाकर पढ़ेंगे, और अपने अभिप्राय से हमें परिचित करेंगे।

मुन्नीलाल थानमल

मंत्री श्री कल्याण विजय शास्त्र संग्रह समिति

जालोर (राजस्थान)

भूमिका

भारतीय धार्मिक तथा व्यावहारिक शास्त्रों में मानव-जाति का आहार क्या होना चाहिए, इस विषय की विचारणा अतिपूर्व काल से ही होती आरही है। जैन सिद्धान्त ग्रन्थ, धर्मशास्त्र पुराण, विविध स्मृतियाँ इस विचारणा के मौलिक आधार ग्रन्थ हैं।

आयुर्वेद शास्त्र, अमर निघण्टु कोश तथा पाकशास्त्र भी मानव जाति के आहार के विषय में प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ हैं, परन्तु इस विषय को स्पष्ट करने का समय अभी आया है जब कि मानव के भोजन योग्य पदार्थों के सम्बन्ध में दो मत खड़े होते हैं। अनादि काल से मानव दूध, घी तथा वनस्पति का भोजन करता आया है, फिर भी इसके सम्बन्ध में विपरीत विचार खड़े हुए हैं, अर्वाचीन विद्वानों ने अपने अपने ग्रन्थों में भोजन सम्बन्धी नवीन मान्यता का प्रचार किया है।

आज से लगभग चार वर्ष पूर्व "भगवान बुद्ध" नामक एक मराठी पुस्तक का हिन्दी भाषान्तर होकर प्रकाशित हुआ तब से जैन तथा सनातन धर्मी सम्प्रदायों में इस पुस्तक के विरोध में सर्व व्यापक विरोध की लहर फैल पड़ी, कारण यह था कि इसके एक अध्याय में तीर्थङ्कर महावीर, जैन श्रमण तथा याज्ञवल्क्यादि महर्षियों पर मांस भक्षण का आरोप लगाया गया था, फलस्वरूप पुस्तक प्रकाशक "साहित्य एकेडमी" पर चारों ओर से सभा

सामायटियों द्वारा विरोध के प्रस्ताव पत्रो तारों द्वारा पहुँचने लगे, प्रतिनिधि मण्डलोंने अधिकारियो से मिल मिलकर इस पुस्तक से उत्पन्न परिस्थिति को समझाकर इसके अन्तर्गत मास भक्षण सम्बन्धी प्रकरण को पुस्तक से हटा देने का अनुराध किया, परिणाम स्वरूप एकेडेमी के कर्णधारो ने यह आश्वासन दिया कि मास भक्षण के सम्बन्ध मे जैन विद्वानों के अभिप्रायों का नोट लगवा दिया जायगा, तथा इस पुस्तक का पुन प्रकाशन रोक किया जायगा।

एकेडेमी के उपर्युक्त आश्वासन से जो कि विरोध की लहर बाहर से शान्त हो गई, पर तु जैनों तथा ब्राह्मण-ऋषियों के पूजने वाले सनातन धर्मिया का मानसिक असन्तोष अब भी उसी प्रकार से बना हुआ है, जिसका कारण यह है कि एकेडेमी के स्वीकार करने पर भी वर्षों तक उस प्रकरण प साथ नोट नहीं लगा, न एकेडेमी के सिवा अन्य सस्था अथवा व्यक्ति उस पुस्तक को प्रका शित करे, तो उसे रोकने की कोइ व्यवस्था ही सूचित की गइ, इस दशा म "भगवान् बुद्ध" पुस्तक के सम्ब ध मे उच्चवर्णीय हिन्दुओं और जैनों का विरोध अब भी पूर्ववत् खड़ा ही है।

इस पुस्तक के विरोध मे तथा मास भक्षण सम्बन्धी उल्लेखों का समन्वय करन के लिए 'स्थानकवासी पूज्य आचाय श्री आत्मारामजी महाराज ने एक छोटीसी पुस्तिका लिखकर प्रकाशित करवाइ तथा इसी सम्प्रदाय के मुनि श्री सुशीलकुमारजी ने भी एक

छोटा टैक्ट छपवाकर समाधान करने की चेष्टा की है। परन्तु यह विषय इतना गम्भीर है कि थोडे से शब्दों तथा वाक्यों द्वारा समझाकर समाधान करना अशक्य ही नहीं, असम्भव है। यह देखकर कई जैन विद्वानों तथा मित्र मुनिवरों ने इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रदर्शित करने के लिए मुझे बार बार अनुरोध किया, यद्यपि मेरे लिए अपने प्रकृत-कार्य को रोक कर इस नये विषय में योग लगाना कठिन था, फिर भी विषय का गुरुत्व समझकर मैंने इस सम्बन्ध में कुछ लिखने का निश्चय किया, तत्सम्बन्धी साहित्य का अवगाहन कर "मानव भोज्य मीमांसा" लिखने का कार्य शुरू किया, ग्रन्थ आज से तीन वर्ष पहले ही पूरा हो चुका था, परन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ छपने में समय अधिक लगेगा, इस विचार से इसका तृतीय अध्याय मात्र जिसमें भगवान् महावीर तथा उनके श्रमणों के सम्बन्ध में मांस, पुद्गल, आमिष प्रमुख प्रयुक्त शब्दों की व्याख्या तथा समन्वय किया गया है, प्रथम प्रकाशित करने का निश्चय कर वह अध्याय प्रेस में भेज दिया गया, जिस आशय से यह अध्याय पृथक् छपवाना ठीक समझा था, वह आशय प्रेस के प्रमाद से सफल नहीं हुआ जिस काम के दो महीनों में हो जाने की आशा रक्खी थी वह काम साल भर में बड़ी मुश्किल से पूरा हुआ।

अब "मानव भोज्य मीमांसा" अपने सम्पूर्ण रूप में प्रकाशित हो रही है, इसमें कुल ६ अध्याय हैं, जिनका दिग्दर्शन निम्न प्रकार से है —

१ प्रथम अध्याय में मनुष्य जाति का भोज्य पदार्थ क्या होना चाहिए, इसकी विस्तृत विचारणा में जैन आगमों, वैदिक सिद्धांतों और वैज्ञानिक विद्वानों के अभिप्रायों के उद्धरण देकर यह सिद्ध किया है कि मनुष्य जाति सदा से ही निरामिष भोजी रही है, और रहनी चाहिये।

२ दूसरे अध्याय में वैदिक यज्ञों की चर्चा की है, ऋग्वेद कालीन यज्ञ हिंसात्मक नहीं होते थे, परन्तु पिछले समय में वैदिक निघण्टु के गुम हो जाने पर वेदों का अर्थ करने में बड़ी गड़बड़ी हुई। कई वनस्पति वाचक शब्दों को पशुवाचक मानकर याज्ञिक ब्राह्मण यज्ञों में पशु बलि देने लगे। "यजुर्वेद माध्यन्दिनी संहिता" और "शतपथ ब्राह्मण" इसी समय की कृतियां हैं, जिनमें यज्ञों में पशु बलि देने का विधान मिलता है। फिर भी आचार्य यास्क को श्री विष्णु की कृपा से "वैदिक निघण्टु" की प्राप्ति हो जाने के बाद यज्ञों में हिंसा की बाढ़ कम हो गई और पशु हिंसा केवल अष्टका श्राद्ध तथा मधुपर्क में रह गई थी, जो धीरे धीरे पौराणिक काल तक वह भी अन्तर्धान हो गई, और इसका स्थान पिष्ट के पक्वान्न और घृत गुड़ ने लिया, यह बात द्वितीय अध्याय में प्रमाणित की गई है।

३ तीसरे अध्याय में आचारांग, भगवती, निशीथाध्ययन, व्यवहार भाष्य, आवश्यक नियुक्ति आदि जैन सूत्रों में आने वाले "मंस, मच्छ, मृत, पुद्गल, आमिष, प्रणीत आहार शब्द सूत्रकाल

में किन अर्थों मे प्रयुक्त होते थे, और कालान्तर में मूल अर्थ भुला कर धीरे धीरे किन अर्थों के वाचक बन गये इस विषय का स्पष्टीकरण किया गया है, और यह सिद्ध किया गया है कि मांस, पुद्गल, आमिष आदि शब्द अति प्राचीन काल म अन्छे खाद्य पदार्थ के अर्थ म प्रयुक्त होते थे, परन्तु धीर धीरे मास भक्षण का प्रचार बढ़ने के बाद ये शब्द केवल प्राण्यङ्ग मास के अर्थ में ही रह गये हैं।

४ चतुर्थ अध्याय म निर्ग्रन्थ जैन श्रमणों का आहार, विहार दिन चर्या, तप त्याग कैसे हैं, और व कैसे निरामिषभोजी तथा अहिंसक होते हैं इन बातो का प्रामाणिक निरूपण किया गया है।

५ पचम अध्याय म वैदिक-परिव्राजक का विस्तृत निरूपण किया है, और बताया है कि वैदिक परिव्राजक कैसे अहिंसक निरामिषभोजी होते थे, प्रसगवश आरम्भ में ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ आश्रमों के धर्म नियमों का भी दिग्दर्शन कराया है।

६ छट्ठे अध्याय म मानव जाति का कुशल चाहने वाले शाक्य भिक्षु (बौद्ध साधु) की जीवन चर्या बौद्ध-सूत्रों के आधार से लिखी है, बौद्ध भिक्षु प्रारम्भ मे बहुत ही सादा और मानव जाति के लिए हितकर साधु था, यद्यपि वह गृहस्थ के घर जाकर भोजन कर लेता और विहार मठ आदि का स्वीकार भी कर लेता था। फिर भी भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण तक बौद्ध भिक्षु सघ मे इतनी दुर्बलता और शिथिलता नहीं घुसी थी, जो बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद आई। यद्यपि बौद्ध भिक्षु के मास मत्स्य ग्रहण

करने में बुद्ध ने प्रतिबन्ध नहीं लगाया था, फिर भी अधिकांश भिक्षु इन चीजों से दूर ही रहते थे। मौर्य सम्राट् अशोक के राज्याभिषेक तक व्यक्तिगत रूप से बहुतेरे भिक्षु आचार मार्ग से पतित हो चुके थे। फिर भी बौद्ध धर्म के प्रतिष्ठित आचार्य तथा भिक्षु गण बुद्ध के उपदेशानुसार अहिंसा धर्म के ही प्रतिपालक तथा उपदेशक रहे थे, बौद्ध संघ में व्यापक मांसाहार का प्रचार इस धर्म का चीन देश में प्रचार होने के बाद हुआ। परिणामस्वरूप भारतीय जनता का बौद्ध धर्म से विश्वास हटता गया, और इस धर्म को धीरे धीरे भारत राष्ट्र से विदा लेनी पड़ी।

उपर्युक्त "मानव भोज्य मीमांसा" का संक्षिप्त सार है। विशेष विवरण इसकी विषयानुक्रमणिका में देखिए।

मीमांसा में जिन जिन वैज्ञानिक विद्वानों तथा ऋषि मुनियों के मत व प्रमाण लिए गये हैं, उनके नामों की तथा जिन जिन आगमों, धर्मशास्त्रों, स्मृतियों तथा अन्यान्य ग्रन्थों के उद्धरण इस ग्रन्थ में दिए गये हैं, उन ग्रन्थों की नाम सूची भी आगे दी गई है।

ग्रन्थ का मुद्रण कार्य जयपुर के एक जैन विद्वान् के मारफत शुरू करवाया था, आशा थी कि कार्य जल्दी सुचारु रूप से संपन्न होगा, परन्तु खेद है कि निरीक्षक विद्वान् की शारीरिक अस्वस्थता तथा प्रूफ देखने वाले की असावधानी से ग्रन्थ में सम्पादन सम्बन्धी

पाच मानवों की जीवन बलि लेकर ही उक्त अप्रिय पुस्तक को दफ्नाना चाहते हैं, तो थोड़े ही समय में आप लोगों की यह इच्छा भी पूर्ण हो सकेगी।

भवदीय
कल्याण विजय
पुस्तक लेखक

अशुद्धिया अधिक प्रमाण म रह गई हैं पाठक गण अ त में दिए गये शुद्धि पत्रक के अनुसार अशुद्धियों को सुधार कर ग्र थ को पढ़ें।

अ त में हम 'साहित्य एकेडेमी' के कर्णधार श्री नेहरूजी तथा अ य अधिकारियों से आग्रह पूर्वक अनुरोध करते हैं कि "भगवान् बुद्ध" जैसी धार्मिक सम्प्रदायों को उत्तेजित करने वाली पुस्तकों को प्रकाशित करने के पहले स्थित प्रज्ञता से विचार करें, ऐसी पुस्तकों के प्रचार द्वारा भारत में मांस मत्स्यों के भोजन का प्रचार करना ही एक उद्देश्य प्रतीत होता है, परन्तु ऐसे इन घातक अधार्मिक प्रचारों से देश की कोई समस्या हल नहीं हो सकती। इतना ही नहीं कि तु अ या य सम्प्रदायों म धार्मिक असन्तोष फैलाने का परिणाम देश में अशान्ति फैलाने वाला होगा, बौद्ध धर्म का भारत से निर्वासित होने का मूल कारण बौद्धों का मांसाहार ही हुआ है, तब आप लोग मांसाहार के प्रचार से भारत में बौद्ध धर्म को पुनर्जीवित करना चाहते हैं, यह कैसी भूल है, लाखों जैनों तथा वैदिक धर्मियों ने इस पुस्तक के विरोध में आवाज पहुंचाई है, फिर भी आपके कानों की जू तक नहीं रेंगती। क्या आप यह चाहते हैं कि इस पुस्तक के सम्बन्ध में तोड़ फोड़ करने वाला बवण्डर खड़ा होने के बाद ही इसके सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय किया जायगा, मैं समझता हूँ ऐसी तूफानी क्रान्ति के लिए हमारा धार्मिक समाज कभी कदम नहीं उठायगा, हां यदि आप देश

चतुर्थ अध्याय

तीसरा अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध पाठ	पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध पाठ
ह्रास	१	८	ह्रास
चौरासा	३	४	चौरासी
तत्काल्लीन	३	१३	तत्कालीन
धर्माधर्मा विघ्न	३	१४	धर्माधर्म विघ्न
ह्रास	५	१०	ह्रास
दुप्पमा	६	६	दुष्पमा
दुप्पपदुप्पमा	६	४, ६	दुष्पमदुष्पमा
ववएहर	६	१६	ववएहर
ह्रास	१०	२१	ह्रास
उत्सर्पिणी	११	२	उत्सर्पिणी
प्रत्यक्ष	११	२०	प्राप्य
वड्ढा	१२	२	वड्ढा
परन्तु हम उन सबका अवतरण देंगे। जिसमें कि दस प्रकार के कल्प वृक्षों के नाम सूचित किये गये हैं।	१७	६, १०	परन्तु हम उन सबका अवतरण नहीं देंगे, किन्तु एक ही उद्धरण देंगे जिसमें कि दस प्रकार के कल्पवृक्षों के नाम सूचित किये गये हैं।

उवभाग ताए	१२	११	उवभोगत्ताए
तुडियका	१२	१२	तुडियगा
भ्रङ्गाङ्ग	१२	१६	भृङ्गाङ्ग
रवत्तिश्रा	१५	३	स्वत्तिश्रा
मन्न	१५	१०	सप्तम
चतुर्त	१५	१७	चतुर्थ
।	१५	१८	,
वर्गी	१६	६	वर्गों
वॉट	१६	६	याट
राज्या	१६	११	राग्य ग
हासप्रति	१६	२३	द्वासप्तति
तरुणीप्रतिकर्न	१६	२१	तरुणी प्रतिकर्म
इक्खामा	१८	८	इक्खागा
पुप्फ्फल	१८	११	पुप्फफल
पाणिधसी	१८	१५	पाणिघसी
गियदरह	१८	१८	गियदह
कुम्भकार कोशिल्य	२०	४	कुम्भकार का शिल्प
माहणशाला	२१	३	माहणशाला
क	२२	३	ब
स्तुतिबा	२२	१६	स्तुतिया
मयुक्त	२६	६	प्रयुक्त
पाटयमत्र	२६	२८	पाटयमात्र

निस्त्रिश	२७	१६	निस्त्रिंश
प्रदपै	२७	१६	प्रदेशौ ,
हे वलके	२८	५	हे वलके
पायर्स	२६	१२	पायस
शाख्यायान	३२	१७	म्राख्यायन
शतपश	३२	१८	शतपथ
श्रथरवेद	३२	१६	श्रथर्ववेद
मेधा	३५	११	मेधा
बीहियवाग्तिलभाषा	३६	८	ब्रीहियवास्तिलमाषा
अन्नपूर्णोनिषद्	४०	७	अन्नपूर्णोपनिषद्
विघातृक	४५	१६	विघातक
का	४६	६	को
रहग	५६	१६	रहेगी
देव	५७	१	देष
के, क,	५६	६	से, मं
पञ्चलेषु	६४	६	पञ्चालेषु
वैतिक	७१	१२	वैदिक
श्रत्वा	७२	१०	श्रुत्वा
सरकार	७८	११	सत्कार
क्रिया	८०	५	क्रिया
वाजपेयाश्व मेघ	७०	१७	वाजपेयाश्वमेध
मेघ	८०	१८	मेध
सर्वमेघाद्	८०	१८	सवमेधाद्

मह्मानों	८४	८	मेहमानों
अश्वमेदाधि	८४	१६	अश्वमेधादि
क्षमा	८७	१६	क्षमा
गामिल	६०	७	गोभिल
ुर्या	६४	८	कुर्या
गोमिल	६४	१३	गोभिल
पृथ्वी	६६	१६	पृथ्वी
का	६७	६	की
वया	६८	१७	वपा
चेद्रुच याद	१०३	८	चेद्व याद
कुर्यश्च	१००	१६	कुर्याच्च
भास	१०७	१६	मास
निर्वास	१०८	११	निर्यास
दृर	११३	१०	देकर
श्रथा	११३	१३	अथवा
किष्ट	११६	६	क्लिष्ट
गोपालदासजीवाभाई	११७	७	गोपालदास जीवाभाई
हाने	१२०	३	हाने
खडे	१३८	५	खडे
जाना	१४१	१६	जाने
पदार्य	१४८	५	पदार्थ
पुग्नल	१५०	२२	पुद्गल
हाथी	१५१	११	हाथी

ममुष्य	१५१	१६	मनुष्य
बक बगुला	१५२	६	बक, बगुला
कपिच्छू	१५२	११	कपिकच्छु
व्याध्र	१५२	१७	व्याघ्र
काल	१५३	१	काला
पूर्ण	१५४	७	पूर्नक
करले	१५४	१६	करके
पमण	१५५	५	समण
पटिपट्टणाणुप्पेह	१५५	७	परियट्टणाणुप्पेह
ऋप्पाणाण	१५५	११	अप्पपाणा
मासादिक	१५५	१८	मत्स्यादिक
मस	१५७	७	मस
ऋाट्ठिय	१५७	८	अट्ठिय
मं वा	१५८	३	मेवा
यद्दा	१५८	१७	यद्दा
तहप्पगार	१५६	७	तहप्पगार
पच्च	१५६	१५	यत्र
नसे	१५६	१६	उनके
स्यय्यातर	१५६	१८	शय्यातर
णञ्चाए	१६०	३	णज्जाए
द्वितीय	१६०	४	द्विविध
इसका	१६०	१०	इस प्रकार का

सावया	१८०	६	सावया
पुप्पमिप	१५०	३	पुप्पामिप
वर्धनान	१७०	४	वद्धमान
मर्दास्थि	१७६	१५	मर्दास्थि
गई	१७७	७	गई
होगे	१७८	११	होगा
धाएण	१७६	१३	घाएण
पिट्टेण सुद्दा	१८०	६	पिट्टेण सुरा
निर्याण	१८१	६	निमाण
सकीर्ण	१८३	६	सकीर्ण
अट्टिय	१८६	८	अट्ठिय
तैल	१८६	२०	तैल
नीचे	१८७	१६	नीच
०	१८६	११	मे अनुसन्धित स्थल—

निर्ग्रन्थ श्रमण उनको ग्रहण करते हैं, और इस अपेक्षा से जैन श्रमण मृत गये हैं।

अपने	२००	१२	अपने
आपस्तवीय	२००	१६	आपस्तम्बीय
हरिप्रभ	२०२	१	हरिभद्र
रसायणो	२०३	२०	रसापणो
रसायण	२०४	१	रसापण
रसायणे	२०४	२	रसापणे
रसायण	२०४	४	रसापण

अश्वमेघ	२ ४	४	अश्वमेध
प्रायमज्ञ	२०८	१४	प्रापयज्ञ
अतिारक्त	२०८	२०	अतिरिक्त
कलिक	२११	१४	कुलिक
धम्मानुग्गहो	२१९	११	धम्मानुग्गहो
मज्झम निकाय	२१७	११	मज्झिम निकाय
निम्नलिखित	२१७	१३	निम्नलिखित
धम्मदायाद्	२१७	१५,१६,१७,	धम्मदाया
मैं भीलों का दशा	२१८	१३	मैं भी लोका दशा
धर्म क	२१८	१३	आमिष क
मज्मिम	२१५	१	मज्झिम
०	२२०	८	म अनुसम्धित
			क्षुधा के अनुसार जितन की आवश्यकता थी उतना आहार लिया था।
मूचन	२२२	१८	सूचन
कैसा	२०३	८	कैसी
जेन १	२२६	३	जैन
करतमपि	२२७	२	करतपि
स्थानीय	२२७	७	स्थापनीय
दानाश्रा	२२७	१६	दाणाओ
कुर्यन्तमप्यर्थ	२२७	२१	कुर्वन्तमप्यर्च
दाता	२२६	२	होती

पुत्फेसु	२२६	१७	पुप्फेसु
इस	२३०	१६	D
मुठियप्पाणा	२३१	२	मुट्ठियप्पाणा
लिउनायर	२३१	१८	मिज्जायर
श्रास दीपलिय	२३१	१४	आसन्दी पालियं
श्रासनन्दीय	३२	१८	आसन्दी
पवति	२३३	२०	पवति
सश्रया	२३३	२१	सजया
पासीय	२३८	१८	पासीय
कुन	२३८	१	कुन्द
दूसका	८	१	दसका
पइय	२३६	४	पईय
पुरियट्टा	२३६	५	पुरियट्टा
काम्पिल्प	२३६	१४	काम्पिल्य
पारिश्रा	२४३	५	चरिश्रा
पूर्वेयर	४५	१४	पूर्वधरों
गुणया	२४७	८	गुणणय
माणाया	२४७	८	माणाश्रो
तिपपत्ति	२४७	१०	तिप्पत्ति
श्रमण का पात्र	२४७	१२	श्रमण को दो पात्र
सूत्र	२४८	३	सूत्र में
पटलह	२४८	२०	पटलक
एक्ककप्पगुश्रो	२४६	१६	एक्ककप्पजुश्रो
दवालसहा	२५०	१	दुवालसहा

१० पक्तिका अवशेषपाठ २५०   १० और उसमें क्रमशः एक दो तीन प्रावरण बढ़ाने से तीन० ।

१° पंक्ति का अवशेष पाठ	२५०	१°	उपधि दस ग्यारह तथा बारह
काम	२५१	२०	काम में
औपिक	२५१	१	औधिक
मुत्ती	२५१	११	मुत्ती
मद्दवे	२५१	१२	मद्दवे
निर्लोभत	२५१	१६	निर्लोभता
चक्रिस्वदिव	२५२	५	चक्खिदिय
घाणि	२५२	५	घाणि
व्यानता	२५३	१२	व्यासनता
"	२५३	१३	"
मास	२५४	३	माग
भिक्ख	२५४	११	भिक्खू
भिक्खूणी	२५४	११	भिक्खुणि
पडिवाये	२५४	१८	पडियाये
सेज्माई	२५४	"	सेज्जाइ
इक्खाग	२५४	१४	इक्खाग
रकलकुलाणि	२५४	१६	रक्खगकुलाणि
अन्नतरेसु	२५४	१६	अयपतरेसु
भद	२५४	१०	भदु
शौल्ककोहाग	२५५	३	शौल्क
पुगाव	२५६	१	पुग्गल
धहु उज्मुय	२५६	३	बहु उज्झिय
जिसके	२५७	५	D
निवचेय	२५८	३	निव्वयेय
कम्मम्मि	२५८	४	कज्जमि

म विद्याका	३८६	६	मविष्याश का
भति	३६०	२१	मृति
मुस्त्वा	३६३	१०	मुक्त्वा
समाभन्	३६४	१७	ममाभयन्
छ्द्ध	३६४	१८	छाद्य
मथलो	३६६	१६	मचेला
सपत्त	३६६	२०	सचेल
चरन्याधुकरी	३६७	१३	चरम्माधुकरी
प्रकुपत्ति	३६८	१०	प्रकुपित
पञ्चशग्रकम्	४०१	१६	पचधसक्रम
समूह्	४०२	२१	समूह से
मेघातिथी	४०३	१	मेधातिथी
शात्र	४०४	१०	शात्रु
प्रायश्चित्त	४०६	१	प्रायश्चित्ति
बहट्टच	४०६	१७	बह्व च
मरू	४०६	१३	मेल
मूद से	४११	१	मूद उससे
नायक	४१४	१०	नामक
करना	४१५	१३	कराना
मह्	४१७	१२	महा
काल	४१७	६	काम
दुलम्य	४१८	१५	दुलभ

माणिनां	४१६	६	माणिना
नुसै	४२०	१५	राक्षसै
शार्दू न	४२१	६	शार्दूल
भूयत	४२१	१०	भूयेव
प्र.ां	४२२	८	नहीं
अचलक	४२५	७	अचेलक
प्रथक्कारण	३३४	६	पृथक्करण
अष्टोत्तर	४३६	११	अठहत्तर
अप	४४०	१	अपने
भक्षण	४४०	१२	भक्षण
इशा	४४६	६	ईशा
माहियान	४४५	२०	फाहियान
इशा	४४६	१२	ईसा
इशा	४४८	१३	ईसा
इशा	४५०	१०	ईसा
च द्रायव	४५०	२१	च द्रयान
स्वीकार का	४६६	३	स्वीकारने का
जिसकी	४६६	२	जिसको
काञ्ची	४६७	३	काजी
कमल में	४६८	१०	कमल के
गक्रद्रति	४७०	२	गच्छति
यावरेसु	४७०	१४	यावरसु

धातति	४७०	१५	धातवि
सशट	४७१	७	सद्दा
सब्भूतेसु	४७१	११	सब्बभूतेसु
पूर्णकश्यप	४७३	११	पूरण कस्सप
म्हाए ते	४७३	२०	माय तं
परियज्ञयति	४७८	२०	परियज्जवति
ईशा	४८०	१०	ईसा
एगणु	३८०	११	नायु
पाडणति त	४८३	२	पाडणति तं
प्राप्त हैं	४८४	७	प्राप्त होत हैं
क्याचाम	४८८	१	श्याम
श्रवद्य	४६१	६	अनवद्य
उपाधि	४६२	५	उपधि
निरूपण जन	४६२	६	निरूपण जैन
रजहरण	४६२	८	रजोहरण
बाहर	४६५	११	बाराहिन्द
देने	४६८	६	देने को
सूकर या मद्दव को गड़ा	४६८	१३	सूकर मद्दव को०
पात्र म	४६६	५	पात्र में और अन्य प्रणीत भिक्षु मघ के पात्र म
था	५००	४	थी।

मानव भोज्य मीमांसा

प्रणम्य परया भक्त्या, वर्धमानं जिनेश्वरम्।
मानवाशन-मीमांसां कुर्वे शास्त्रवचोऽनुगाम् ॥१॥

अर्थ—परम भक्ति पूर्वक श्री वर्धमान जिनेश्वर को नमस्कार करके, शास्त्रीय वचनों का अनुगमन करने वाली "मानव भोज्य मीमांसा" को करता हूँ।

प्रथम अध्याय

(१)

मानव प्राकृतिक भोजन

जैन-वैदिक-विज्ञान, प्रमाणैः कृत-साधनम्।
मानव-प्रकृति-हृद्यं, भोजनं कीर्त्यतेऽनघम् ॥१॥

अर्थ—जैन, वैदिक, वैज्ञानिक, प्रमाणों से निर्णीत इसमें मानव प्रकृति के योग्य उत्तम भोजन का निरूपण किया जाता है।

जैन सिद्धान्तानुसार मनुष्य का आहार

काल परिभाषा

"मनुष्य" यह नाम मनुशब्द से बना है, मनु का अपत्य अर्थात्—सन्तान मानव कहलाता है।

जैन सिद्धान्त के अनुसार मानव जाति का ह्रास और विकास होता ही रहता है। जैनदर्शन के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश कभी नहीं होता, अमुक काल में प्रत्येक प्राणिजाति की उन्नति और उसके विपरीत काल में ह्रास अवश्य होता है, परन्तु जैनशास्त्र सर्वथा सृष्टि का प्रलय नहीं मानता, न असत् से उत्पत्ति ही मानता है। जैन-मतानुसार पृथ्वी के निश्चित भूभागों में रहने वाले मनुष्यादि प्राणियों के शरीर आयुष्य आदि भाव सदा समान रहते हैं, तब अमुक क्षेत्रों में उन के शरीर आयुष्य आदि, घटते-बढ़ते रहते हैं।

भारतवर्ष उन क्षेत्रों में से एक है, जिनमें कालचक्र के पलटने से प्राणियों के शरीर आयुष्य आदि का मान पलटता है। जैन-परिभाषानुसार वर्त्तमान समय अवसर्पिणी समा है, इसका प्रथमारक सुषमसुषमा, द्वितीय सुषमा, तृतीय सुषमदुष्षमा, चतुर्थ दुष्षम सुषमा, पांचमा दुष्षमा, और छठा दुष्षमदुष्षमा नाम के ये छह अरक हैं। प्रथमारक चार कोटा कोटि सागरोपम, दूसरा तीन कोटा कोटि, तीसरा दो कोटा कोटि सागरोपम माना गया है, चौथा बियालीस (४२) हजार वर्ष न्यून एक कोटा कोटी

सागरोपम का, पाँचवाँ इक्कीस (२१) हजार वर्ष का और छठा भी इक्कीस (२१) हजार वर्ष का होता है।

वर्तमान समय अवसर्पिणी समा का पञ्चम अरक है इसके अब तक चौबीस सौ चौरासी वर्ष बीत चुके हैं। समय हानिशील होने के कारण प्रतिदिन प्रत्येक पदार्थ में से सत्त्व घटता रहेगा, चतुर्थ और पञ्चम अरक का भगवान महावीर ने सभा के सामने जो वर्णन किया था, उसे हम यहां उद्धृत करते हैं।

आपने कहा—तीर्थङ्करों के समय में यह भारतवर्ष धन धान्य से समृद्ध, नगर-ग्रामों से व्याप्त स्वर्ग-सदृश होता है। तत्कालीन ग्राम नगर-समान, नगर देवलोक-समान, कौटुम्बिक राजा-तुल्य, और राजा कुबेर-तुल्य समृद्ध होते हैं। उस समय आचार्य चन्द्र समान, माता-पिता देवता समान, सास माता समान, श्वसुर पिता समान होते हैं। तत्कालीन जन-समाज धर्म धर्मा विज्ञ विनीत, सत्य शौच सम्पन्न, देव गुरु-पूजक और स्वदार संतोषी होता है। विज्ञान वेत्ताओं की कदर होती है, कुल, शील तथा विज्ञान का मूल्य होता है। लोग इति, उपद्रव, भय, और शोक से मुक्त होते हैं। राजा जिन भक्त होते हैं और जैन धर्म विरोधी बहुधा अपमानित होते हैं।

यह सब आज तक था। अब जब चौपन उत्तम पुरुष व्यतीत हो जायगे, और केवली, मन पर्ययज्ञानी, अवधिज्ञानी तथा श्रुतकेवली इन सब का विरह हो जायगा, तब भारतवर्ष की दशा इसके विपरीत होती जायगी। प्रतिदिन समाज-समाज

क्रोधादि कषाय विष से विवेक हीन बनते जायेंगे, प्रबल जल प्रवाह के आगे जैसे गढ़ छिन्न-भिन्न हो जाता है, वैसे ही स्वच्छन्द लोक प्रवाह के आगे हितकर मर्यादायें छिन्न-भिन्न हो जायगी। ज्यों-ज्यों समय बीतता जायगा जन समाज दया दान, सत्य हीन और कुतीर्थिकों से मोहित होकर अधिकाधिक अधर्मशील होता जायगा।

उस समय ग्राम श्मशान तुल्य, नगर प्रेत-लोक-सदृश, भद्रजन दास समान और राजा लोग यमदण्ड समान होंगे। लोभी राजा अपने सेवकों को पकड़ेंगे और सेवक नागरिकों को। इस प्रकार मत्स्यों की तरह दुर्बल सबलों से सताये जायेंगे। जो अन्त में हैं, वे मध्य में और मध्य में हैं, वे अन्त में प्रत्यन्त होंगे। बिना पतवार के नाव की तरह देश डोलते रहेंगे। चोर धन लूटेंगे। राजा करों से राष्ट्र को उत्पीड़ित करेंगे और न्याया-धिकारी रिश्वतखोरी में तत्पर रहेंगे। जन समाज स्वजन-विरोधी स्वार्थप्रिय, परोपकार-निरपेक्ष, और अविचारित भाषी होगा। बहुधा उनके वचन असार होंगे। मनुष्यों की धन धान्य विषयक तृष्णा कभी शान्त नहीं होगी। वे ससार निमग्न, दाक्षिण्य हीन, निर्लज्ज और धर्म-श्रवण में प्रमादी होंगे।

दुष्पमा काल के शिष्य गुरुओं की सेवा नहीं करेंगे, और गुरु-शिष्यों को शास्त्र का शिक्षण नहीं देंगे। गुरुकुल वास की मर्यादा उठ जायगी। लोगों की बुद्धि धर्म में शिथिल हो जायगी। देव पृथिवी पर दृष्टिगोचर नहीं होंगे। पुत्र माता-पिता की

अवज्ञा करेंगे और कटुवचन सुनावेंगे। हास्य, भाषण, कटाक्ष और सविलास निरीक्षण से निलज्ज कुलवधुएं वेश्याओं का शिक्षक देंगी। श्रावक, श्राविका और दान शील तप भावात्मक धर्म की हानि होगी।

थोडे से कारण से श्रमणों और श्रमणियों में झगड़े होंगे। धर्म में शठता और चापलूसी का प्रवेश होगा। झूठ तोल माप प्रचलित होंगे। बहुधा दुर्जन जीतेंगे, सज्जन दुःख पावेंगे।

विद्या, मन्त्र, तन्त्र, औषधि, मणि, पुष्प, फल, रस रूप, आयुष्य, ऋद्धि, आकृति, ऊँचाई और धर्म इन सब उत्तम पदार्थों का ह्रास होगा, और दुष्षम दुष्षमा नामक छठे आरे में तो इनकी अत्यन्त ही हीनता हो जायगी।

प्रतिदिन क्षीणता को प्राप्त होते हुए, इस लोक में कृष्ण पक्ष में चन्द्र की तरह जो मनुष्य अपना जीवन धार्मिक बना कर धर्म में व्यतीत करेंगे उन्हीं का जन्म सफल होगा।

इस हानिशील दुष्षमा समय के अन्त में—दुप्पसह आचार्य, फल्गुश्री साध्वी, नागिल श्रावक, और सत्यश्री श्राविका, इन चार मनुष्यों का चतुर्विध संघ रहेगा। विमलवाहन राजा और सुमुख अमात्य दुष्षमा कालीन भारतवर्ष के अंतिम राजा और अमात्य होंगे।

"दुष्षमा के अन्त में मनुष्य का शरीर दो हाथ-भर और आयुष्य बीस (२) वर्ष का होगा। दुष्षमा के अंतिम दिन पूर्वाह्न

म चारित्र धर्म का, मध्याह्न में राज धर्म का और अपराह्न में अग्नि का विच्छेद होगा।

इक्कीस हजार वर्ष का दुष्पमाकाल पूरा होकर इतने ही वर्षों का दुष्पमदुष्पमा नामक छठा आरा लगेगा। तब धर्म नीति, राजनीति आदि के अभाव में लोग अनाथ होंगे। इस दुष्पम-दुष्पमा अरक के स्वरूप के सम्बन्ध में इन्द्रभूति गौतम के प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने इसका जो वर्णन किया है, और उस समय के मनुष्य की दशा का जो चित्र खींचा है, वह भगवती सूत्र के सातवें शतक के छठे उद्देशक से हम यहां अक्षरशः उद्धृत करते हैं।

इन्द्रभूति गौतम ने पूछा—भगवन्! अवसर्पिणी समा के दुष्पम दुष्पमा अरक के पूर्णरूप से लग जाने पर जम्बूद्वीप के भारतवर्ष की क्या अवस्था होगी।

महावीर—गौतम! उस समय का भारत हाहाकार, आर्तनाद और कोलाहलमय होगा। विषमकाल के प्रभाव से कठोर, भयङ्कर और असह्य हवा के ववण्डर उठेंगे, और आंधियां चलेंगी जिनसे सब दिशाएं धूमिल, रजस्वला और अन्धकार मय हो जायेंगी। समय की रूक्षता के वश ऋतुएं विकृत हो जायेंगी, चन्द्र अधिक शीत फैंकेंगे, सूर्य अधिक गर्मी करेंगे।

उस समय जोरदार बिजलियां चमकेंगी, और प्रचण्डपवन के साथ मूसलधार पानी बरसेगा, जिसका जल अरस, विरस, खारा,

मड़ा, विषैला और तेजाव सा तेज होगा। उससे निबाह न होकर विविध-व्याधि-वेदनाओं की उत्पत्ति होगी।

उन मेघों के जल से भारत के ग्रामों और नगरों के मनुष्यों और जानवरों का, आकाश में उड़ने वाले पक्षियों का, ग्राम्य तथा स्थावर त्रस स्थावर प्राणियों का, और वर्त्तमान वनस्पतियों का विनाश हो जायगा। एक वैताढ्य पर्वत को छोड़ कर सभी पहाड़ पहाड़ियां वज्रपातों से खण्ड विखण्ड हो जायेंगी। गंगा और सिंधु को छोड़ कर शेष नदी, नाले, सरोवर, आदि ऊँचे नीचे स्थल समतल हो जायगे।

गौतम—भगवन्! तब भारतभूमि की क्या दशा होगी?

महावीर—गौतम! उस समय भारतवर्ष की भूमि अंगार स्वरूप, मुंमुर स्वरूप, भस्मस्वरूप, तपे हुए तवे और जलती हुई आग-सी-गर्म, मरुस्थली की सी वालुका मयी, और छिछली भील सी काइ (सेवाल) कीचड़ से दुगम होगी।

गौतम-भगवन्! तत्कालीन भारतवर्ष का मनुष्य समाज कैसा होगा?

महावीर—गौतम! तत्कालीन भारतवर्ष के मनुष्यों की दशा बड़ी दयनीय होगी। विरूप, विवर्ण, दुर्गन्ध, दुस्पर्श और विरस शरीर वाले होने से वे अप्रिय अदर्शनीय होंगे। वे हीनस्वर, दीनस्वर, अनिष्टस्वर, अनादेय वचन, अविश्वसनीय, निर्लज्ज, कपटपटु, ` ` हिंसक, वैरशील, अमर्याद, अकार्यरत, और

अविनीत होंगे। उनके नख बड़, केश कपिल, रंग श्याम शिर बेडौल, और शरीर नसों से लिपटा हुआ सा प्रतीत होने के कारण अदर्शनीय होगा।

उनके अंगोपाङ्ग वलों से सकुचित, मस्तक खुले खड्डहर से, आख और नाक टेढ़ी, तथा मुख बुड्ढों के से विरल दन्त बलों से भीषण होंगे।

उनके शरीर पामाग्रस्त, तीक्ष्णनखों से विक्षत, दाद से कठिन फटी चमड़ी वाले और दागों से चितकबरे होंगे। उनकी शारीरिक रचना निर्बल, आकार भौंडा और बैठने उठने खाने पीने की क्रियायें निन्दनीय होंगी। उनके शरीर विविध व्याधि पीड़ित, गति स्खलनयुक्त और चेष्टायें विकृत होंगी।

वे उत्साहहीन, सत्वहीन, तेजोहीन, शीतदेह, उष्णदेह, मलिनदेह, क्रोध, मान, माया से भरे लोभी, दुःखग्रस्त, बहुधा धर्म सज्ञा हीन और सम्यक्त्व से भ्रष्ट होंगे। उनके शरीर हाथ भर के और उम्र सोलह अथवा बीस वर्ष की होगी।

वे पुत्र पौत्रादि बहुल परिवार-युक्त होंगे। उनकी संख्या परिमित और वे गंगा सिन्धु महानदियों के तटाश्रित वैताढ्य पर्वत के बहत्तर बिलों में निवास करेंगे।

गौतम—भगवन्! उन मनुष्यों का आहार क्या होगा।

महावीर—गौतम! उस समय गंगा सिन्धु महानदियों का प्रवाह रथ मार्ग जितना चौड़ा होगा। उनकी गहराई चक्रनाभि

से अधिक न होगी। उनका जल मच्छकच्छपादि जलचर जीवों से व्याप्त होगा। जब सूर्योदय और सूर्यास्त का समय होगा, वे मनुष्य अपने अपने बिलों से निकलकर नदियों में से मत्स्यादि जीवों को स्थल में ले आयेंगे, और धूप में पके भुने उन जलचरों का आहार करेंगे। दुष्षम-दुष्षमा के भारतीय मानवों की जीवनचर्या इक्कीस हजार वर्षों तक इसी प्रकार चलती रहेगी।

गौतम—भगवन्! वे निश्शील निर्गुण, निर्मर्याद, त्याग-प्रतहीन, बहुधा मांसाहारी और मत्स्याहारी मर कर कहाँ जायेंगे? कहाँ उत्पन्न होंगे?

महावीर—गौतम! वे बहुधा नारक और तिर्यग्योनियों में उत्पन्न होंगे।

अवसर्पिणी काल के दुष्षम दुष्षमारक के बाद उत्सर्पिणी का इसीनाम का प्रथम आरा लगेगा, और इक्कीस हजार वर्ष तक भारत की वही दशा रहेगी जो छठे आरे में थी।

उत्सर्पिणी का प्रथम आरा समाप्त होकर दूसरा लगेगा, तब फिर शुभ समय का आरम्भ होगा। पहले पुष्कर संवर्त्तक नाम का मेघ बरसेगा जिससे भूमि का ताप दूर होगा। फिर क्षीर मेघ बरसेगा, जिससे धान्य की उत्पत्ति होगी। तीसरा घृत मेघ बरस कर पदार्थों में चिकनाहट उत्पन्न करेगा। चौथा अमृत मेघ बरसेगा तब नाना प्रकार के रस, वीर्यवाली औषधियां उत्पन्न होंगी और अन्त में रस मेघ बरस कर पृथिवी आदि में रस की उत्पत्ति करेगा। ये पांचों ही मेघ सात सात दिन तक निरन्तर

बरसेंगे, जिससे दग्ध प्राय बनी हुई इस भारत भूमि पर हरियाली, वृक्ष, लता, औषधि आदि प्रकट होंगे। भूमि की इस समृद्धि को देखकर मनुष्य गुफा-बिलों से बाहर आकर मैदानों में बसेंगे, और मांसाहार को छोड़कर वनस्पति भाजी बनेंगे। प्रतिदिन उनमें रूप, रंग, बुद्धि आयुष्य की वृद्धि होगी और उत्सर्पिणी के दुष्षमा समय के अन्त तक वे पर्याप्त सभ्य बन जायेंगे। वे अपना सामाजिक संगठन करेंगे। ग्राम नगर बसा कर रहेंगे। घोड़े हाथी, बैल, आदि का संग्रह करना सीखेंगे। पढ़ना, लिखना, शिल्पकला आदि का प्रचार होगा। अग्नि के प्रकट होने पर भोजन पकाना आदि विज्ञान प्रकट होंगे। दुष्षमा के बाद दुष्षमसुषमा नामक तृतीयारक प्रारम्भ होगा जब कि एक एक कर के फिर चौबीस तीर्थङ्कर होंगे और तीर्थ प्रवर्त्तन कर भारत वर्ष में धर्म का प्रचार करेंगे।

उत्सर्पिणी के दुष्षमसुषमा के बाद क्रमशः सुषमदुष्षमा, सुषमा, और सुषम सुषमा नामक चौथा पाचवा और छट्टा ये तीन आरे होंगे। इनमें सुषमदुष्षमा के आदि भाग में फिर धर्म-कर्म का विच्छेद हो जायगा। तब जीवों के बड़े बड़े शरीर और बड़े बड़े आयुष्य होंगे। वे वनों में रहेंगे और दिव्य वनस्पतियों से अपना जीवन निर्वाह करेंगे।

फिर अवसर्पिणी काल लगेगा और प्रत्येक वस्तु का ह्रास होने लगेगा।

इस प्रकार अनन्त उत्सर्पिणियां व अवसर्पिणियां इस संसार में व्यतीत होगई और होंगी। जिन जीवों ने संसार प्रवाह से निकल कर वास्तविक धर्म का आराधन किया उन्होंने इस कालचक्र को पार कर स्वस्वरूप को प्राप्त किया और करेंगे।

अवसर्पिणी समा के प्रारम्भ में मनुष्य का आहार

अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी के आद्यन्त आरकों में मनुष्य विद्या व्यवहार धार्मिक आचारों से हीन होंगे, फिर भी उनमें क्रोध मान कपट लोभ आदि दुर्गुण बहुत कम होंगे, भद्रपरिणामी और अनुशासन को मानने वाले होंगे। उनमें जो विशेष समझदार और सत्कारी मनुष्य होगा वह उनको अनुशासन में रक्खेगा, उनके लिए नीति नियम बनायगा और वे उन नीति नियमों का पालन करेंगे। जैन परिभाषा में नीतिनियमों को बनाने वाले उस विशिष्ट पुरुष को कुलकर नाम से निर्दिष्ट किया है। वैदिक ऋषि कुलकर को मनुनाम से सम्बोधित करते हैं। विद्या-व्यवहार शून्य प्राचीन मनुष्य प्राणी कुलकरों अथवा मनुओं द्वारा अनुशासित शिक्षित होने के कारण वे मनुष्य कहलायेंगे।

मनुष्य के आहार के विषयमें सूत्र कृताङ्ग के आहार-परिज्ञा नाध्ययन में नीचे लिखे अनुसार उल्लेख मिलता है।

डहरा समाणा कखीर, सप्पि[१] अणु पुव्वेण ।
वुड्ढा ओयण तसथावर पाणे,[२] ते जीवा आहारेंति ॥

---

१ वर्तमान काल में भी बच्चे को जन्म से ही दूध तथा सर्पिष् पान में लेकर बच्चे के मुंह में डाला जाता है इस से सिद्ध होता है मनुष्य का मुख्य भा॰य पदार्थ दुग्ध घृत है, परन्तु ए पदार्थ जीवन पर्यन्त सभी के लिये प्राय नहीं अत बड़ा होने पर उसको अन्न खाना सिखाया जाता है।

२ यह सूत्र केवल युगलिक मनुष्यों के लिए आहार का विधान नहीं करता आर्य अनार्य म्लेच्छ अम्लेच्छ आदि सम्पूर्ण मानव जाति के आहार

अर्थात्—शिशुअवस्था में मनुष्य दुग्ध घृत का आहार करता है, बड़ा होने पर वह ओदनादि अन्न का आहार लेता है और त्रस तथा स्थावर प्राणियों को भी आहार के रूप में ग्रहण करता है।

कुलकर कालीन युगलिक मनुष्यों के आहार

युगलिक मनुष्य बहुधा वनों उद्यानों में रहते, और विविध वृक्षों के फल आदि का आहार करके अपना जीवन निर्वाह करते हैं। उस काल में भारत भूमि में दस प्रकार के वृक्ष पर्याप्त परिमाण में होते थे। दशविध कल्प वृक्षों के विषय में अनेक जैन सूत्रों में विस्तार से लिखा है, परन्तु हम उन सब का अवतरण देंगे। जिस में कि इस प्रकार के कल्पवृक्षों के नाम सूचित किये गये हैं।

"अकम्म भूमियाण मणुआण दसविहा रुक्खा उवभोगत्ताए उवत्थिया पन्नत्ता, त जहा—

मतगयाय भिगा, तुडियगा दीव जोइ चित्त गा ॥
चित्तरसा मणिअगा, गेहागारा अनिगिणाय ॥

अर्थात्—अकर्म भूमक मनुष्यों के उपभोगार्थ दस प्रकार के वृक्ष उपस्थित रहना बताया है। जैसे—

मदाङ्ग १, भृङ्गाङ्ग २, त्रुटिताङ्ग ३, दीपाङ्ग ४, ज्योतिरङ्ग ५, चित्राङ्ग ६, चित्ररसाङ्ग ७, मण्यङ्ग ८, गृहाकार ९ अनाग्याङ्ग १०,—

का निर्देश करता है। अत त्रस प्राणियों का भी आहारके रूप में निर्देश किया गया है कि अनार्य असभ्य जाति के मनुष्यों में सूत्र निर्माण काल से पहले ही चलते फिरते प्राणियों के मांस आदि आहार के रूप में ग्रहण करने का प्रचार हो चुका था।

नामों का विशेष विवरण—१ मद्याङ्ग वृक्षों से अकमक भूमिक मनुष्यों को मादक रस की प्राप्ति होती थी। २ भृङ्गाङ्ग वृक्षों से भङ्गार कलश आदि बर्तनों का काम होता था। ३ त्रुटिताङ्ग वृक्षों से वादित्र संगीत का आनन्द मिलता था। ४ दीपाङ्ग वृक्षों से दीपक का-सा प्रकाश मिलता था। ५ ज्योतिरङ्ग वृक्षों से दूर तक जलने वाली ज्योति निकलती थी। ६ चित्राङ्ग वृक्षों से रंग बे रङ्गे पुष्पमाल्यों का आनन्द लेते थे। ७ चित्ररसाङ्ग वृक्षों से षड्रसमय भोज्य पदार्थों की प्राप्ति होती थी ८। मण्यङ्ग वृक्षों से मणिरत्न सुवर्णादिमय आभूषणों का लाभ होता था। ९ गेह कार वृक्ष उनको रहने के लिए घर का काम देते थे। और १० अनग्न वृक्ष उनका शरीर ढाँकने के लिए वस्त्र का काम करते थे।

वर्त्तमान अवसर्पिणी समा के सप्त कुलकर

उपर के निरूपण में हमने अनेक स्थानों पर कुलकर शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु इनके व्यक्तिगत नाम तथा इनकी दण्ड नीति के विषय में कोई स्पष्टी करण नहीं किया। अत यहां पर कुलकरों की संख्या, उनके नाम तथा उनकी दण्डनीति के विषय में समवायाङ्ग तथा आवश्यक निर्युक्ति के आधार पर दिया हुआ उनका स्वरूप संक्षेप में निरूपित करेंगे।—

समवायाङ्ग सूत्रकार कहते हैं —

"जम्बुद्दीवेण भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए समए सत्त कुलगराहोत्था, त जहा-पढमेत्थ विमल वाहण, चक्खुम जसम चउत्थ मभिचन्दे। तत्तोय पसेणईए, मरुदेव चेव नाभीय" ॥ ३ ॥

अर्थात्—जम्बू द्वीप के भारत वर्ष में अवसर्पिणी समा में सात कुलकर हुए । वे इस प्रकार—

प्रथम—विमलवाहन १, चक्षुष्मान् २, यशस्वी ३, चौथा अभिचन्द ४, उसके बाद पाँचवाँ प्रसेनजित् ५, छठा मरुदेव ६ और सातवाँ नाभि ।'

कुलकरों की दण्ड नीति

कुलकरों की दण्डनीति के विषय में आवश्यक सूत्र की नियुक्ति में इस प्रकार लिखते हैं ।—

"हक्कारे मक्कारे धिक्कारे चेव, दण्डनीइओ ।
वुच्छं तासि विसेस, जहक्कम्म आणु पुव्वीए ॥ १६०
पढम विइयाण पढमा, तइय चउत्थाण अभिनवाबीया ।
पचम छट्ठस्स य, सत्तमस्स तइया अभिनवाउ ॥१६८॥

टिप्पणी—१ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र में उपर्युक्त सात ७ कुलकरों के अतिरिक्त आठ नाम और मिला कर कुल पन्द्रह १५ कुलकर बताये हैं । जो निम्न लिखित पाठ से ज्ञात होगा ।—

तीसगा समाए पच्छिमेति भाए पलिओव मट्ठभागावसेसे एत्थणं इमे पण्णरस कुलगरा समुप्पज्जित्था, तजहा—

सुमई १ पडिस्सुई २ सीमंकरे ३ सीमधरे ४, खेमंकरे ५ खेमधरे ६ विमलवाहणे ७ चक्खुमं ८ जसमं ९, अभिचन्दे १०, चन्दाभे ११ पसेणइ १२ मरुदेवे १३, णाभि १४ उसभे १५ त्ति' ।

(सूत्र २८) पृ १३२

आसा हत्थी गावो, गहिआइ रज्जसगहं निमित्त ।
घित्तूण एवमाई, चउव्विह सगहं कुणई ॥२०१॥
उग्गा भोगा रायण्ण, खत्तिया सगहो भवे चउहा ।
आरक्खि गुरु वयसा, सेसा जे खत्तिया तेउ ॥२०२॥

अर्थात—हा-कार मा-कार, धिक्-कार, ये तीन प्रकार की कुलकर कालीन दण्डनीतियाँ थीं। जिन का अनुक्रम से विशेष विवरण करूँगा। प्रथम तथा द्वितीय कुलकरों के समय मे प्रथमा हा कार नाम की दण्डनीति थी। तृतीय चतुर्थ कुलकरों के शासन-काल में मा कार नाम की दण्डनीति चलती थी। तब पञ्चम षष्ठ और सप्त कुलकरा के समय म धिक्कार नीति का प्रयोग होता था। तात्पर्य यह है कि, प्रथम द्वितीय कुलकर कालीन मनुष्य बहुत ही सीधे और अल्प-कषायी होते थे, इस कारण उनकी कुछ भी भूल होने पर कुलकर उन को 'हा" इस प्रकार कहते और वे बड़ा भारी दण्ड समझकर फिर कोई अपराध न करते थे, परन्तु समय बीतने के साथ साथ मनुष्यों की भावनायें कुछ कठोर होती गई, परिणाम स्वरूप प्रथमदण्डनीति का असर कम होने लगा। तब तृतीय चतुर्त कुलकरों ने द्वितीय नीति का अवलम्बन लिया, और अपराधी मनुष्यों को "मा'। इस प्रकार स्पष्ट रूप से वर्जित कार्य करने का निषेध करना पड़ता था। परन्तु समयान्तर में यह नीति प्रभाव-हीन हो गयी। फलत पञ्चम षष्ठ, सप्तम कुलकरों को "धिकार" नीति का आधार

लेना पड़ा। व किसी भी अपराधी मनुष्य को धिक्कारते, तब वह अपने को दण्डित समझता था।

(अंतिम कुलकर नाभि ने अपने पिछले जीवन में कुलकर का कार्यभार अपने पुत्र ऋषभ पर छोड़ दिया था। ऋषभ नाभि से विशेष ज्ञानी थे, अतः उन्होंने मनुष्य समाज की विशेष व्यवस्था के लिए) घोड़े, हाथी, गाय आदि को पकड़वा कर राज्याङ्गों का संग्रह किया और इस प्रकार उपयोगी पशुओं को पकड़वा कर चतुर्विध राज्योपयोगी अङ्गों का संग्रह किया। इसी प्रकार मनुष्यों को भी चार वर्गों में बाँट कर उग्र, भोग, राजन्य, और क्षत्रिय इन नामों से सम्बोधित किया। उग्रों को उन्हों ने नगर रक्षा का काम सौंपा, भोगों को अपना गुरु स्थानीय और राजन्यों को मित्र स्थानीय माना। शेष जो रहे वे क्षत्रिय नाम से प्रसिद्ध हुए।—

ऋषभ कुलकर ने अपने पुत्र भरत आदि को पुरुष योग्य बहत्तर कलाओं का शिक्षण दिया, जिनका नाम निर्देश नीचे के अनुसार है।

"लेख (लिपि) १, गणित २, रूप ३, नाट्य ४ गीत ५, वादन ६, स्वर गत ७, पुष्करगत ८, समताल ६, द्यूत १०, जनवाद ११, पोक्खच्च १२, अष्टापद १३, दग मृत्तिका १४, अन्नविधि १५, पानविधि १६, वस्त्रविधि १७, शयनविधि १८, आर्या १६, प्रहेलिका २०, मागधिका २१, गाथा २२, श्लोक २३, गंधयुक्ति २४, मधुसिक्थ २५, आभरण विधि २६, तरुणीप्रतिकर्म २७, स्त्री लक्षण २८, पुरुष लक्षण २६, अश्व लक्षण ३०, गज लक्षण ३१,

वृषभ लक्षण ३२, कुर्कुट लक्षण ३३, मय लक्षण ३४ चक्र लक्षण ३५, छत्रलक्षण ३६, दण्ड लक्षण ३७, असि लक्षण ३८ मणि लक्षण ३६, काकणी लक्षण ४० चर्म लक्षण ४१, चन्द्र लक्षण ४२ सूर्यचार ४३, राहुचार ४४, ग्रहचार ४५, सौभाग्यकर ४६, दौर्भाग्यकर ४७, विद्याकर ४८, मन्त्रगत ४६ रहस्यगत ५०, सभाष्य ५१, चार ५२, प्रतिचार ५३, व्यूह ५४, प्रतिव्यूह ५५, स्कधावारमान ५६, नगरमान ५७ वस्तुमान, ५८, स्कधावार निवास ५६ वास्तुनिवेश ६०, नगरनिवेश ६१, अश्वरथ ६२, त्सरुप्रवाप ६३, अश्व शिक्षा ६४ हस्ति शिक्षा ६५, धनुर्वेद ६६, हिरण्य सुवर्ण मणि धातुपाक ६७, बाहुदण्ड मुष्टि यष्टि युद्ध, युद्ध, नियुद्ध युद्धाति युद्ध ६८, सूत्र क्रीड़ा, धर्म क्रीड़ा, चर्मक्रीड़ा ६, पत्रच्छेद्य, कडच्छेद्य ७, सजीव निर्जीव ७१, शकुन शब्द ७२।

कल्प वृक्षों की अल्पता के समय में उन मनुष्यों के भोज्यपदार्थ

जब तक उपर्युक्त दशविध वृक्ष प्रचुर परिमाण में होते हैं, तब तक अकर्म भूमिक मनुष्य आनन्द से अपना जीवन व्यतीत करते हैं; परन्तु परिवर्तन काल वाले क्षेत्रों में ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों-त्यों वैसे वृक्ष लुप्त होते जाते हैं। परिणाम स्वरूप मनुष्य अपने आवश्यक साधनों के लिए इधर उधर घूमते हैं और अन्य परिगृहीत वृक्षों पर आक्रमण करते हैं, और उनमें कलहकारी वृत्तियां बढ़ती जाती हैं। वे अपने वृक्षों पर आक्रमण करने वालों की शिकायत कुलकर के पास जाकर करते हैं; कुल-कर अपनी नीति के अनुसार शिक्षा करता है। ऐसी परिस्थिति

क आने पर कुलकर उन मनुष्यों को कल्पवृक्षादिक का मोह छोड़ कर जंगली धा या तथा कन्द मूलों का उपयोग करके अपना निर्वाह करने का मार्ग बताता है। आवश्यक निर्युक्ति तथा मूल-भाष्य में इस वस्तु का निरूपण नीचे की गाथाओं में उपलब्ध होता है।

"आसी अ कन्दहारा, मूलाहारा य पत्तहारा य।
पुप्फ फल भोइणोऽवि अ, जइया किर कुलगरो उसभो ॥५॥
आसीअ इक्खु भोई, इक्खागा तेण खत्तिया हुंति।
सणसत्तरसधण्णं, आम ओम च भुजीआ ॥६॥

अर्थात्—जिस समय भारत भूमि मे ऋषभ नामक कुलकर थे उस समय के मनुष्य कन्दाहारी, मूलाहारी, पत्राहारी व पुष्पफल भोजी थे। उनमें जो इक्षु भोजी मनुष्य थे, इक्ष्वाकु क्षत्रिय कहलाये। ये सभी शण पर्यन्त सत्रह प्रकार के कच्चे धान्यों का भी थोड़ा-थोड़ा भोजन करने लगे।

"आसीअ पाणिधमी तिम्मिअ तन्दुल पवालपुड भोई।
हत्थ तल पुडाहारा, जइया किर कुलकरो, उसहो ॥८॥
अगणिस्सय उट्ठाणं, दुमघसा दट्ठु भीअ परि कहणं।
पासे सु परिछिदह, गिण्हह पाग च तो कुणह।
पक्खेव दहण मोसदि, कहण निग्गमण हत्थि सीसम्मि।
पयणारम्भ परित्ती, ताहे कासी अ ते मणुआ ॥१०॥ (मू भा)

अर्थात्—ऋषभ कुलकर कालीन मनुष्यों को जब कच्चे धान्य बीजों से अजीर्ण होकर उदर पीडा होने लगी तभी उन्होंने कुलकर के आगे इसकी शिकायत की कि कच्ची औषधियां खाने से हमें उदर-दर्द हो रहा है। इस पर कुलकर ने धान्य बीजों को हथेलियों में घिस कर साफ करने के बाद कमल पत्रों के पुटों में जल लेकर, बीज उनमें रख कुछ समय तक भीगने के बाद हाथों में लेकर खाने की सलाह दी। इस प्रकार भोजन करने से कुछ समय तक उन्हें राहत मिली, परन्तु कच्ची औषधि खाने के कारण कालान्तर में फिर अजीर्ण की शिकायत खड़ी हुई तब वे कुलकर के पास जाकर अपना दुःख सुनाने लगे।

इधर जंगल में वृक्षों के संघर्षण से अग्नि उत्पन्न हुआ जिसे देख कर मनुष्य भयभीत होकर इसकी सूचना देने कुलकर के पास गये। कुलकर ने कहा अग्नि उत्पन्न हो गया है इसलिये अब धान्य बीज जलती हुई आग के छोरों पर डालकर पकने पर खाओ। मनुष्यों ने वैसा ही किया परन्तु अग्नि में डाले हुए बीज सब जल गये। मनुष्यों ने कुलकर से कहा यह स्वयं भूखा है और हम जो कुछ उसे देते हैं, वह स्वयं खा जाता है। हाथी पर बैठे हुए कुलकर ने कहा, उस तालाब में से कुछ गीली मिट्टी लाओ। उन्होंने वैसा ही किया। कुलकर ने मिट्टी के पिण्डों को हाथी के कुम्भ स्थलों पर रख कर हाथों से थपथपा कर बर्तन का आकार बनाया, और उन्हें देते हुए कहा इनको धूप में सुखा कर तेज आग में डालो, जब यह पक कर ठंडा हो जाय तब

असुर माता में पानी डाल कर औषधियाँ डालो और आग पर रक्खो। जब वे पक कर तैयार हो जाय तब उन्हें खाया करो। उन भद्र मनुष्यों ने कुलकर की आज्ञा के अनुसार वैसा ही किया, और इस प्रकार भोजन पका कर खाने की प्रवृत्ति चलाई।

इस प्रकार अवसर्पिणी समा के तृतीयारक के अन्त में कुम्भकार कोशिल्प प्रकट हुआ। इसी प्रकार लोहकार चित्रकार वस्त्रकार और बाल बनाने वालों के शिल्प भी अस्तित्व में आये। इन पांच शिल्पों में से प्रत्येक के बीस बीस भेद होकर कुल सौ शिल्प प्रसिद्ध हुए। परन्तु तब तक जनता में अनीति का बीजारोपण तक नहीं था अतः दण्ड नीति आदि राज्य विधान साधन मात्र था उसका प्रयोग प्राय नहीं होता था। उस समय के मनुष्य सुखी सतोषी और भद्र परिणामी थे व वनस्पति का आहार और नदी-झरनों के पानी पीकर अपना जीवन-निर्वाह करते थे। उनमें घृत मांस,-भक्षण, मदिरा पान, वश्यागमन, आखेटक करने की आदत चोरी अथवा पर स्त्री गमन आदि कोई दुर्व्यसन नहीं था, दिन प्रतिदिन मानव समाज सभ्यता में आगे बढ़रहा था।

भगवान् ऋषभदेव के संसार-त्याग के उपरान्त उनके बड़े पुत्र भरत भारतवर्ष के राजा हुए, उन्होंने राज्य की व्यवस्था के लिये चतुरङ्ग सैन्य का संग्रह किया स्थान-स्थान पर नगर-निवेश करवा कर मनुष्यों को बसतियों में बांट दिया,जो कुछ उनके लिये जरूरी साधनों की कमी थी वह पूरी की, वे चक्रवर्ती

राजा बने। मानव समाज में व्यवस्थित रखने के लिए राज नीति का निर्माण हुआ।

भरत चक्रवर्ती की माहणशाला

भगवान् ऋषभदेव प्रव्रज्या लेकर देश भ्रमण करते और तपस्या करते हुए केवलज्ञानी हुए। कालान्तर में वे भरत की राजधानी विनीता से कुछ योजनों की दूरी पर रहे हुए अष्टापद पर्वत पर पधारे। भरत को उनके आगमन की पर्वत-पाल ने बधाई दी। भरत बड़े विस्तार के साथ उनको वन्दन करने गया, साथ में गाड़ियों-भरे पका-पकाया भोजन भी ले गया था, इस विचार से कि इसका भगवान के मुनिगण को दान करेगा। वन्दन धर्म श्रवण के उपरान्त भरत ने मुनिगण को निमन्त्रण दिया कि निर्दोष आहार तैयार है, कृपा कर उसे ग्रहण कीजिए। भगवान् ने "राज पिण्ड अकल्प्य है" कह कर भरत की प्रार्थना को अस्वीकृत कर दिया। भरत बहुत निराश हुए, इस पर इन्द्र ने कहा राजेन्द्र! निर्ग्रन्थ श्रमण अभिषिक्त राजा के घर से भोजन वस्त्र आदि पदार्थों को ग्रहण नहीं करते। तुम अपने भारतवर्ष में श्रमणों को अवग्रहदान देकर लाभ ले सकते हो। इस पर से भरत ने अपने अधिकार के भू भाग में विचरने-रहने की आज्ञा दे दी, और इन्द्र से पूछा कि लाये हुए इस भोजन की क्या व्यवस्था की जाय। इन्द्र ने कहा, यह आप साधर्मिक गृहस्थ श्रावकों को खिलाइये और भक्ति का लाभ लीजिये। भरत ने वैसा

ही किया और सदा के लिये गृहस्थ श्रावकों को इसी प्रकार भोजन पानी वस्त्र आदि देकर लाभ लेने का निश्चय किया।

इसके बाद एक बड़ा सा मकान धर्मार्थी श्रावकों के लिये बनवाया और वहाँ रहने वालों के खाने पीने की सदा के लिये व्यवस्था की। वहाँ रहने वालों को यह सूचित किया कि जब जब मुझे आते जाते देखो, तब तब इस उपदेशिक शब्द मेरे कानों में पहुँचाओ कि उन्हें सुन कर मैं सावधान हो जाऊँ। राजा की इस सूचना के अनुसार वे श्रावक हर समय उन्हें आते जाते देखकर कहते "जितो भवान्" "वर्द्धते भयम्" तस्मात् मा हन मा हन" इसका मतलब भरत सोचता मैं किस से जीता गया, और मुझ पर किस से भय बढ़ रहा है, उसके मन का समाधान स्वयं हो जाता था कि क्रोध लोभ आदि शत्रुओं से मैं जीता गया हूँ, और मुझ पर संसार भ्रमण का भय बढ़ रहा है, इसलिये मुझे प्राणि हिंसा नहीं करनी चाहिये।

जो गृहस्थ श्रावक अपने में साधु होने की योग्यता नहीं पाते और सांसारिक प्रवृत्तियों में जिनको रस नहीं होता, वे सभी भरत-स्थापित इस माहनशाला में रहते और भरत निर्मापित आर्यवेदों का अध्ययन करते थे। उन वेदों में मुख्य वस्तु तीर्थङ्कर आदि महापुरुषों की स्तुतियाँ और गृहस्थ धर्म का निरूपण होता था, पिछले जैन ग्रन्थकारों ने इन्हीं नियमों का आर्यवेद इस नाम से वर्णन किया है।

इन निगमों के पढ़नेवाले श्रावक बार-बार "मत मार मत मार" इस अर्थ को सूचित करने वाले 'मा हन मा हन' पद बोलने के कारण वे माहन नाम से प्रसिद्ध हो गये थे जो बाद में जैन ब्राह्मण कहलाये।

माहनों की संख्या प्रतिदिन बढ़ती जाती थी, बिना परिश्रम भोजन वस्त्राच्छादन की प्राप्ति होती देख कर अनेक मनुष्य माहन शालाओं में दाखिल होते गये। भोजन बनाने वालों ने शिकायत की कि भोजन करने वालों की संख्या का कोई ठिकाना नहीं रहता, इस पर राजा ने माहनों की वृद्धि पर नियन्त्रण करने के लिये उनकी परीक्षा का क्रम रक्खा, दाखिल होते समय उनकी परीक्षा ली जाने लगी, और परीक्षा में जो वास्तविक धर्मार्थी श्रावक पाये जाते वे ही माहनशाला में दाखिल किये जाते थे, और उनकी पहचान के लिये बायें कन्धे से दाहिने उदर भाग तक यज्ञोपवीत की तरह काकणीरत्न से तीन रेखा खींचली जाती थी। जिसके शरीर पर यह चिन्ह पाया जाता वही माहन माना जाता और माहनशाला में रहने का अधिकार पाता।

भरत के उत्तराधिकारी आदित्ययशा आदि माहनों को सुवर्ण का यज्ञोपवीत देते थे। भरत के अष्टम उत्तराधिकारी राजा दण्ड वीर्य ने माहनों को रजत का यज्ञोपवीत दिया, और उसके बाद के राजाओं ने सूत का यज्ञोपवीत देना शुरू किया। जैन माहनों की यह परम्परा और उनके आर्यवेद बहुत काल तक चलते रहे।

सुविधिनाथ नामक नवम तीर्थङ्कर के धर्मशासन के अन्त समय में जैन श्रमणों का अस्तित्व लुप्त हो गया था, और धर्म सम्बन्धी कोई भी निर्णय जैन माहनों के विचारों पर निर्भर रहता था। माहनों ने इस स्वातन्त्र्य लाभ का दुरुपयोग किया। मूलनिगम जो केवल अहिंसा धर्म का प्रतिपादन करने वाले थे, उनको वस्त्रों में बांध कर उनके स्थान नये निगमों का निर्माण किया, जिनमें यज्ञों में सुवर्ण-दान, भूमि दान, आदि दानों का प्रतिपादन किया गया। जैनाचार्यों ने इन नये वेदों के निर्माताओं के रूप में याज्ञवल्क्य सुलसादि का नाम-निर्देश किया है।

२—वेदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में मनुष्य का आहार

वेदों का अनुशीलन करने वाले आधुनिक विदेशी विद्वानों तथा उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों की ऐसी मान्यता हो गयी है कि ऋग्वेद संहिता जो सब से प्राचीन ग्रन्थ है, उसमें यव के अतिरिक्त व्रीहि आदि धान्यों का नाम-निर्देश नहीं मिलता, अतः उस समय के आर्यों में धान्य का आहार के रूप में व्यवहार अत्यल्प होता होगा। विद्वानों की इस मान्यता को हम प्रामाणिक नहीं कह सकते, प्राचीन संस्कृत शब्दों-खास कर वैदिक शब्दों का प्रयोग रहस्य-पूर्ण होता था। वह रहस्य उनका प्रयोग करने वाले अथवा उनके शिष्य ही यथार्थ रूप में जान सकते थे, अथवा तत्कालीन निघण्टुकार उन शब्दों का रहस्य खोल सकते थे।

ऋग्वेद में आने वाला "यवास" शब्द केवल यव धान्य को ही सूचित नहीं करता, किन्तु उसकी जाति के गोधूमादि सब धान्यों

का सूचन करता था। चिरकाल के बाद उस रहस्य को जानने वाले ऋषि तथा प्राचीन निघण्टु अदृश्य हो गये, और यवास शब्द का वास्तविक अर्थ भी विस्मृत होकर, यवास केवल यव रह गया। इसी प्रकार अपना मौलिक अर्थ खोने वाले सैकड़ों शब्द हमारे दृष्टिपथ में आते हैं कि जिनका मौलिक अर्थ बदल चुका है, और कल्पित अर्थ में आजकल वे प्रयुक्त होते हैं। इस विषय में कुछ उदाहरण हम नीचे उद्धृत करते हैं।

(१)—"कपोत" यह शब्द अतिपूर्व काल में पक्षिमात्र का वाचक था, "के—आकाशे पोत-प्रवहणम् कपोत" इस व्युत्पत्ति से पक्षिमात्र कपोत कहलाता था, परन्तु आज कपोत शब्द से केवल कबूतर पक्षी का ही बोध होता है।

(२)—'मृग" यह शब्द हजारों वर्ष पहले वनचर पशुओं का वाचक था। जिनमें हिरण, भेड़िया, बाघ, भैंसा, [२]हाथी,

---

१—"कपोत पक्षिमात्रेऽपि' इत्यादि अभिधान कोशों के प्रतीका से आज भी कपोत शब्द का पक्षिमात्र वाच्यार्थ होने का संकेत रह गया है फिर भी व्यवहार में इस अर्थ में प्रयोग नहीं होता।

> "वराह महिष ऋक्ष रुरु रोहित वारणाः ॥ २० ॥
> समरश्चमर खड्गौ महिष ॥ २१ ॥

२—कल्पद्रु शब्द कोश के उपर्युक्त उदाहरण में आये हुए वराह महिष आदि सभी नाम वन्य पशुओं के हैं जिन्हें कोशकार ने महा मृग कहा है। शृगाल भी मृग जाति का ही छोटा प्राणी है परन्तु वह विशेष चतुर होने के कारण कोशकारों ने उसे मृगधूर्तक कहा है। पर्णमृग शाखामृग (बन्दर) आदि अनेक जानवर मृग जाति में सम्मिलित हैं।

अष्टापद आदि तृण भक्षी और मांस-भक्षी सब पशु आ जाते थे। इनमें सिंह अधिक पराक्रमी होने से इनका राजा माना जाता था, इसी कारण से आज भी मृगपति कहलाता है, और अपना आधिपत्य जमाए हुए है, परन्तु मृग शब्द का वास्तविक अर्थ आज संस्कृत शब्द कोष लेखक भी भूल चुके हैं। मृग शब्द को आज केवल हरिण तथा कहीं-कहीं "याचक" के अर्थ का प्रति पादक बताते हैं।

(३)—'असुर'' शब्द वेद-काल में प्राणवान् शक्ति का प्रति पादक था परन्तु आज वह पौराणिक दैत्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

(४)—'प्रवीण'' यह शब्द पहले प्रकृष्ट वीणा वादकके अर्थ में प्रयुक्त होता था, परन्तु आज इसने अपना मूल अर्थ तिरोहित कर दिया है, और वह चतुर अथवा दक्ष के अर्थमें प्रयुक्त होता है।

(५)—"उदार"[२] शब्द प्रारम्भ में इशारे से चलने वाले बैल अथवा घोड़े के अर्थ में प्रयुक्त होता था, परन्तु आज इसका मूल अर्थ बदल गया और वह इच्छा से अधिक देने वाले बदान्य पुरुष के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

टिप्पणी १— 'प्रकृष्टो वीणायां प्रवीणो गाथर्वे यत्र हि यस्य मुख्या वृत्ति । स एव स्वमर्थमुत्सृज्य गान्धर्वमभ्यासपाटवमत्र सामान्य मात्रित्यत्र वैवाभिप्रवृत्त यो हि यस्मिन् कुशलम्न उत्पन्न कौशलाभवति स तत्राऽप्यल प्रवीण इति तद् यथा प्रवीणो व्याकरणे' 'प्रवीणो निरुक्ते इति यास्क निरुक्त भाष्ये'

टिप्पणी २— उदार इति प्रागार सन्निपाताद् व्याहृति मात्रशील वाक्-सकेतेनैवमारय यो वहत्यश्वोऽनड्वान् वा स उद्गतारत्वात् उदार। तत्र हि समञ्जसा वृत्तिरस्य शब्दस्य। स एव उत्सृज्यैव स्वमर्थ माकूतानुविधायित्वमात्रमेव सामान्यमाश्रित्य प्रवृत्त योहि कश्चित् कर्मैविदाकूत नर्थयित्वा प्रागेव प्रार्थनात् ददाति स उदार इत्युच्यते। यास्क निरुक्त भाष्ये

(६)—'निस्त्रिंश'[1] शब्द प्रथम उस तलवार के अर्थ में प्रयुक्त होता था, जिसकी दाहिनी बाँयी और अगली तीनों धारायें तीक्ष्ण होती थीं। परन्तु निस्त्रिंश का आज वह अर्थ नहीं रहा, आज तो यह शब्द सामान्य तलवार और निर्दय प्राणी के अर्थ में व्यवहृत होता है।

(७)—"मधु" शब्द वेद काल में केवल जल के अर्थ में प्रयुक्त होता था। कालान्तर में वह पुष्पस्थित मकरन्द रस का वाचक भी होगया और धीरे धीरे मदिरा सञ्चित मकरन्द और उस के सञ्चय का अनुरूप मास चैत्र और ऋतुवसन्त ये सभी मधु शब्द-वाच्य हो गये पिछले लेखकों ने तो मधु शब्द का मद्य के अर्थ में भी प्रयोग कर डाला।

इन थोड़े से उदाहरणों से पाठक गण को यह ज्ञात हो [illegible] कि कोई भी शब्द अपना वाच्यार्थ सदा के लिए टिका नहीं [illegible] कई अनेकार्थक शब्द अनेक अर्थों को छोड़ कर एक [illegible] को टिकाये रखते हैं, तब अनेक एकार्थक शब्द अनेकार्थक बन जाते हैं। इस दशा में यव आदि शब्दों को [illegible] धान्य वाचक शब्दों और उनके वाच्यार्थ धान्यों का [illegible] मान लेना अदूरदर्शिता है।

टिप्पणी १— निस्त्रिंशं शब्द त्रिभि [illegible] प्रयोग च निश्चित स्यतीतिच निस्त्रिंश खड्ग [illegible] खड्गस्य समञ्जसा वृत्ति। स एव [illegible] मत नेवाभि प्रवृत्त यो हिंसायं क्रूरो भवति [illegible]

[illegible]

ऋक संहिता में धा य शब्द का उल्लेख—

"यस्ते सूनो महसो गीर्भिरुक्थैं र्यज्ञैर्मर्त्यो निशितं वेद्यानट्
विश्व स दस्र प्रतिवार ममे धत्ते धान्य प्यत व सव्यैं ॥
(ऋक् संहिता ६।१३८)

अर्थात्—हे बलके पुत्र तुम्हारा क्षीणता जो मर्त्य (मनुष्य) स्तुति और यज्ञ द्वारा वेदी (यज्ञभूमि पर पात हैं) हे द्योतमान ! अग्नि ! वे समस्त धान्य प्रतिधारण करते और धन सम्पन्न होते हैं।

कृष्ण यजुर्वेद में शुक्ल और कृष्ण दो प्रकार के व्रीहि का भी उल्लेख है यथा—

"व्रीहीनाहर॰शुक्लांश्चकृष्णांश्च"

(तैत्तरीयसंहिता ।२।५।१।३।)

अर्थात्—शुक्ल और कृष्ण दो प्रकार के व्रीहि को इकट्ठा करो।

व्रीहि शब्द का उल्लेख अथर्ववेद के पूर्ववर्ती तैत्तरीय और वाजसनेय संहिता में मिलता है। यथा—

यव ग्रीष्मायौषधीवर्षाभ्या । व्रीहीन् शरदे माषतिलौ हेमन्त शिशिराभ्य.म"

(तैत्तरीय संहिता ७।२।१०।२)

व्रीहिश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्"।
(वाजसनेय संहिता १८।१२।)

अर्थात्—ग्रीष्म ऋतु से यव जाति के धान्यों का, वर्षा से

औषधिया रा, शरद से व्रीहि धान्यों का और हेमन्त शिशिर से माष तिलों का संग्रह करो।

मेरे व्रीहि यव और माष यज्ञ के काम में प्रस्तुत हों।

षड्विंश ब्राह्मण में

"वीर्यमन्नाद्य धेहीत्याह"

प्र० प्र० ७ खण्ड ३

अर्थात्—अन्न भोजन से उत्पन्न बल को धारण कर।

"अस्मात पितरो न्येनवान्नना (अन्नन) ममस्यमादो भवति" ॥ ७ ॥ प्र० प्र० ७ ख० पृ० ६

'नित्यवन्ने ओदन कृशर यवागू रक्त पायस दधिक्षीर घृत पायसं घृतमिति शृतोत्तरा प्रथक् पात्र सर्वे सर्वेषाम् वा पायस ॥ २ ॥ प्र० पञ्चमे ७ ख० पृ० -३

'देवाश्च वासुराश्च पु लोकव्वस्पद्ध त त द्द्रा प्रजापति मुपाधावन् तेभ्य एता शान्ति दर्वी प्रायच्छत् ते तत शान्त्येका असुरानभ्यजयन् ततो देवा अभवन्, परा सुरा भवत्यात्मना परास्य भ्रातृव्यो भवति य एव वेदाथ पूर्वाह्न एव प्रातराहुति हुत्वा दर्भाच्छमीं वीरणा दधि सर्पि सर्षपान् फलवती मपामार्गन्त शिरीष मित्येतान्याहरेदाहारयद्वा स्नात प्रयत शुचि शुचि-वासा स्थण्डिलमुपलिप्य मोद्यलक्षणमुल्लिख्याद्भिरभ्युक्ष्याऽ ग्निमुपसमाधाय नित्यतन्त्रेण।

(घृतात्तरा प्रथक चरव सर्वे सर्वपा वा पायस) न्त्यनन प्रयत्र इन्द्र-यम-वरुण-वैश्रमण-अग्नि-वायु-विष्णु-रुद्र-मर्त्या दिस्य अरिष्टशान्त्यर्थं पञ्च पञ्चाहुतय ददु"।

"षड्विंशब्राह्मण पृ० ३४-३८

उपर्युक्त अनेक उल्लखो में अन्न, अन्नाद्य, अन्नाद, आदि शब्द प्रयोग मे आये हैं। इतना ही नहीं देवासुर सग्राम क प्रसङ्ग पर देवों ने प्रजापति से जो अरिष्ट शान्ति का विधान प्राप्त किया, उसमें सभी देवों के नाम के अन्नमय चरु बनाकर पाच-पाच आहुतियाँ देने का विधान बताया है।

गोपथ ब्राह्मण में--

"भूम्याऽन्नमभिपन्न ग्रसित परामृष्टम्, अन्नेन प्राणोऽभिपन्नो ग्रसित परामृष्ट, प्राणेन मनोऽभिन्न ग्रसित परामृष्टम्," ॥ ३७॥

'प्राणोऽन्ने प्रतिष्ठित, अन्न भूमौ प्रतिष्ठितम् ॥ ३८॥

"विचारी ह वै काबन्धि कबन्धस्याथर्वणस्य पुत्रो मेधावी मीमासकोऽनूचान आस, सह स्वेनातिमानेन मानुष वित्त नेयाय, त मातोवाचत एवैतदन्नमवोचस्त इममेषु कुरु पञ्चालेषु अङ्गमगधेषु काशि-कौशल्येषु शाल्वमत्स्येषु शवसउशीनरेषु उदीच्येष्वन्न मन्ति'।

'अदितिर्वै प्रजाकामौदनमपचत् तत उच्छिष्टमश्नात् सा गर्भ मधत्त, तत आदित्या अजायन्त य एष ओदन पच्यते आरम्भण मेवैतत्"

पूर्व भाग २ प्रपा० प्र० ७७

ऊपर लिखे तीन अवतरणों में से पहले में अन्नोत्पत्ति का क्रम बता कर अन्त में प्राण का आधार अन्न बताया है, और अन्न का आधार भूमि।

द्वितीय अवतरण में कावषि नामक अनूपान का उसकी माँ ने अपने निवास को छोड़ कर उदीच्य देशों में चलने की प्रेरणा की और कुरु, पाञ्चाल, अङ्ग मगध, काशी, कोशल, शाल्व, मत्स्य शिवि, उशीनर, आदि भारत के उत्तरीय देशों में सभी लोग अन्न भोजी हैं, इसलिये हम वहां चले जायें। कावषि के इस वृत्तान्त से यह सिद्ध होता है, कि गोपथ ब्राह्मण के निर्माणकाल में उत्तर भारत की प्रजा केवल अन्न भोजी थी। वहां पर मांस मच्छी खाने वाला कोई नहीं था।

गोपथब्राह्मण के तृतीय अवतरण में पुत्र कामा अदिति के यज्ञार्थ ओदन पकाने तथा यज्ञशेष पुरोडाश खाने से आदित्यों का जन्म होने का कथन है। इसमें भी गोपथब्राह्मण के समय में अन्न ही से देवताओं का यजन किया जाता था, पशुबलि की प्रथा नहीं थी।

'अन्नं वै सर्वेषां भूतानामात्मा तमेवैतच्छ्रद्धयाऽऽप्नुवन्ति प्राशित्र मनुमन्त्रयते' उ० भा० १ प्रपा० पृ० ७८

'यान्यया यजन्ति अन्नं वै याज्या, अन्नाद्यमेवास्य तत्कल्पयन्ति, मूलं वा एतद् यज्ञस्य यद्याज्या याज्यायाः" ॥ २२ ॥

उ० भाग० प्रपा पृ० ११५

गोपथ के उपर्युक्त दो अवतरणों में से पहले में अन्न को सर्व भूतों का आत्मा बताया, तथा दूसरे प्रतीक में अन्न को ही यज्ञ का मूल बताया है।

"त्रयाणां भक्षाणामेकमाहरिष्यन्ति सोमं वा दधि वापो वा स यदि सोमं ब्राह्मणानां स भक्षः ब्राह्मणास्तेन भक्षेण जिन्वि-ष्यसि"

'अथ यदि दधि वैश्यानां स भक्षो वैश्यान् तेन भक्षेण जिन्विष्यसि"

"अथ यद्यपः शूद्राणां स भक्षः शूद्रांस्तेन भक्षेण जिन्विष्यसि"
ऐ० ब्रा० ७ अ० ८, प० ३४ पृ० २

ऐतरेय ब्राह्मण के उपर्युक्त अवतरण में ब्राह्मण, वैश्य शूद्र का भक्ष्य क्रमशः सोम, दधि, और जल बताया है।

क्षत्रिय के भक्ष्य का उल्लेख नहीं किया, यही नहीं परन्तु इसी ब्राह्मण में आगे जाकर यह लिखा है, कि क्षत्रिय राजा के हाथ का हव्य देवता ग्रहण नहीं करते इससे ध्वनित होता है कि उस समय में क्षत्रियों में अन्न के अतिरिक्त दूसरे प्राणि जात खाद्य भी हो गये होंगे।

उपर्युक्त वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के अतिरिक्त शांख्यायन ब्राह्मण (११।८) शतपथ ब्राह्मण (१४।६।३।२२।) कात्यायन श्रौतसूत्र (२२।११।१) अथर्ववेद के कौशिक सूत्र आदि वैदिक ग्रन्थों में भी धान्य शब्द का प्रयोग देखने में आता है।

उपनिषदों के अनुसार सृष्टि और मनुष्य का आहार

तैत्तरीयोपनिषद् में अधोलिखित प्रकार से सृष्टि की उत्पत्ति मानी गयी है।

(२) "तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूत । आकाशाद् वायु । वायोरग्नि । अग्नेराप । अद्भ्य पृथिवी। पृथिव्या औषधय । औषधिभ्योऽन्नम । अन्नात् पुरुष । स वा एष पुरुषोऽन्न रसमय । तस्येदमेव शिर । अयं दक्षिण पक्ष । अयमुत्तर । अयमात्मा । इदं पुच्छं प्रतिष्ठा ।"

"तैत्तरीयोपनिषद्" पृ० ४३

अर्थात्--अनन्तर इस पुरुष से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी पृथिवी से औषधि, औषधि से अन्न और अन्न से पुरुष। यह पुरुष अन्न रसमय है। उसका यही शिर है। यह दक्षिण भाग, यह वाम भाग, यही आत्मा और यह पुच्छ ही प्रतिष्ठा है।

'अन्नाद् वै प्रजा प्रजायन्ते । या काश्च पृथिवी श्रिता । अथाऽ न्नेन जीवन्ति । अथैतदपि यन्त्यन्तत । अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वौषधमुच्यते । अन्नाद् भूतानि जायन्ते, जातान्यन्नेन वर्धन्ते ।

अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यत इति" ।

'तैत्तरीयोपनिषद्" पृ०२३

अर्थात्—अन्न से निश्चित रूप से प्रजाओं की उत्पत्ति होती है। जो कोई पृथिवी को आश्रय करके रहती हैं, और वे अन्न से ही जीती हैं। अन्त में इसी को प्राप्त होती हैं। अन्न ही प्राणियों के लिये सब से बड़ा चीज है। इसी कारण यह सर्वौषध कहलाता है। अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न प्राणी अन्न से जीते हैं। प्राणियो द्वारा खाया जाता है, अथवा प्राणी इसे खाते हैं अतः वह अन्न कहलाता है।

(२) "पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति विद्युति तृप्यन्त्यां, यत्किंचिद् यद्यु्श्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठतस्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति,

'छान्दोग्योपनिषद्' पृ०५८

अर्थात्—मेघ से बिजली तृप्त होती है, बिजली के तृप्त होने पर यह सब कुछ तृप्त हो, उनके तृप्ति होने पर यह तृप्त हो, जिस पर द्यु और मेघ रहते हैं, उसकी तृप्ति के अनन्तर, प्रजा से पशुओं से अन्नादि तेज से और ब्रह्मवर्चस से (पुरुष) तृप्त होता है।

(३)—"यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता मेधया हि तपसाऽजनयत् पितैकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्साधारण मन्न यदिदमद्यते स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रं ह्येतद्वै देवानभाजयदिति हुतं च प्रहुतं च तस्मात् देवेभ्यो जुह्वति च प्रजुह्वत्यथो आहुर्दर्शपूर्णमासाविति। तस्मान्नेष्टियाजुकः स्यादिति स्यात् पशुभ्य एकं प्रायच्छदिति तत्पयः पयोह्यग्रे मनुष्याश्च पशवश्चोपजीवन्ति तस्मात् कुमारं जातं घृतं वैवाग्रे

प्रतिलिहयन्ति स्तन वानु धापयन्त्यथ वत्स जातमाहुरतृणाद् इति। तस्मिन सर्वं प्रतिष्ठित यच्च प्राणिति यच्च नेति यमन्नीन सर्वं प्रतिष्ठित यच्च प्राणिति यच्च न'।

'यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत् त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत् तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठित यच्च प्राणिति यच्च न तस्मात्तानि क्षीयन्ते ऽद्यमानि सवन्ति। यो वै तामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन स देवानपि गच्छति स ऊर्जमुपजीवतीतिश्लोका

बृहदारण्योपनिषद् १० ८१

अर्थात्—पालन करने वाले ने अपने मेधा बल तथा तपोबल से सात प्रकार के अन्नों का सृजन किया, मेधा और तप से पिता ने जो अन्न उत्पन्न किया उसमें एक उसका साधारण अन्न था, साधारण अन्न वही है जो खाया जाता है जो इस की उपासना करता है वह पाप से व्यावृत नहीं होता। जो मिश्र था वह देवताओं में बांटा हुत और प्रहुत के रूप में, इसलिए देवों को आहुतियाँ प्राहुतियाँ दी जाती हैं इसलिए कहते हैं दर्श और पौर्णमास, उससे इष्टयाजुक न हो एक भाग पशुओं को दुग्ध के रूप में प्रदान किया, जिस दूध से मनुष्य तथा पशु अपना पालन करते हैं। इसीलिए तत्काल जात बालक को प्रथम घृत चटाते हैं और स्तनपान कराते हैं यही कारण है कि बछड़े को भी अतृणाद कहते हैं। इस अन्न में प्राणवान् अप्राणवान् सब कुछ प्रतिष्ठित हैं। पालन वाले ने जिन सप्त अन्नों का सर्जन किया,

न्नमें से एक सबके साधारण के लिए रक्खा, दो देवों को अर्पण किये, तीन अपने स्वाधीन किये, और एक पशुओं को दिया। जो भाग पशुओं को दिया उसमें प्राणवान् सभी तत्त्व विद्यमान थे। इस कारण से सर्वदा खाये जाने पर भी वे क्षीण नहीं होते, जो उस अक्षय को जानता है, वह अन्न खाता और प्रतीक रूप से वह देवताओं को भी प्रदान करता है। वह धान्य ही ऊर्ज जीवन करता है।

"दशग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति व्रीहियवास्तिलमाषा अणु प्रियङ्गवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च तान् पिष्ट्वा दधनि मधुनि घृत उपसिञ्च्य आज्यस्य जुहोति"

'बृहदारण्योपनिषद्' पृ० ११७

अर्थात्—दस ग्राम्य धान्य होते हैं, व्रीहि, यव, तिल, माष, अणु प्रियङ्गु, गेहूँ, मसूर, खल्व, खलकुल, इनको पीस कर ही दही मधु, घृत में मिलाकर अग्नि में आहुतियां देते हैं।

(४) पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

'श्वेताश्वतरोपनिषद्' पृ० १०३

अर्थात्—जो पहले था, वर्तमान में है, भविष्य में होगा वह सब पुरुष ही है, जो अमृत का स्वामी है, और अन्न से बढ़ता है।

(५) "अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमय मानन्दमय मात्मा म शुध्यन्ता ज्योतिरह विरजा विपाप्मा भूयास स्वाहा ॥ ६६ ॥

"नारायणोपनिषद्" पृ० १४६

अर्थात्—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय, मेरी आत्मा विशुद्ध हो, मैं ज्योति स्वरूप बनूं, रजोहीन और पापहीन बनूं।

याभिरादित्यस्तपति रश्मिभि स्ताभि पर्ज यो वर्षति पर्ज न्येनौषधि वनस्पतय प्रजाय न, औषधि वनस्पतिभिर न भवत्यन्नेन प्राणा प्राणैर्बल बलेन तपस्तपसा श्रद्धा श्रद्धया मेधा मेधया मनीषा मनीषया मनो मनसा शान्ति शान्त्या चित्त चित्तेन स्मृति स्मृ त्या स्मार स्मारेण विज्ञान विज्ञानेनात्मान वेदयति तस्माद न ददन (त) सर्वाण्येतानि ददाति"।

"नारायणोपनिषद्" पृ० ४४

अर्थात्—जिन किरणों से सूर्य तपता है उन किरणों से मेघ बरसता है। मेघवृष्टि से औषधि वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं। औषधि वनस्पतियों से अन्न उत्पन्न होता है, अन्न से प्राण बनते हैं। प्राणों से बल, बल से तप, तप से श्रद्धा, श्रद्धा से मेधा, मेधा से मनीषा, मनीषा से मन, मन से शान्ति, शान्ति से चित्त, चित्त से स्मृति, स्मृति से स्मार, स्मार से विज्ञान, और विज्ञान से आत्मा आत्मा को जानता है। इसलिये अन्न को देने वाला सब को देता है।

( ) "कनान्न रमानिति निह्वयेति"

"कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्" पृ० १६७

अर्थात—अन्न रसा का किस से नाम ? जिह्वा से।

"अथ पौर्णमास्या पुरस्तात्र चन्द्रमस दृश्यमानमुपतिष्ठेत-यैवावृता सोमो राजासि विचक्षण पञ्चमुखोऽसि प्रजापति ब्राह्मण स्त एक मुख, तेन मुखेन राज्ञोऽत्सि तेन मुखेन मामन्नाद कुरु। श्येनस्त एक मुख तेन मुखेन पक्षिणोऽत्सि राजा त एक मुख तेन मुखेन विशोऽत्सि, तनैव मुखेन मामन्नाद कुरु। श्येन स्त एक मुख तेन मुखेन पक्षिणोऽत्सि तेन मुखेन मामन्नाद कुरू। अग्निस्त एक मुख तेन मुखेनम लोकमत्सि, तेन मुखेन मामन्नाद कुरु। सर्वाणि भूतानि त्वय्येव पञ्चम मुख तेन मुखेन सर्वाणि भूता यत्सि, तेन मुखेन मामन्नाद कुरु।

"कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्" पृ० १६०

अर्थ—पूर्णमासी के शाम को सामने चन्द्रमा को देख कर खड़ा होकर इसस प्रार्थना कर, हे विचक्षण! सोम! राजा तू है, पञ्चमुख प्रजापति है तेरा एक मुख ब्राह्मण है, उस मुख से राजाओं को खाता है, उस मुख से अन्नाद (अन्न खाने वाला) कर। क्षत्रिय तेरा एक मुख है, उस मुख से मुझे अन्नाद कर। श्येन तेरा एक मुख है, उस मुख से पक्षिया को खाता है, उस मुख से मुझे अन्नाद कर। अग्नि तेरा एक मुख है उस मुख से इस लोक को खाता है, उस मुख से मुझे अन्नाद कर। सर्वभूत तेरा

पा १वा मुग इ, ‾म मुग स नू मत्रभूता रा खाता है, इस मुत्र से मुझे अन्नाद कर।

"पुत्रोऽत्र रमान् म त्वयि ᵒ वानीति पिताऽत्र रमा ᵒत मयि ᵒ ध इति पुत्र"

कौषीतकि ब्राह्मणाप निषद्' पृ॰ १७०

अर्थात—पुत्र कहता है अन्न रमा को तुम्हारे म ᵒ ापनकरूँ, पिता कहता है, ह पुत्र ! तू मर म अ न रसा का स्थापित कर।

'म एवैष बालाकिर्य एवैष चन्द्रमसि पुरुषतमेवाह ब्रह्म उपास इति त हावाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन समवदिष्ठा सामो राजा अ न रसस्यात्मेति वा अहमतमुपास इति स या ह्यैतमेव-मुपास्तेऽन्नस्यात्मा भवति'।

'कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्' पृ॰ १८३

अर्थात्—बालाकि कहते हैं—च द्रमा म जो पुरुष है, उसकी मैं ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ। उसको अजातशत्रु न कहा, इस विषय म एसा मत बाल साम राजा ह, वह अ न का आत्मा है, इसलिये मैं उसकी उपासना करता हू। जो इस की उपासना करता ह वह अ न रा आत्मा होता है।

'ॐ नारायणाद्वाऽ नमागत पक ब्रह्म लाक महासवर्त्तक पुन पकमादित्य पुन पक्व क्रव्यादि पुन पक्व जालकिलक्लिन्न पर्युषित पूतमन्न मयाचितमसक्लृप्तमश्नीयान्न कञ्चन याचेत'।

"सुबालोपनिषद्" पृ॰ २११

अर्थात्—नारायण से अन्न आया, ब्रह्मलोक महासम्वर्त्तकम पका, फिर सूर्यलोक में पका, फिर क्रव्याद में पका, फिर पका, वालखिल्लिन वासी और पवित्र अन्न अयाचित अनुदिष्ट का भक्षण करे पर किसी से याचना न करे।

(८)—"ॐ ह्रीं सौं श्रीं क्लीमा नमो भगवत्यन्नपूर्णे ममाभिल षितमन्नं देहि स्वाहा'

'अन्नपूर्णोपनिषद्' पृ० २२७

अर्थात—ॐकारादि मन्त्र विशिष्ट! भगवति! अन्नपूर्ण! मेरा अभिलषित अन्न दो।

(९)-"अभक्ष्यस्य निवृत्त्या तु, विशुद्धं हृदयं भवेत्।
आहार शुद्धौ चित्तस्य, विशुद्धिर्भवति स्वतः ॥३६॥
चित्तशुद्धौ क्रमाज्ज्ञानं, त्रुटयन्ति ग्रन्थयः स्फुटम्।
अभक्ष्यं ब्रह्म विज्ञान–विहीनस्यैव देहिनः ॥३७॥
न सम्यग् ज्ञानिनस्तद्वत्, स्वरूपं सकलं खलु।
अहमन्नं सदान्नाद, इति हि ब्रह्मवेदनम् ॥३८॥

"पाशुपत ब्रह्मोपनिषद्' पृ० ८८६

अर्थात्—अभक्ष्य की निवृत्ति से हृदय विशुद्ध होता है, और आहार की शुद्धि स्वतः होजाती है। चित्त शुद्धि से क्रमशः ज्ञान प्राप्त होता है, और ज्ञान से हृदय की ग्रंथियां टूट जाती हैं। ब्रह्मविज्ञान विहीन मनुष्यों के लिये भक्ष्य अभक्ष्य का विचार

आवश्यक है, परन्तु सम्यग्ज्ञानी के लिए भक्ष्य अभक्ष्य का कोई विचार नहीं है। उसको संवेदन तो यही होता है मैं ही अन्न हूँ।

निष्कर्ष

ऊपर हमने कुछ उपनिषदों के अवतरण दिये हैं। उन सभी में यही सिद्ध होता है कि मनुष्य का जन्म से मरण पर्यन्त का भोग्य पदार्थ अन्न ही था। तैत्तरीयोपनिषद् में जो सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम दिया है उसमें यह स्पष्ट लिखा है पृथिवी से औषधियाँ उत्पन्न हुई, औषधियों से अन्न, और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ, इसीलिये यह पुरुष अन्न-रसमय है।

इसी उपनिषद् में अन्न को सर्वौषध और प्राणियों के जीवन की वृद्धि करने वाला कहा है। प्राणियों के लिए सबसे बढ़ कर पदार्थ अन्न माना है।

छान्दोग्योपनिषद् में अन्न को तैजस और ब्रह्मवर्चस का कारण मान कर उसकी उत्पत्ति के साधनों की परम्परा जुटाने के लिये प्रार्थना की गयी है।

बृहदारण्योपनिषद् में ईश्वर द्वारा सात धान्यों की उत्पत्ति और उनके विभाजन की चर्चा की गयी है। लिखा है पिता ने सात धान्यों का सर्जन करके एक सर्वसाधारण के लिये रक्खा, और एक पशुओं को दिया, पशुओं को दिये गये अन्न से घृत दुग्ध आदि की उत्पत्ति हुई और वे मनुष्यादि सब का भोग्य बने। इसी कारण तत्कालजात बच्चे को घृत चटाया जाता है, और दूध पिलाया जाता है।

बृहदारण्यककार ने दश ग्राम्य धा यों का नाम निर्देश करके लिखा है कि इनके पिष्ट को दही मधु घृत म मिलाकर हवन करना चाहिए। इससे प्रमाणित होता है कि उपनिषद्कारों की दृष्टि म धा य ही यज्ञ म हवनीय पदार्थ होते थे, न कि पशु।

श्वेताश्वतरोपनिषद् मे सृष्टि के सर्व पदार्थों को पुरुष रूप माना है, और उसकी वृद्धि का कारण अन्न बताया है।

नारायणोपनिषद् म आत्मा को अन्नमय माना है, और उसकी विशुद्धि के लिये प्रार्थना की गयी है, इतना ही नहीं बल्कि अन्न को ही परम्परा से आत्मज्ञान का कारण तक बताया है।

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् म सोम को पञ्चमुख वाला प्रजापति कहा है, और उनके सभी मुखों से अपने आपको अन्नाद बनाने की प्रार्थना की गयी है। पक्षियों को खाने वाले उनके श्येन मुख से भी अपने को अन्नाद बनाने की प्रार्थना करने से सिद्ध होता है कि उस समय के मनुष्य केवल अन्न भक्षी थे, मांस भक्षण को व मनुष्य का भोजन नहीं मानते थे।

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् मे बालाकि को अजातशत्रु न च द्र मण्डल में पुरुष की उपासना न कर उस मे अन्न की उपासना करने की सूचना की है। उ होंने कहा है सोम राजा यह अन्न का आत्मा है, इसलिये मैं इनकी उपासना करता हूँ। जो इसकी उपासना करता है अन्न मय आत्मा बन जाता है।

सुबालोपनिषद् में कैसा भी पक्व क्लिन्न पर्युषित पवित्र अप्रार्थित अन्न मिलने पर भोजन करने का सूचन किया गया है।

अन्नपूर्णोपनिषद् में ऋभु ऋषि ने अपने पिता की सलाह के अनुसार अन्नपूर्णा की उपासना करके ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया था, और उसके पास आये हुए निदाघ ऋषि को भी अन्नपूर्णा की उपासना से ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने का उपदेश दिया था। ऋभु मुनि हमेशा एक मन्त्र द्वारा अन्नपूर्णा से अभिलषित अन्न की याचना करते थे।

पाशुपतब्रह्मोपनिषद् में आहारशुद्धि द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने का निरूपण किया है।

उपर्युक्त उपनिषदों के अतिरिक्त अन्य उपनिषदों में भी स्थान स्थान पर अन्न और अन्नाद शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन सब बातों का विचार करने से यही निश्चित होता है कि उपनिषत्कारों ने मनुष्य भोजन के लिए अन्न को ही प्रधान माना है। मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों का कहीं भी नाम निशान तक नहीं मिलता। उपनिषदों का ज्ञान क्षत्रियवर्ग से ही प्रचार में आया है, अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि उपनिषद् लिखने वाले ब्राह्मण थे, और उन्होंने ब्राह्मणों के आचार का प्रतिपादन किया है। वास्तव में उपनिषत्काल में पशुयज्ञादि पर्याप्तरूप से भूतकालीन इतिहास बन चुके थे।

जैन सिद्धान्त और वेद उपनिषदों में हम देख चुके हैं कि मनुष्य का वास्तविक आहार अन्न ही था। दोनों सिद्धान्तकार मनुष्य का उ सर्वकालीन आहार घृत मधु बताते हैं। इससे मनुष्य के आहार

के सम्बन्ध में जैन आचार्य और वैदिक ऋषियों का एकमत्य था, इसमें कोई शंका नहीं रहती।

अब हम मानव आहार के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों के अभिप्रायों का संक्षिप्त सार लिखकर इस अध्याय को पूरा करेंगे।

वैज्ञानिकों के मतानुसार मानव आहार

वैज्ञानिक शब्द से हमारा अभिप्राय आहार विषयक खोजकर अपना मत प्रदर्शित करने वाले डाक्टरों, वैद्यों और इस विषय की गहराई में उतरकर भोजन सम्बन्धी गुण दोषों पर अपना स्पष्ट अभिप्राय व्यक्त करने वाले विद्वानों से है।

जिन्होंने आर्य सिद्धान्तों का थोड़ा भी अध्ययन किया है, अथवा आर्य परम्पराओं को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं उनको तो एक जैन, वैदिक सिद्धान्तों के निरूपण से ही विश्वास होजायगा कि मानव का भोजन घृत, दुग्ध और वनस्पतिजन्य पदार्थ ही हैं, परन्तु जो व्यक्ति पाश्चात्य संस्कृति के रंग में रंगे हुए हैं और पाश्चात्य विद्वानों व उनके शिष्य भारतीय मानवों की बातों पर ही विश्वास रखने वाले हैं, उनके लिए हम इस प्रकरण में वैज्ञानिकों के कुछ अभिप्रायों को उद्धृत करते हैं।

मनुष्य तथा मांसभक्षी पशुओं के शरीर की रचना पर ध्यान देते हुए प्रोफेसर विलियम लारेंस एफ० आर० एस० बताते हैं।

'आदमी के दांत गोश्त खाने वाले जीवों के दांतों से बिलकुल नहीं मिलते। मनुष्य के सामने के दो बड़े दांत शेष दांतों के साथ

एकही कतार में होते हैं। परन्तु मांसाहारी जीवों के आगे वाले जो दो बड़े दांत हैं वे दूसरे दांतों से बड़े तेज नुकीले और आगे की तरफ निकले हुए होते हैं, ये मांस खाने के लिए बड़ा सुभीता प्रदान करते हैं, किन्तु शाकाहारी जीवों के सब दांत एकही कतार में होते हैं अतः किसी भी दृष्टिकोण से अर्थात मनुष्य के दांत, शारीरिक रचना, जबड़ा तथा पाचक यन्त्रों का ध्यान में रखते हुये स्पष्टरूप से पता लगता है कि वह बन्दर से मिलता जुलता है तो कि कट्टर शाकाहारी है।

एक बड़ा भेद यह भी स्पष्ट है कि मांसाहारी जानवर जब पानी पीते हैं तब जबान से लपलपा कर पीते हैं, व हाथी, घोड़ा व बैल आदि निरामिषाहारी जीवों की तरह दांतों होठ मिला खींच कर पानी नहीं पी सकते। इससे भी यही मालूम होता है कि, मनुष्य का शरीर मांसाहारियों से नहीं मिलता।

मांसाहारियों की आंखें निरामिष प्राणियों से भेद रखती हैं मांसाहारी जानवरों की नेत्रज्योति सूर्य का प्रकाश सहन नहीं कर सकती। लेकिन वे रात को दिन की भांति देख सकते हैं, रात को उनकी आंख दीपक के समान अङ्गार की तरह चमकती हैं परन्तु मनुष्य दिन को भली भांति देख सकता है। सूर्य का प्रकाश उसका विघातक नहीं बल्कि सहायक है, और मनुष्य की आंखें रात को न तो चमकती हैं और न प्रकाश के बिना वे देख सकती हैं।

मांसाहारी जीव [illegible] क्षुधा पैदा होता है तब उसकी

बहुत दिनों तक बन्द रहती हैं, किन्तु निरामिषियों के बच्चे पैदा होते ही थोड़ी देर में आंख खोल देते हैं।

मांसाहारी जानवरों को गर्मी भी सहन नहीं होती। वे थोड़े परिश्रम से थककर हार जाते हैं लेकिन मनुष्य गर्मी बरदाश्त कर सकता है, और थोड़े से काम से हार नहीं जाता।

मांसाहारी जीवों के शरीर से अधिक परिश्रम और दौड़ धूप के बाद भी पसीना नहीं निकलता विपरीत इसके मनुष्य एवं निरामिषाहारी जीवों को अधिक कार्य करने पर पसीना आजाता है।

पूर्वोक्त विभिन्नताओं से अच्छी तरह समझ सकते हैं कि मांस खाने वाले और निरामिष भोजियों के शरीर की बनावट व स्वभाव में बड़ा अन्तर है। मनुष्य के शरीर की बनावट व स्वभाव मांसाहारी जानवरों से बिलकुल नहीं मिलते। मनुष्य में मांसाहारी जानवरों की तरह पाचनशक्ति भी नहीं कि वह मांसाहारियों की तरह कच्चे मांस को पचा सके बल्कि उसको वह तरह के मसाले आदि से विकृत करके पचाने की कोशिश करते हैं।

मनुष्य की खुराक में ऐसा कोई खाद्य पदार्थ नहीं जो बिना दाढ़ों के नीचे दबाये साबित निगला जाय, किन्तु मांसाहारी चबाते नहीं, साबत ही निगल जाते हैं, चाहे मनुष्य के संसर्ग से अन्न खाने लगे पर उनके पास पीसने वाले दांत नहीं हैं प्रकृति ने उनको पीसने वाले दांत दिये ही नहीं क्योंकि उनकी खुराक मांस (न पिसने वाली) वस्तु है, परन्तु मनुष्य के दांत हर वस्तु को पीसने वाले होते हैं।

गोश्त रोटी खाते हुए धार्मिक और सदाचारी होने का दावा सुनकर हमें इसलिए आश्चर्य नहीं होता कि हममें एक असाधारण बात पायी जाती है, हमारे आंखें हैं लेकिन हम देख नहीं सकते, कान हैं लेकिन हम सुन नहीं सकते। आदमी बदबूदार से बदबूदार चीज, बुरी से बुरी आवाज और बदसूरत से बदसूरत वस्तु का आदी बन सकता है जिसके कारण वह आदमी उन चीजों से प्रभावित नहीं होता जिससे कि अन्य आदमी प्रभावित होजाते हैं।

डा० किंग्सफोर्ड और हेग ने मांस की खुराक से शरीर पर होने वाले बुरे असर को बहुत स्पष्ट रूप से बतलाया है। इन दोनों ने यह बात साबित करदी है कि दाल खाने से जो एसिड पैदा होता है वही एसिड मांस खाने से पैदा होता है। मांस खाने से दांतों को हानि पहुँचती है, संधिवात होजाता है। यहीं तक नहीं, बल्कि इसके खाने से मनुष्यों में क्रोध उत्पन्न होता है। हमारी आरोग्यता की व्याख्या के अनुसार क्रोधी मनुष्य निरोगी नहीं गिना जा सकता। केवल मांस भोजियों के भोजन पर विचार करने की जरूरत नहीं, उनकी दशा ऐसी अधम है कि उसका खयाल कर हम मांस खाना कभी पसंद नहीं कर सकते। इत्यादि'

(आरोग्य साधन—महात्मा गांधी)

डा० जोशिया आल्ड फील्ड डी० सी० एम० ए०, एम आर० सी०, एलव आरसी०पी०, सीनियर फिजीसियन मार्गेरेट हास्पिटल ब्रामले, कहते हैं,—

"मांस अप्राकृतिक भोजन है। इसीलिये शरीर में अनेक उपद्रव करता है। आजकल का सभ्य समाज इस मांस के खाने से कैंसर, क्षय, ज्वर, पेट के कीड़े आदि भयानक रोगों से जो एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में फैलते हैं, बहुत अधिक पीड़ित होता है इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि मांसाहार इन भयानक रोगों के कारणों में से एक कारण है जो १०० में निन्यानवे को सताते हैं।"

"मांसाहार विचार"

'ऐस सिलपस्टर ग्रेहम, ओ एस फौल्डर, जे एफ न्यूटन, जे० स्मिथ, डा० आर ए अलकट हिडकनवड, चीन लेम्ब वकान, डूजो, ओलास, पम्बरटन, हाइटला इत्यादि कई डाक्टरों, प्रवीण चिकित्सकों ने अनेक दृढ़तर प्रमाणों से सिद्ध किया है कि मांस मछली खाने से शरीर व्याधि मन्दिर होजाता है। यकृत, यक्ष्मा, राज यक्ष्मा, मृगी, पादशोथ, वात रोग, सन्धिवात, नासूर और क्षय रोग आदि रोग उत्पन्न होते हैं। प्रशंसित डाक्टरों ने प्रत्यक्ष उदाहरण द्वारा यह प्रगट किया है कि मांस मछली खाना छोड़ देने से मनुष्य के उत्कट रोग समूल नष्ट हो गये हैं व हृष्ट पुष्ट हो जाते हैं, डा० एस० ग्रहमन, डब्ल्यू एम० फूलर, डा० पामली लम्ब, क्यानिस्टर पेलर, जे पोटर, ए० जे० नाइट, और जे स्मिथ इत्यादि डाक्टर स्वयं मांस खाना छोड़ देने पर यक्ष्मा, अतिसार अजीर्णता और मृगी रोगों से विमुक्त होकर सबल और परिश्रमी हुए हैं। इसी प्रकार उन्होंने अन्य रोगियों को मांस छुड़ाकर अच्छा तन्दुरुस्त किया है एवं कई डाक्टरों ने अपने परिवार में मांस खाना छुड़ा दिया है।"

"मांसाहार विचार"

गोश्त रोटी खाते हुए धार्मिक और सदाचारी होने का दावा सुनकर हमें इसलिए आश्चर्य नहीं होता कि हममें एक असाधारण बात पायी जाती है, हमारे आँखें हैं लेकिन हम देख नहीं सकते, कान हैं लेकिन हम सुन नहीं सकते। आदमी बदबूदार से बदबूदार चीज, बुरी से बुरी आवाज और बदसूरत से बदसूरत वस्तु का आदी बन सकता है जिसके कारण वह आदमी उन चीजों से प्रभावित नहीं होता जिससे कि अन्य आदमी प्रभावित होजाते हैं।

डा० किंग्सफोर्ड और हेग ने मांस की खुराक से शरीर पर होने वाले बुरे असर को बहुत स्पष्ट रूप से बतलाया है। इन दोनों ने यह बात साबित करदी है कि दाल खाने से जो एसिड पैदा होता है वही एसिड मांस खाने से पैदा होता है। मांस खाने से दांतों को हानि पहुँचती है, संधिवात होजाता है। यहीं तक नहीं, बल्कि इसके खाने से मनुष्यों में क्रोध उत्पन्न होता है। हमारी आरोग्यता की व्याख्या के अनुसार क्रोधी मनुष्य निरोगी नहीं गिना जा सकता। केवल मांस भोजियों के भोजन पर विचार करने की जरूरत नहीं, उनकी दशा ऐसी अधम है कि उसका खयाल कर हम मांस खाना कभी पसन्द नहीं कर सकते। इत्यादि'

(आरोग्य साधन—महात्मा गांधी)

डा० जोशिया आल्ड फील्ड डी० सी० एम० ए०, एम आर० सी०, एल० आर० सी० पी०, सीनियर फिजीसियन मारगरेट हास्पिटल ब्रामले, कहते हैं —

में नासूर के दर्द होने के कारण खासकर मास की खुराक का बढना ही है।

डा० जे० एच० के० लोग लिखते हैं कि एक दर्दी को यह रोग तीन वर्ष से हुआ था। उसके मासाहार के त्याग करने से वह निरोगी होगया जबकि वह बहुत ही भयकर जाति का नासूर था।

डा० हेग लिखते हैं कि अन्न, फल, शाक के आहार से यह रोग होता ही नहीं।

डा० विलियम लेम्ब का कहना है कि एक ५० वर्ष की स्त्री को नासूर होने से उसको अन्न फलाहार पर रखने से वह निरोगी होगयी थी।

डा० लीओनार्ड विलियम्स का कहना है कि सुधरी हुई मास खाने वाली प्रजा में ८५ टका छोटे से बडे तक गले की बीमारियाँ, आँतों की व्याधियों से दुःख पारहे हैं। उनका मूल कारण उनका मासाहार ही है।

चबात वक्त मास के छोटे छोटे रेसे दाँतों की सन्धियों म भर जाते हैं। जहाँ वे सडा करते हैं कारण दाँत साफ करने के चालू रिवाजों से वे बाहर निकलते ही नहीं इसके साथ साथ दात भी सडते हैं और पायरिया जैसे दुःख रोग उत्पन्न होते हैं। इग्लैण्ड अमरीका जहा मासाहार प्रचलित है, वहा के मि० आर्थर अन्डर वुड का कहना है कि १५० वर्ष पहिले की अपेक्षा दाँत के दर्द दश गुन बढ गये हैं। मि० थोमस जे० रोगन लिखते हैं कि ब्रिटिश

"डाक्टर आलफ्रेड कार्पेटर ने जब जाहिर किया कि लंडन के बाजार में जो मांस बेचा जाता है, वह अस्सी टका से भी अधिक रोगी होता है। तब लोगों में भयंकर आशंका फैल गयी थी। मांस के सम्बन्ध में हर जगह इसी प्रकार होता है। और उससे असंख्य मनुष्य बिना मौत मृत्यु के मेहमान बनते हैं। कितनों ही की मान्यता है कि मांसों में खास कर गाय का मांस शक्ति प्रदान करता है परन्तु डा० केलोग के वचनानुसार विज्ञान की दृष्टि में तपास करने पर सिद्ध हुआ है कि यह बात बिलकुल झूठ है। और सर टी लोडर ब्रंटन के शब्दों में अगर कहें तो "मांसाहार शक्ति प्रदान करने के बदले निर्बलता का शिकार बनाता है और उससे जो नाइट्रोजीनस पदार्थ उत्पन्न होता है वह स्नायुजाल पर जहर का काम करता है।

मांसाहार से युरीक एसाड की वृद्धि होती है यह प्रत्यक्ष ही है, और डा० डोग्लास मेकडोनल्ड के अभिप्राय के अनुसार मांसाहार से युरीक एसिड की वृद्धि होती है और युरीक एसिड बढ़ने से नासूर का दर्द लागू होता है।

डा० विलियम्स रोबर्ट (मिडल सेक्स केंसर अस्पताल) लिखते हैं कि आंकड़ों से साबित होता है कि मांसाहार की बढ़ती पाई जाती है।

डा० सर जेम्स सोयर एम डी एफ आर सी पी लिखते हैं कि मेरे गहरे अनुभव के बाद यह सिद्ध हुआ है कि इंग्लैंड

मे नासूर के दर्द होने के कारण श्यामहट मास की खुराक का घटना ही है।

डा० ने० एच० क० लोग लिखते हैं कि एक दर्दी को यह रोग तीन वर्ष से हुआ था। उसके मासाहार के त्याग करने से वह निरोगी होगया जबकि वह बहुत ही भयङ्कर जाति का नासूर था।

डा० हेग लिखते हैं कि अन्न, फल, शाक के आहार से यह रोग होता ही नहीं।

डा० विलियम लेम्ब का कहना है कि एक ४० वर्ष की स्त्री को नासूर होने से उसको अन्न फलाहार पर रखने से वह निरोगी होगयी थी।

डा० ओओनार्ड विलियम्स का कहना है कि सुधरी हुई मास खाने वाली प्रजा में ८८ टका छोटे से बड़े तक गले की बीमारियों, आंतों की व्याधियों से दुःख पारहे हैं। उसका मूल कारण उनका मासाहार ही है।

चबाते वक्त मास के छोटे छोटे रेसे दांतों की सन्धियों में भर जाते हैं। वहाँ वे सडा करते हैं कारण दाँत साफ करने के चालू रिवाजों से वे बाहर निकलते ही नहीं, इसके साथ साथ दांत भी सडते हैं और पायरिया जैसे दन्त रोग उत्पन्न होते हैं। इङ्ग्लैण्ड अमरीका जहां मासाहार प्रचलित है, वहां के मि० आर्थर भन्डर बुड का कहना है कि १५० वर्ष पहिले की अपेक्षा दाँत के दर्द दश गुने बढ गये हैं। मि० थोमस जे० रोगन लिखते हैं कि ब्रिटिश

"डाक्टर आलफ्रेड कार्पेंटर ने जब जाहिर किया कि लंडन के बाजार में जो मांस बेचा जाता है, वह अस्सी टका से भी अधिक रोगी होता है। तब लोगों में भयंकर आशंका फैल गयी थी। मांस के सम्बन्ध में हर जगह इसी प्रकार होता है। और उससे असंख्य मनुष्य बिना मौत मृत्यु के मेहमान बनते हैं। कितनों की मान्यता है कि मांसों में खास कर गाय का मांस शक्ति प्रदान करता है परन्तु डा० केलोग के वचनानुसार विज्ञान की दृष्टि में तपास करने पर सिद्ध हुआ है कि यह बात बिलकुल झूठ है। और सर टी लोडर ब्रंटन के शब्दों में अगर कहें तो "मांसाहार शक्ति प्रदान करने के बदले निर्बलता का शिकार बनाता है और उससे जो नाइट्रोजीनस पदार्थ उत्पन्न होता है वह स्नायुजाल पर जहर का काम करता है।

मांसाहार से युरीक एसाड की वृद्धि होती है यह प्रत्यक्ष ही है, और डा० डौगलास मेकडोनल्ड के अभिप्राय के अनुसार मांसाहार से युरीक एसिड की वृद्धि होती है और युरीक एसिड बढ़ने से नासूर का दर्द लागू होता है।

डा० विलियम्स रोबर्ट (मिडलसेक्स केन्सर अस्पताल) लिखते हैं कि आंकड़ों से साबित होता है कि मांसाहार की बढ़ती पाई जाती है।

डा० सर जेम्स सोयर एम डी एफ. आर सी पी लिखते हैं कि मेरे गहरे अनुभव के बाद यह सिद्ध हुआ है कि इंग्लैंड

हेसियन से न्होंने यह जाहिर किया था कि मेंच सिपाही मास पर निर्वाह करते ह। इस कारण उनको एपेन्डी साइटीस का दर्द विगेर रूप से होता है और अरब लोग अन्न, फल, शाक पर रहते हैं वे इस रोग से मुक्त हैं।

डा० मेकफोड, निन्होंने नाताल मे ३० वर्ष पर्यन्त वैद्यकीय व्यवसाय किया था, वे लिखते हैं कि यहा के लोग मास भक्षी न होने से एपेन्डीसाइटीस का दर्द उनको शायद नहीं हो सकता है।

टाइफाइड नामक विषैला बुखार पोल काटन आदि कई अनुभवी डाक्टरों के मतानुसार मास की खुराक से विशेष रूप से फैलता है क्योंकि मास की खुराक ऐसे विषैले जन्तुओं के लिये बहुत हो अनुकूल है।

डा० एच एस मुअर लिखते हैं कि मास खाने वालों की नसें एव धोरी नसें भर जाती हैं और पतली पड जाती ह अत एव उनको बुखार कम ज्यादा प्रमाण में निरन्तर सताता रहता है।

मि० जे० एच० ओलीवर लिखते हैं कि मास खाने वाला के हृदय, अन्न, फल, शाक खाने वालों के हृदय से दशगुना अधिक जोर से धड़कता है।

सर विलियम ओड वेन्ट लिखते हैं कि नाड़ी की चाल के खास कारणों में मास की खुराक अग्रतम भाग लेती है।

डेन्टल एसोसिएशन की स्कूल के विद्यार्थियों के दाँत तपासने से मालूम हुआ कि १०४००० में से ८६०५ दन्त रोगी पाये गये उसका कारण निरोगी आहार का अभाव है।

"प्रोफेसर कीथ का भी अभिप्राय है कि मांसाहार बराबर नहीं चबाया जाने से दाँत, गला और नाक के दर्दों को उत्पन्न करता है।"

"डा० पोल कार्टन कहते हैं कि डाक्टरी अनुभव से यह प्रमाण सिद्ध हुआ है कि मांस की खुराक डीसपेसिया एप डी साइटीस आदि दर्द को उत्पन्न करने में अग्रतम स्थान रखती है। टाईफोईड संग्रहणी इत्यादि दर्दों को बढ़ाता है और क्षय एवं नासूर सदृश प्राण घातक दर्दों के जंतुओं को प्रविष्ट होने में सहायक होता है।"

डा० कोमन्सनेली ने जाहिर किया है कि वर्त्तमान समय में एपेन्डी साइटीस यह सामान्य दर्द होरहा है और उसका कारण हम लोगों की खाने पीने की कुप्रथा के अन्तर्गत है। वे कहते हैं कि पशु पक्षियों के मांस में एपेन्डी साइटीस के जंतु होने से शरीर में रहे हुए मांस को उसका चेप लगता है।

डा० शेम्पोनीअर को यह ज्ञात हुआ था कि रूमानियाँ के २०,००० दर्दी की जो अन्न, फल, शाक पर निर्वाह करते हैं उनमें से सिर्फ एक व्यक्ति को ही सताया था।

परन्तु मांसभक्षी दर्दियों से हर २२१ मनुष्य के पीछे एक मनुष्य को यह दर्द हुआ था। मेंथ लारकर के सर्जन जनरल की

आहार विज्ञान

पदार्थों म प्रत्येक तत्त्व का अलग अलग परिमाण

नाम पदार्थ	प्रोटीन	चिकनाई	मेदा (चीनी)	नमक	पानी	भोजन योग
दाल	२५ १	७ ३	५५ ८	२ ८	१ २	८५ ६
मेवा	१८ ५	५१ ६	६ ६	२ ४	७६ १	८५ -
अनाज	१० ६	२ ३	७० ५	० १	१२ ०	८७ ८
सूखा मेवा	४ ४	१ ६	६८ ५	० ४	१६ ७	७७ १
सब्जी	१ ४	० ३	८ ६	० ८	८७ ७	११ १
ताजा फल	१	० ६	१६	० ६	८१ ४	१८ ५
पनीर	२८ ३	३१ ०	० ०	४ ५	३६ ०	६४ ०
मास	१७ ०	१७ ६	० ०	० १	६८ ६	३७ -
अण्डा	१४ ०	१० ५	० ०	१ ५	६४ ०	३६ -
मछली	११ ६	१ २	० ०	१ २	८५ १	१३
दूध	४ -	३ ६	५ ०	० ८	८६ ५	११ ८

गठिया या जलोदर आदि लीवर एवं किडनी से सम्बन्ध रखने वाले दर्दों का मुख्य कारण युरिक एसीड गिना जाता है। और वह युरिक एसीड मास की खुराक में अधिक प्रमाण में होने से मासाहारियों में यह दर्द खास दृष्टि-गोचर होता है।

डा० वान नुरडन लिखते हैं कि मास सदृश नाइट्रोजन वाले पदार्थों से लीवर किडनी और ऐसे ही दूसरे भागों को अधिक बोझ होता है और इस से सन्धिवात और लीवर तथा किडनी सम्बन्धी अन्यान्य दर्द उत्पन्न होते हैं।

डा० पार्कर मव लिखते हैं मास खाने से गाइड, सन्धिवात, और किडनी के दर्द उत्पन्न होते हैं।

डा० सेवेजे ने स्पष्ट रूप से जाहिर किया है कि पागलपन की बीमारी मास भक्षी लोगों में ही विशेष पाई जाती है।

डा० उयार्ज कीथ के मतानुसार मास की खुराक का मद्य के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है और खास करके युवान लोगों में यह इच्छा विशेष रूप से होती है।

वनस्पत्याहार के पक्ष में तथा मासाहार के विपक्ष में अनेक अनुभवी डाक्टरों और वैज्ञानिकों के मतों का सारांश उद्धृत करने के बाद अब हम वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत किये गये भोज्य पदार्थों में रहे हुए तत्त्वों को प्रदर्शित करने वाले दो एक कोष्टक देकर इस प्रकरण को समाप्त करेंगे।

मानव भोज्य मीमांसा

द्वितीय अध्याय

(२)

ऋग्वेद समयेदन-यज्ञा प्राच्यैर्महर्षिभि ।
विहितास्ते यवनीहिमया, ज्ञेया विचक्षणै.॥१॥

अर्थ—ऋग्वेद के काल मे पूर्व महर्षियों द्वारा जो देव यज्ञ किये गये थे व यव व्रीहि आदि धा यमय थ, ऐसा चतुर विद्वानों को समझना चाहिये।

१. प्राच्यवेदकालीन यज्ञ

प्राच्य वेदकालीन यज्ञ से यहा ऋग्वेद के समय के यज्ञ से तात्पर्य है। ऋग्वेद का अध्ययन करने वाले प्रोफेसर मैक्समूलर तथा उनके पूर्ववर्ती विद्वानों ने यह बात तो मान ली है कि ऋग्वेद के निर्मापक ऋषि बड़े सीधे सादे थे। वे अधिकांश नदियों के

ऐसे ही सर विलियम एनीशा कूपर सी आई ई ने अपनी पुस्तक में भिन्न २ भोजनो का मिलान करते हुए उन शक्ति अशों का परिमाण दिया है उसमें से कुछ भाग नीचे दिया जाता है।

नाम पदार्थ	प्रतिशत कितने अश शक्ति है
बदाम की गिरी	६१
सूखे मटर चने आदि	८७
चावल (माड सहित)	८७
गेहू का आटा	८६
जौ का आटा	८४
सूखे फल किशमिश खजूर आदि	७३
घी	८७
मलाई	६६
मांस	२८
मछली	१२
अण्ड	२१

सृष्टि की आदि से जब तक मानव जाति की सभ्यता रहेगी तब तक मनुष्य का आहार भी वनस्पति ही रहेगा। घी, दूध, दही आदि खाद्य पदार्थ भी वनस्पति के ही रूपान्तरित सार हैं। मत्स्य आदि मनुष्य का प्राकृतिक आहार नहीं है किंतु जगली शिकारी लोगों का कल्पित खाद्य है। धीरे धीरे इन अनार्यो के खाने के पीछे सभ्यमानी आर्य भी पड़ गये हैं, जो एक भयकर कुप्रथा है। हम आशा करते हैं कि विवेकी और विचारशील मानव समाज अपने मौलिक आहार पर अग्रसर होकर ससार मे फैली हुई मासाहार की प्रवृत्ति को मिटायेंगे और ससार के मानव समाज को अभक्ष्य भक्षण जनित सैंकडो रोगों से मुक्त करेंगे।

इति प्रथमोऽध्यायः।

मानव भोज्य मीमांसा

द्वितीय अध्याय

(२)

ऋग्वेद समयदन-यना प्राच्यैर्महर्षिभि ।
विहितास्ते यवव्रीहिमया, ज्ञेया विचक्षणै ॥१॥

अर्थ—ऋग्वेद के काल मे पूव महर्षियों द्वारा जो देव यज्ञ किय गये थे वे यव व्रीहि आदि धा-यमय थ, ऐसा चतुर विद्वानों को समझना चाहिये।

१ प्राच्यवेदकालीन यज्ञ

प्राच्य वेदकालीन यज्ञ से यहा ऋग्वेद के समय के यज्ञों से तात्पर्य है। ऋग्वेद का अध्ययन करने वाले प्रोफेसर मैक्समूलर तथा उनके पूर्ववर्ती विद्वानों ने यह बात तो मान ली है कि ऋग्वेद के निर्मापक ऋषि बड सीधे सादे थ। वे अधिकांश नदियों के

पास रहते हुए अपना जीवन निर्वाह करते थे, जब कभी अनार्यों से संघर्ष होता, तब वे इन्द्र को अपनी सहायतार्थ प्रार्थना करते। अनावृष्टि अथवा जल की आवश्यकता के समय वे वरुण या मरुतों द्वारा जल वर्षा करने की प्रार्थना करते थे। इसी प्रकार अन्यान्य आवश्यकताओं के उपस्थित होने पर उनकी पूर्ति करने वाले अन्यान्य देवताओं की प्रार्थना करते थे।

ऋग्वेद के भिन्न भिन्न ऋषियों द्वारा रचे गये दस मण्डल थे, और दस ही उनके सम्पादित देव थे। जिनके नाम ये हैं—

अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु और वायु[1]।

यहाँ हम भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता के इतिहास के लेखानुसार ऋग्वेद का संक्षिप्त वर्णन देंगे, जिससे पाठक स्वयं यह जान सकेंगे कि वेदकालीन सभ्यता कितनी सरल और निर्दोष थी और उनके देवता भी मांसभक्षक नहीं, किन्तु ब्रीहि यवादि के पुरोडाश से संतुष्ट होने वाले थे।

ऋग्वेद का संक्षिप्त वर्णन

इतिहासकार लिखते हैं—

"ऋग्वेद में १०२८ सूक्त हैं, जिनमें दस हजार से ज्यादा ऋचाएं हैं। बहुत करके ये सूक्त सरल हैं, और उन देवताओं के

मण्डलक्रमात् सम्पादिता देवाः—

१ अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु, वायुरिति। "सायनविरचित भाष्ये।

यानर की नाइ मरत विश्राम नजरना है, जिन्हें बलि दिया जाता था, सोमरस चढ़ाया जाता था, और जिनसे सन्तान, पशु, और रन र लिय स्तुति की जाती थी, और पजाब के वाले आदि वासियों के साथ जो अब तक लड़ाई होती थी। इसमें आर्यों की मदद करने के लिये प्रार्थना की जाती थी।

ऋग्वेद में क सूक्त दस मण्डल क बटे हैं। कहा जाता है कि पहिले और अन्त क मण्डलो को छोड़कर बाकी जो आठ मण्डल है, उनम से हर एक को एक-एक ऋषि (अर्थात् उपदेश करने वालों के एक-एक घरान) न बनाया है। जैसे दूसरे मण्डल को गृत्समद न, तीसर को विश्वामित्र न चौथे का वामदेव न, पाचवे को अत्रि ने, छठे का भारद्वाज न सातवें का वसिष्ठ ने, आठवें को कण्व न और नवमे का अगिरा न बनाया है। पहिले मण्डल में एक-सौ इक्यानवे सूक्त हैं जिनम से कुछ सूक्तों को छोड़कर और सबको पन्द्रह ऋषियों ने बनाया है। दसवें मण्डल में भी १९१ सूक्त हैं और इनके बनाने वाले प्राय कल्पित है

ऋग्वेद क सूक्तों को कई सौ वर्ष तक पुत्र अपने पिता से या चेले अपने गुरुसे सीखते चले आय। किन्तु उनका सिलसिलेवार सग्रह बहुत पीछे अर्थात पौराणिक काल में हुआ। दसवें मण्डल का सब अथवा बहुत सा हिस्सा इसी काल का बना हुआ जान पड़ता है, जो कि पुरान सूक्तों में मिलाकर रचित रक्खा गया।

ऋग्वेद का क्रम और सग्रह जसा कि वह अब है पौराणिक काल में समाप्त हागया होगा। ऐतरेय आरण्यक (२,२) में मण्डलों

के क्रम से ऋग्वेद के ऋषियों की कल्पित उत्पत्ति दी है, और इसके पीछे सूक्तों की, ऋक् की, अर्ध ऋक् की, पदों की और अक्षरों तक की गिनती दी है। इससे जान पड़ता है कि पौराणिक-काल में ऋग्वेद संहिता का मंडल मंडल करके केवल क्रम ही नहीं कर लिया गया वरन् सावधानी से भाग उपभाग कर लिया गया।

पौराणिक काल के अन्त तक ऋग्वेद की हर एक ऋचा हर एक शब्द और हर एक अक्षर तक की भी गिनती करली गयी थी। इस गिनती के हिसाब से ऋचाओं की संख्या १०४०२ से लेकर १०६२२ तक, शब्दों की संख्या ४३३८२६, और अक्षरों की संख्या ४३२०००० है।

ऋग्वेद की प्रार्थना कितनी सरल होती थी इसके उदाहरण के रूप में एक इन्द्र की प्रार्थना का अनुवाद नीचे दिया जाता है, पाठकगण ध्यान से पढ़ें।

'हल के फाल से जमीन को आनन्द से खोदें, मनुष्य बैलों के पीछे आनन्द से चलें। पर्जन्य पृथ्वी को मीठे मेंह से तर करें। हे सुनासीर! हम लोगों को सुखी करो।'

जौ और गेहूँ खेत की खास पैदावार और भोजन की खास वस्तु जान पड़ती है। ऋग्वेद में अनाज के जो नाम मिलते हैं, वे कुछ संदेह उत्पन्न करने वाले हैं क्योंकि पुराने समय में जो उनका अर्थ था वह आजकल बदल गया है। आजकल संस्कृत में यव शब्द का अर्थ केवल 'जौ' है पर वेद में इसी शब्द का मतलब

गई और यव न लकर यज्ञ में ह । इसी तरह आजकल धान शब्द का अर्थ कम से कम पंजाब में चावल से है, पर ऋग्वेद में यह शब्द भुने हुए जौ के लिए आया है, जो कि भोजन के काम में आता था और देवताओं को भी चढ़ाया जाता था।

ऋग्वेद में ब्रीहि चावल का उल्लेख नहीं है। हम लोगों को इन्हीं अनाजों से बनी हुई कई तरह की रोटियों का भी वर्णन मिलता है जो खाई जाती थी, और देवताओं को भी चढ़ाई जाती थी। 'पक्ति' (पच=पकाना) का अर्थ है पकी हुई रोटी।' इसके सिवाय कई दूसरे शब्द जैसे पुरोदास (पुरोडाश) 'अपूप' और 'करम्भ' आदि भी पाए जाते हैं।'

(प्राचीन भारतवर्ष की सभ्यता का इतिहास'
पहिला भाग प्र० परिच्छेद ? काण्ड)

ऊपर हमने वेदाभ्यासियों के अभिप्राय का संक्षिप्त विवरण दिया है, उससे सहमत होते हुए भी तदन्तर्गत कुछ बातों के सम्बन्ध में हम अपना मतभेद प्रदर्शित करते हैं। वंशानुशीलक विदेशी विद्वानों ने आर्यों तथा आदि निवासियों के विषय में जो अपने विचार प्रदर्शित किये हैं, वे यथार्थ नहीं। उनका कहना है, भारत में पहले सभी काले लोग रहते थे जो यहाँ के मूल निवासी थे, आर्य लोग मध्य एशिया से आकर भारत में घुसे और पञ्जाब के भूमिभाग तक अपना अधिकार जमा बैठे परन्तु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है। भारत के जो आदि निवासी कहलाते थे और वे समभूमि तल पर अपने राज्य जमाकर रहते थे, उनके साथ भी

रभी निनरा सघर्पण होता था, व भारत के पहाडी लोग थे, जिनको विदेशी विद्वान् काले आदि निवासी के नाम से पुकारते हैं। वास्तव मे वे दोनों ही प्रकार के मनुष्य भारतीय थे, जो पहाड़ों में रहते और कठिन परिश्रम करते थे। इनको यहा आर्य विद्वान अनार्य के नाम से पुकारते थे, बाकी काले यहा के मूल निवासी थे, और गोरे बाहर से आये हुये थे, इस कथन मे म कोई प्रामाणिकता नहीं है। वेदकाल मे आर्य जातिया पूर्व म अग मगध (पूर्व दक्षिण विहार) से लेकर पश्चिम म गा धार शिवि दशों तक फैले हुये थे। उनके प्रदेश की दक्षिण सीमा नर्मदा और वि ध्याचल तक पहुचती थी। उत्तर मे हिमालय की तलहटी तक। ऋग्वेद म पञ्जाब की नदियों का और अनार्यों से सघर्ष होने का विशेष वर्णन मिलता है। इसका अथ यह नहीं है कि आर्य पञ्जाब म ही बसते थे, कि तु पञ्जाब प्रदेश और उसके पश्चिम प्रदेश म पहाडी अनार्यों का प्राबल्य था, और बार बार आर्यो का पशुधन चुरा लेजाते थे, इतना ही नहीं पर तु पहाडों से निकलने वाली नदियों का जल तक दूषित करके आर्यो को तग किया करते थे। इस कारण पञ्जाब प्रदेश क अनार्यो और यहा की नदियों की वेदो म विशेष चर्चा मिलती है। बाकी गङ्गा, सरस्वती, यमुना आदि भारत की पूर्वीय नदियों क भी नाम वेदों मे अनेक स्थान पर दृष्टिगोचर होते है।

अनार्यो के साथ आर्यों का मध्य और पूर्व भारत में सघर्पण विशेष नहीं होता था, क्योंकि यहा की समतल भूमि अनार्यों के

लिए अनुकूल नहीं थी, और व सख्या म भी अत्यल्प होने के कारण आर्यों से हिलमिल कर रहत थ।

प्राचीनकाल में भारतवर्ष का भ्रमण करन वाल विदशी यात्रियों के यात्रा विवरणों से भी यही पाया जाता है कि उत्तर भारत सदा से सभ्य आर्यो से बसा हुआ था।

ग्रीकयात्री मेगास्थनीज जो चन्द्रगुप्त मौर्य की राज सभा म राजदूत के रूपम वर्षों तक रहा था, और उत्तरीय भारत क अनेक दशों का भ्रमण किया था, उसक यात्रा विवरण से भी उत्तर भारत में आर्यों की प्रधानता और वहा वनस्पत्याहार की मुख्यता थी, उसक कहने के अनुसार वहा पहाडी अनार्यों को छोडकर नागरिक लाग खास प्रसङ्गों के विना मास मदिरा का उपयोग नहीं करत थे।

बौद्धयात्री फाहियान जो ईसा की पञ्चमी शताब्दी के लगभग भारत म आया था वह उत्तर भारत के सौराष्ट्र देश के विषय म लिखता है—

'दश भर म कोइ मासाहारी नहीं है। नही कोई मादक द्रव्यों का उपयाग करता है। व प्याज और लहसुन नहीं खाते। केवल चाण्डाल लाग ही इस नियम का उल्लघन करत ह। वे सब बस्ती क बाहर रहत ह। और अस्पर्श कहाते हैं। इनका कोइ छूता भी नहीं, नगर म प्रवश करते समय लकड़ी से कुछ सकेत और आवाज करत ह। इसका सुनकर नागरिक हट जाते ह। इस देश

इन बचनो से स्पष्टतया प्रतीत होता है कि तत्कालीन यज्ञ निरारम्भ होते थे। अन्न और सोम के अतिरिक्त अन्य कोई चीज देवताओं को नहीं चढायी जाती थी।

यज्ञ के अनेक नामो म अध्वर यह प्रथम नाम है, जिसका अर्थ होता है अहिंसक अनुष्ठान। इस विषय म निरुक्त भाष्यकार यास्क मुनि के निम्नोद्धृत अवतरण पढिये।

"अध्वर इति यज्ञ नाम ध्वरति हिंसा कर्मा, ध्वरति धूर्वतीति हिंसार्थेषु पठितौ "तत्प्रतिषेध अध्वर "अहिंस्र" इति।"

अर्थात्—"ध्वर धातु" हिंसार्थक है ध्वरति अथवा धूर्वति ये धातु हिंसार्थक धातुओं मे पढे गये हैं। उस हिंसा का जिसमे प्रतिषेध हो उसका नाम अध्वर अर्थात् अहिंसक अनुष्ठान है।

निरुक्त कार यास्क के इस निरूपण से ऋग्वेदकालीन यज्ञ हिंसा रहित होते थे, यह बात पूर्णरूप से सिद्ध हो जाती है।

सामवेद का सक्षिप्त स्वरूप निदर्श

भारत वर्ष की सभ्यता का इतिहास लिखने वाले कहते है—

"सामवेद के सग्रह करने वाले का कोई पता नहीं। डा० स्टिवेन्सन के अनुमान को प्रोफेसर वन ने सिद्ध कर दिखला दिया है कि सामवेद की कुछ ऋचाओं को छोड़कर और सब ऋचायें ऋग्वेद मे पाई जाती हैं। साथ ही इसके यह भी विचार किया जाता है कि बाकी की थोड़ी ऋचायें भी ऋग्वेद की किसी प्रति मे

जो अब हम लोगों को अप्राप्त हैं, अवश्य रही होंगी। अत एव यह स्पष्ट है कि सामवेद केवल ऋग्वेद में से ही संगृहीत हुआ है और वह एक विशेष कार्य के लिये सुर ताल बद्ध किया गया है।"

उपरोक्त उद्धृत किये ऋग्वेद तथा सामवेद के वर्णन से यह तो निश्चित हो जाता है कि ये दोनों ही संहिताएं वास्तव में एक ही संग्रह के दो स्वरूप हैं पहले में जो ऋचायें हैं वे ही ताल स्वर बद्ध करके सामवेद के रूप में व्यवस्थित की गयी हैं।

यद्यपि इन दोनों संहिताओं में अनेक सूक्त तथा ऋचायें प्रक्षिप्त हो चुकी थीं, होती जा रही थीं फिर भी उन ऋचाओं के वास्तविक अर्थ की परम्परा प्रचलित होने से उनसे कोई अनर्थ कारक परिणाम उत्पन्न होने नहीं पाया था। प्रक्षिप्त ऋचाओं में निर्दिष्ट वनस्पतियों तथा अन्न आदि अन्य पदार्थों के नाम पशुओं के नामों तथा उनके अवयवों के नामों के सदृश होने पर भी तत्कालीन निरुक्तकार उनका सही अर्थ बता देते थे। इस कारण अनुयायियों में किसी प्रकार की विकृति उत्पन्न नहीं हुई।

सैंकड़ों वर्षों के बाद वैदिक शब्दों का स्पष्टीकरण करने वाले निघण्टु का लोप हो गया था, इस का फल यह हुआ कि वेदों के शब्दों का अर्थ—कल्पना के बल से किया जाने लगा, इसके परिणाम स्वरूप वेदों में पर्याप्त अर्थ विकृति उत्पन्न हो गई वनस्पति और प्राणियों के समान नामों में से कई स्थान पर प्राणियों को वनस्पति और वनस्पतियों को प्राणी मान लिया गया। परिणाम स्वरूप इस

समय के बाद म बनने वाले यजुर्वेद, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण आदि वैदिक ग्रन्थों में याज्ञिक हिंसा प्रविष्ट हो गई।

यजुर्वेद और अथर्ववेद का संक्षिप्त परिचय

भारतीय सभ्यता के इतिहास लेखक कहते हैं—

"यजुर्वेद के संग्रह करने वाला का कुछ पता नहीं। श्याम यजुर्वेद तित्तिरि के नाम से तैत्तरीय संहिता कहलाता है, और कदाचित् इसी तित्तिरि ने इसे इसके आधुनिक रूप में संग्रहीत व प्रकाशित किया था। इस वेद की आत्रेय वृत्ति की अनुक्रमणी में यह लिखा है कि यह वेद वैशम्पायन से यास्क पांगी को प्राप्त हुआ फिर यास्क से तित्तिरि को, तित्तिरि से उखा को और उखा से आत्रेय को प्राप्त हुआ। इससे प्रकट है कि यजुर्वेद की जो इस समय सब से पुरानी प्रति मिलती है वह आदि प्रति नहीं है।

श्वेतयजुर्वेद के विषय में हम इस से भी अधिक पता लगता है। यह वेद अपने संग्रह करने वाले या प्रकाशित करने वाले याज्ञवल्क्य वाजसनेय के नाम से वाजसनयी संहिता कहलाता है। याज्ञवल्क्य विदेह के राजा जनक की सभा में प्रधान पुरोहित थे, और यह नया वेद कदाचित् इसी विद्वान् राजा की सभा से प्रकाशित हुआ, श्याम और श्वेत यजुर्वेदों के विषयों के क्रम में सब से बड़ा भेद यह है कि पहिले में तो याज्ञिक मन्त्रों के आगे उनका व्याख्यान और उनके सम्बन्धी यज्ञ कर्म का वर्णन दिया है। परन्तु दूसरी संहिता में केवल मन्त्र ही दिये गये हैं, उनका व्याख्यान तथा यज्ञ कर्म का वर्णन एक अलग ब्राह्मण में दिया है।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि सम्भवत पुराने धर्म को सुधारने और मन्त्रों की व्याख्या से अलग करने के लिये जनक की सभा के याज्ञवल्क्य ने एक नई वाजसनेयी सम्प्रदाय खोला, और इसके उद्योग का फल एक एक नई (वाजसनेयी) संहिता और एक पूर्णतया भिन्न (शतपथ) ब्राह्मण का निर्माण हुआ।

परन्तु यद्यपि श्वेतयजुर्वेद के प्रकाशक याज्ञवल्क्य कहे जाते हैं, पर इस वेद को देखने से जान पड़ता कि यह किसी एक मनुष्य वा किसी एक ही समय का संग्रह किया हुआ नहीं है। इसके चालीसों अध्यायों में से केवल प्रथम अठारह १८ अध्यायों के मंत्र शतपथ ब्राह्मण के प्रथम नौ खण्डों में पूरे पूरे उद्धृत किये गये हैं और यथाक्रम उन पर टिप्पणी भी की गयी है। पुराने श्याम यजुर्वेद में इन्हीं अठारहों अध्यायों के मन्त्र पाये जाते हैं। इसलिये ये अठारहों अध्याय श्वेतयजुर्वेद के सब से पुराने भाग हैं और सम्भवत इन्हें याज्ञवल्क्य वाजसनेय ने संकलित व प्रकाशित किया होगा। इसके आगे सात अध्याय सम्भवत उत्तर काल के हैं और शेष पन्द्रह अध्याय तो निस्सन्देह और भी उत्तर काल के हैं जो अच्छी तरह से परिशिष्ट वा खिल कहे गये हैं।

अथर्ववेद के विषय में हम केवल यह कहने ही की आवश्य कता है कि जिस काल का हम वर्णन कर रहे हैं उसके बहुत वर्ष पीछे तक भी इस ग्रन्थ की वेदों में गिनती नहीं की जाती थी। हां ऐतिहासिक काव्यकाल में एक प्रकार के ग्रन्थों की जिन्हें अथर्वाङ्गीरस कहते हैं—उत्पत्ति अवश्य हो रही थी, जिसका उल्लेख

कुछ ब्राह्मणों के उत्तरकालीन भागों में है। हिन्दू इतिहास के तीनों कालों में और मनु की तथा दूसरी छन्दोबद्ध स्मृतियों में भी प्राय तीन ही वेद माने गये हैं। यद्यपि कभी कभी अथर्वण, वेदों में गिनने जाने के लिये उपस्थित किया जाता था, परन्तु फिर भी ईस्वी सन् के बहुत पीछे तक यह ग्रन्थ प्राय चौथा वेद नहीं माना जाता था। जिस काल का हम वर्णन कर रहे हैं, उस काल की पुस्तकों में से बहुतेरे वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं, जिनमें केवल तीन ही वेद माने गये हैं, परन्तु स्थान के अभाव से हम उन वाक्यों को यहां उद्धृत नहीं कर सकते। हम अपने पाठकों को केवल इन ग्रन्थों के निम्न लिखित भागों को देखने के लिये कहेंगे अर्थात् ऐतरेय ब्राह्मण ५–३२। शतपथ ब्राह्मण ४ ६ ७, ऐतरेय आरण्यक ३–२–३, वृहदारण्यक उपनिषद् १–५, और छान्दोग्योपनिषद् ३ और ७। इसके अन्तिम पुस्तक में तीनों वेदों का नाम लिखने के पीछे अथर्वाङ्गीर की गिनती इतिहासों में की है। केवल अथर्व वेद के ही ब्राह्मण और उपनिषदों में इस पुस्तक को वेद मानने का काफी उल्लेख मिलता है। यथा गोपथ ब्राह्मण का मुख्य उद्देश एक चौथे वेद की आवश्यकता दिखाना है। उसमें यह लिखा है कि चार पहिया बिना गाड़ी नहीं चल सकती पशु भी चार पगों बिना नहीं चल सकता और न यज्ञ ही चार वेदों बिना पूरा हो सकता है। ऐसे विशेष युक्तियों से केवल यही सिद्ध होता है कि गोपथ ब्राह्मण के बनने के समय तक भी चौथा वेद प्रायः नहीं गिना जाता था। अथर्वण और अंगिरा प्राफेसर व्हिटनी के कथनानुसार प्राचीन और पूज्य हिन्दू वंशों के अर्द्ध पौराणिक नाम

हैं और इस आधुनिक वेद का इन प्राचीन नामों से किस प्रकार सम्बन्ध करने का प्रयत्न किया गया। इस वेद में बीस काण्ड हैं, जिनमें लग भग छः हजार ऋचायें हैं। इसका छठा भाग गद्य में है और शेष अंश का छठा भाग ऋग्वेद के प्रायः दशवें मण्डल के सूक्तों में मिलता है। उन्नीसवां एक प्रकार से पहिले अठारह काण्ड का परिशिष्ट है, और बीसवें काण्ड में ऋग्वेद के उद्धृत भाग है।'

अध्याय १ पृ १०४-१०७

ऋग्वेद के स्वरूप निदर्शन के बाद हम यह सूचित कर आये है कि मूल ऋक् संहिता में पिछले विद्वान् ब्राह्मणों ने अनेक सूक्त और ऋचायें निर्माण कर उसमें मिलाई थीं, और यह क्रम सैकड़ों वर्ष तक जारी रहा। परन्तु वेदोक्त अनुष्ठानों में कोई गड़बड़ी नहीं हुई, क्योंकि तब तक अनेक ब्राह्मण ऋषियों के पास वैदिक निघण्टु और निरुक्त विद्यमान थे। जिस कारण से नये विषयों का वर्णन करने में विशेष कठिनाइयां उपस्थित नहीं हुईं। परन्तु धीरे धीरे इन निघण्टुओं और निरुक्तों का लोप हो गया और तब से वेदों का अर्थ ऋषियों की कल्पनाओं का विषय हो गया। जो शब्द और धातु लौकिक संस्कृत में व्यवहृत होते थे, उनके सम्बन्ध में तो विशेष कठिनाइयां नहीं आईं, परन्तु केवल वेदों में ही प्रयुक्त होने वाले शब्दों तथा धातुओं के अर्थविवरण में विवरणकारों की बुद्धि द्वारा की गई मनःकल्पना ही साधनभूत रह गई थी। इस परिस्थिति में वेदाध्यापक विद्वानों द्वारा वेदों में जो अर्थ विकृति

प्रविष्ट हुई उसने वैदिक सभ्यता और धार्मिक अनुष्ठानों का स्वरूप बदल डाला। पहले जहां निर्दोष अन्न और सोम रस द्वारा देवताओं को संतुष्ट किया जाता था, वहां सजीव पशुओं का बलि होने लगा, सोमके स्थान में मदिरा ने अपना स्थान जमाया। इस स्थिति का सामान्य दर्शन शुक्लयजुर्वेद में होता है। निघण्टु और निरुक्त के अभाव से उत्पन्न होने वाली इस परिस्थिति से बड़े बड़े विद्वान् परेशान थे, और वैदिक शब्द कोशों तथा निरुक्तों की खोज में लगे हुये थे। और इस खोज में यास्क आदि कई ऋषियों का वैदिक निघण्टु और निरुक्त हाथ भी लगे। परन्तु वे सर्वाङ्गीण नहीं केवल मूल वस्तु का अवशिष्ट अंशमात्र थे।

टिप्पणी १—

महाभारत मोक्ष पर्व ३४२ अध्याय ६९-७०-७१ श्लोकों में नष्ट निरुक्तों के विषय में नीचे के अनुसार सूचित किया है—

शिपि विष्टेति चाख्यायां हीनरोमा च यो भवेत्।
तेनाविष्टं तु यत्किञ्चित् शिपिविष्टेति च स्मृत ॥
यास्को मामृषिरव्यग्रो, ऽनेकयज्ञेषु गीतवान् ।
शिपिविष्ट इति ह्यस्मा, द्गुह्यनाम धरोह्यहम् ॥
स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति, यास्कऋषिरुदारधी ।
मत्प्रसादादधो नष्टं, निरुक्तमधिजग्मिवान् ॥

अर्थ—शिपिविष्ट इस नाम का अर्थ हीनरोमा और सब वेष्टने वाला ऐसा होता है, जिस समय मैं शिपविष्ट के गुह्यरूप में फिरता था, तब यास्क ऋषि ने सावधानी से मुझे पहिचाना और

इस बात के स्पष्टीकरण के लिए हम यास्क निरुक्त का ही थोड़ा सा स्वरूप वर्णन करेंगे।

यास्क निरुक्त में कुल बारह अध्याय हैं। जिनके अन्तर्गत वेदों में प्रचलित नामों का एक छोटा सा कोश दिया गया है, जो निघण्टु कहलाता है। इस निघण्टु में पदार्थ नामों और क्रियात्मक धातुओं का समावेश किया है। नामों की संख्या चारसौ अठावन है, तथा धातुओं की संख्या तीनसौ तेरह ३१३, इन नामों के अभिधेय द्रव्य केवल चौपन हैं। जैसे—

पृथिवी के १ हिरण्य के नाम १८ अन्तरिक्ष नाम १६, साधारण ६, रश्मिनाम १५, दिङ्नाम ८ रात्रिनाम २३ उषा १६, मेघ ३०, उदक १०१, अश्व २६, ज्वलनाम ११, कर्म के २६, मनुष्य २५, अङ्गुलि २२, अन्न के २८ बल के २८, गौ के ६ मार्ग के १०, अहन् के १२, वाङ्नाम ५७, नदी के ३७, आदिष्टपया

अनेक यज्ञों में मेरी स्तुति की, उदार बुद्धि वाले यास्क ने मेरी स्तुति कर नष्ट हुए निरुक्त को मेरी कृपा से प्राप्त किया। यद्यपि महाभारत के इस उल्लेख में नष्ट निरुक्त यास्क को ही प्राप्त होने की बात कही गयी है परन्तु यास्क स्वयं अपने निरुक्त भाष्य में शाकटायन, शाकपूणि, गालव, कात्थक, औपमन्यव, तैटीकि गार्ग्य आदि अनेक निरुक्तकारों का नाम निर्देश करते हैं। इससे इतना तो निश्चित होता है कि यास्क के समय में दूसरे भी अनेक निरुक्त विद्यमान थे।

१०, उपलति कर्मा ११, अपत्य के १८, बाहु के १२, क्रान्तिकर्मा १८, अत्तिकर्मा १०, धननामा २८, क्रुध्यतिकर्मा १०, गतिकर्मा १२२, क्षिप्तनाम २६, समाम के ४६, वधकर्माण ३३ ऐश्वर्यकर्मा ४, बहु के १२, महत् के २५, परिचरण कर्माण १०, रूप के १६, प्रज्ञा के ११, पश्यतिकर्माण ८, उपमार्था, मेधावी के २४, यज्ञ के १५, दानकर्माण १०, अध्येषणा कर्माण ४ रूप के १८, निर्णीता न्तर्हितानि ६, पुराण के ६, दिशाउत्तराणि २६, अन्तिक ११, व्याप्तिकर्मा १०, वज्र के १८, ईश्वर के ४, ह्रस्व के ११, गृह के २२, सुख के २०, प्रशस्य १०, सत्य ६, सर्वपद समाम्नात ६, अर्चतिकर्मा ४४, स्तोतृनाम १३, ऋत्विक के ८, याच्ञाकर्मा १७, स्वपितिकर्मा २ स्तेन के १४, दूत के ४ नवनामा० ६, द्यावापृथिव्योर्नामानि २४।

इस प्रकार नाम चारसौ अठावन इनके अभिधेय द्रव्य चौवन हैं। धातु तीनसौ तेरह केवल पन्द्रह कर्म के अर्थ में प्रयुक्त होते थे।

निघण्टु की इस स्थिति को पढ़कर कोई भी विद्वान् यह कहने का साहस नहीं करेगा कि वेदों में केवल चारसौ अठावन नाम और तीनसौ तेरह धातु थे। और ये क्रमशः ५४ चौवन द्रव्यों को और पन्द्रह कर्मों को प्रदर्शित करते हुए वेदोक्त विविध विषयों का ज्ञान कराने में पर्याप्त होते होंगे। वस्तु स्थिति तो यह है कि वैदिक निघण्टु अधिकांश नष्ट हो चुका था। उसका अल्पमात्र यह अंश बचा था वह यास्क को मिला और उन्होंने अपने निरुक्त के अन्त

गत कर दिया। यह तो हुई निघण्टु की बात, अब हम यास्क के निरुक्त भाष्य के विषय में कुछ लिखेंगे।

निरुक्त के चतुर्थ अध्याय में कुल ६२ पद हैं। जिनका भाष्य करते हुए यास्क ने चवालीस पदों का अनवगत प्रकट किया है। इसी तरह निरुक्त के पञ्चम अध्याय में ८४ पद हैं, जिनमें से ६२ पदों को यास्काचार्य ने अनवगत होने का लिखा है। इसी तरह षष्ठ अध्याय के १३२ पदों में से १२५ अनवगत उद्घोषित किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिन जिन पदों को इन्होंने अनवगत कहा है उनका परम्परागत अर्थ यास्क को मालूम नहीं था। इसलिए उन्होंने अपनी बुद्धि से दूसरा अर्थ कल्पित करके उन निगमों को व्यवस्थित किया। इस विषय में हम एकाध उदाहरण देकर निरुक्त की अपूर्णता और अव्यवस्थितता दिखावेंगे।

ऋग्वेद की एक ऋचा में "शिताम" शब्द आया है जिसका भाष्य करते हुए यास्काचार्य लिखते हैं।

"शिताम" ॥३॥ मूलम्

"पारयत श्रोणित शितामत" (या० मा०)

पार्श्वं पशुर्भयभद्र भवति। पशुः स्पृशते संस्पृष्टा पृष्ठदेशम्। पृष्ठ स्पृशते संस्पृष्टमङ्गैः। अङ्गमङ्गनादञ्चनाद्वा। श्रोणिः श्रोणतेर्गति चलनकर्मणः श्रोणिश्चलतीव गच्छतः। दोः शिताम भवति। दोः द्रवते। यानि शितानीति शाकपूणिः विषिताभवति। श्यामतो यकृत इति तैटीकिः। श्याम श्यामयतेः। यकृत् यथा कथा च कृत्यते। शितिमांसतो मेदस्त इति गालवः।

'शिताम' शब्द के उपर्युक्त भाष्य में यास्क कहते हैं, शिताम का अर्थ "भुजा" है। शाकपूणि आचार्य कहते हैं शिताम का अर्थ "योनि" है। तैटीकि कहते हैं "कलेजा" है। गालव कहते हैं, 'शिताम' नाम श्वेत मास अर्थात मेदो धातु का है। इत्यादि अनेक निरुक्तकारों का मत प्राप्त होने पर भी अन्त में यास्क को शिताम शब्द का अनवगत कहना पड़ा। इस प्रकार सैकड़ों अनवगत शब्दों पर भिन्न भिन्न निरुक्तकारों ने अपनी कल्पनायें दौड़ायी हैं, और कोई न कोई अर्थ अपने निरुक्तों में लिख दिया है। और इस प्रकार के निरुक्तों तथा इनके भाष्यों को प्रमाण मान कर उव्वट महीधर सायण, आदि ने वेदों पर भाष्य बनाए हैं। जिनका आधार ही कल्पित और शंकित है। उन भाष्यों का बताया हुआ यज्ञ कहाँ तक यथार्थ होगा, इस वस्तु का विद्वानों को गहरा विचार करना चाहिए। हमारा मन्तव्य तो यही है कि निघण्टु और निरुक्तों के अभाव के समय में और उनकी अर्थ विषयक कल्पित परम्पराओं से ही पिछले वैदिक साहित्य में हिंसामय अनुष्ठानों का प्रवेश हुआ है। और पवित्र वैदिक संस्कृति को हिंसात्मक होने का दाग लगाया है, यह वस्तु यजुर्वेद में बीज के रूप में थी, परन्तु शत पथादि ब्राह्मण ग्रन्थों में और श्रौत सूत्रों में इसने बड़े वृक्ष का रूप धारण कर लिया। आश्वलायन श्रौत सूत्र के द्वितीय अध्याय में कोई तीस से अधिक याज्ञिक पशुओं का वर्णन मिलता है। इस श्रौत सूत्र के टीकाकार पण्डित नारायण लिखते हैं 'पशु गुणक कर्म पशु" अर्थात यहाँ पशु शब्द से तात्पर्य पाशविक

प्रवृत्तियों से है। परन्तु पिछले टीकाकारों के इस प्रकार के समाधानों से हिंसामय प्रतिपादनों की वास्तविकता छिपायी नहीं जा सकती। तब तो हमको यह कहे बिना नहीं चलता कि महर्षि याज्ञवल्क्य और उनके अनुयायी ब्राह्मणों ने वेदों की मौलिक संस्कृति का प्रधान रूप से परिवर्तन कर दिया था, उसी के परिणाम स्वरूप पिछले श्रौत सूत्र, धर्मसूत्रों और गृह्य सूत्र के निर्माताओं ने *याग यज्ञों में, पितृकर्मों में* तथा मधुपर्क आदि में मांस की आवश्यकता बतायी है, जो परमार्थतः अनावश्यक है।

ब्राह्मणकालीन यज्ञ

यज्ञ शब्द 'यज् धातु' से 'न' प्रत्यय लगाने पर बनता है। और इसका अर्थ पूजा अथवा दान होता है 'इज्यन्ते हविर्दीयतेऽत्र इति यज्ञ' अथवा इज्यते पूज्यते देवताऽत्र इति यज्ञ'। इस प्रकार मूल में यज्ञ यह अनुष्ठान देवताओं की पूजा के निमित्त किया जाता था और उसमें घृत यव व्रीहि आदि से बने हुये पुरोडाश की आहुतियां दी जाती थीं। परन्तु ज्यों ज्यों पुरोहितों का इन अनुष्ठानों से अधिकाधिक लाभ होता गया, त्यों त्यों अनेक बड़े बड़े यज्ञों की सृष्टि करते गये। प्रारम्भ में प्रत्येक अधिकार प्राप्त वैदिक धर्मानुयायी गृहस्थ अपने घर में पांच प्रकार के यज्ञ करते थे—

यदधीते स ब्रह्मयज्ञो, यज्जुहोति स देवयज्ञो, यत्पितृभ्य स्वधा करोति स पितृयज्ञो, यद्भूतेभ्यो बलिं हरति स भूतयज्ञो, यद्ब्राह्मणेभ्योऽन्नं ददाति स मनुष्य यज्ञ इति'। ६॥ एते पञ्चमहायज्ञाः।

अर्थात्—शास्त्राध्ययन को ब्रह्मयज्ञ कहते हैं, अग्नि में अपने भोज्य पदार्थ की आहुति देना देवयज्ञ है, पितरों के निमित्त स्वधाकार पूर्वक पिण्ड देना पितृयज्ञ, भूतों के निमित्त बलि देना भूतयज्ञ, और अतिथि रूप से आये हुए ब्राह्मणों को भोजन देना मनुष्य-यज्ञ कहलाता है।

इन पाचों यज्ञों को शास्त्र में महायज्ञ के नाम से निर्दिष्ट किया है। भारतीय वैदिक धर्म की सभ्यता की जड़ ये ही पञ्च महायज्ञ थे। शास्त्र पठन पाठन की परम्परा देवताओं की पूजा, अपने पूर्व पुरुषों के प्रति श्रद्धा निम्नकोटि के देव जो पृथिवी की सतह पर अदृश्य रूप में फिरा करते हैं उनको सन्तुष्ट रखने की भावना, और आगन्तुक अतिथि (मेहमान) का सत्कार करना इत्यादि मानवोचित कर्त्तव्य आज भी हिन्दू जनता में दृष्टि गोचर होते हैं। ये उक्त पञ्च-महायज्ञों का ही रूपान्तर है।

उक्त पञ्च महायज्ञों का उद्देश्य कर पुरोहित वर्ग रह गये होते तो मूल वैदिक संस्कृति में जो प्रचुर परिवर्त्तन हुआ वह नहीं होता। परन्तु याज्ञवल्क्य जैसे ब्रह्मनिष्ठ विद्वानों ने और अगस्ति ऋषि जैसे वैदिक धर्म के प्रचारकों ने वेदों की मौलिकता और तज्जन्य वैदिक संस्कृति की उतनी चिन्ता नहीं की, जितनी कि उन्होंने अपने विचारों और उद्देशों की की। सभी ब्राह्मण विद्वान् दीक्षित अवस्था में मांस न खाने और गोवध न करने के विषय में एकमत थे, फिर भी याज्ञवल्क्य उनके साथ नहीं रहे क्योंकि वे ब्रह्मवादी थे अन्न और मांस में उन्हें कोई अन्तर नहीं दीखा, और

अपना वाजसनेय नामक सम्प्रदाय चला करके यज्ञों में पशुवध करना निर्दोष माना[१]।

अगस्त्य ऋषि ने नर्मदा और विन्ध्याचल पर्वत को लाँघ कर वैदिक धर्म के प्रचारार्थ दक्षिणापथ में प्रवेश किया और धर्म का प्रचार शुरू किया। परन्तु उनसे कई कठिनाइयाँ सामने आईं, तत्कालीन वहाँ के मनुष्य जंगली और मांसाहारी होने के कारण अगस्त्य को और खास करके उनके साथ के नौकरों को भोजन की कठिनाई उपस्थित हुई, अगस्त्य स्वयं तो कन्द फलादि खाकर भी रह सकते थे, परन्तु उनके आदमियों से इस प्रकार रहना कठिन था। परिणाम स्वरूप उन्होंने यज्ञ में पशुवध कर उसमें मांस से नौकरों का पेट भरने की व्यवस्था की[१]।

---

१ स धेन्वै चानडुहश्च नाश्नीयात्। धेन्वनडुहौ वा इदं सर्वं बिभृतस्ते देवा अब्रुवन् धेन्वनडुहौ वा इदं सर्वं बिभृतो हन्त! यदन्येषां वयसां वीर्यं तद् धेन्वनडुहयोर्दधामेति स होवाच याज्ञवल्क्योऽश्नाम्येवाहं मांसलं चेद् भवतीति। 'शतपथब्राह्मण' ३।१।२।२१

अर्थ—गाय और बैल को नहीं खाना चाहिये, क्योंकि गाय और बैल ये सबके आधार हैं। देवताओं ने कहा—हमने सर्व पशुओं की शक्ति गाय और बैल में रखकर इनको प्रजा का आधार बना दिया है इसलिए गाय और बैल न खाया जाय। इस पर याज्ञवल्क्य बोले—जो गाय और बैल मांसल होता है उसको मैं खाता हूँ।

होत्रेणेष्ट्वाऽन्तमेवापश्यत्, स दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वाऽन्तमेवापश्यत्, स आग्रहायणेनेष्ट्वाऽन्तमेवापश्यत्, स चातुर्मास्यैरिष्ट्वाऽन्तमेवापश्यत, स पशुबन्धेनेष्ट्वाऽन्तमेवापश्यत, सोऽग्निष्टोमेनेष्ट्वाऽन्तमेवापश्यत्, स राजसूयेनेष्ट्वा राजेति नामाधत्त साऽन्तमेवापश्यत्, स वाजपेयेनेष्ट्वा सम्राडिति नामाधत्त सोऽन्तमेवापश्यत्, सोऽश्वमेधेनेष्ट्वा स्वाराडिति नामाधत्त साऽन्तमेवापश्यत्, स पुरुषमेधेनेष्ट्वा विराडिति नामाधत्त सोऽन्तमेवापश्यत्, स सर्वमेधेनेष्ट्वा सर्वराडिति नामाधत्त सोऽन्तमेवापश्यत्, स हीनैर्दक्षिणावद्भिरिष्ट्वाऽन्तमेवापश्यत्, सोऽहीनैरदक्षिणावद्भिरिष्ट्वाऽन्तमेवापश्यत, सत्रेणोभयतोऽतिरात्रेण ततो यजेत, वाचं हवै होत्रे प्रायच्छत्, प्राणमध्वर्यव, चक्षुरुद्गात्रे, मनो ब्रह्मणेऽङ्गानि होतृकेभ्य, आत्मानं सदस्येभ्य, एवमानन्त्यमात्मानं दत्वाऽनन्त्यमश्नुवेतेति, तद् या दक्षिणा अनयत् ताभिरात्मानं निष्क्रीणीय तस्मादेतेन ज्योतिष्टोमेनाग्निष्टोमेनात्मनिष्क्रयणेन सहस्रदक्षिणेन पृष्ठशमनीयेन, त्वरेत यो ह्यनिष्ट्वा पृष्ठशमनीयेन प्रेत्यात्मानं सो निष्क्रीणीय प्रैतीति ब्राह्मणम् ॥८॥

(पूर्वभाग ५ प्रपा पृ० ६७ गोपथ ब्राह्मण)

अर्थ—प्रजापति ने इच्छा की कि यज्ञ करके अविनाशी बनूं। उसने अग्निस्थापन कर पूर्णाहुति यज्ञ किया और देखा तो अन्त ही पाया, अग्निहोत्र करके देखा तो अन्त ही पाया, फिर दर्शपूर्ण मास यज्ञ किये और देखा तो अन्त ही पाया, आग्रहायण यज्ञ किया और देखा तो अन्त ही पाया, तब चातुर्मास्य यज्ञ किये और

ऱ्खा तो अन्त ही देखा पशुबन्ध यज्ञ किया और देखा तो अन्त ही देखा अग्निष्टोम से यज्ञ किया और देखा तो अन्त ही देखा, राजसूय यज्ञ करके राजा नाम धारण किया और अपना अन्त ही देखा, वाजपेय यज्ञ करके सम्राट् पद प्राप्त किया पर वह का अन्त ही देखा,अश्वमेध यज्ञ कर के स्वाराट् पद प्राप्त किया और देखा तो अपना अन्त ही देखा, उसने पुरुषमेध यज्ञ करके विराट यह पद धारण किया और देखा तो अपना अन्त ही देखा, सर्व मेध करके सर्वराट् पद धारण किया और देखा तो अपना अन्त ही देखा, उसने अहीन दक्षिणावत यज्ञ किया और देखा तो अपना अन्त ही देखा हीन दक्षिणावत् यज्ञ किया और देखा तो अपना अन्त ही देखा, उसने अन्त में सत्र द्वारा दो अतिरात्र तक यज्ञ किया, अपनी वाचा होता को अर्पण की, प्राण अध्वर्यु को, नेत्र उद्गाता को, मन ब्रह्मा को अन्या य अङ्गों को होतृकों को, और आत्मा को सदस्यों को प्रदान करके आनन्त्य लाभ किया उसने जो दक्षिणा दी थी उनसे आत्मा को ऋण-मुक्त कर इस ज्योतिष्टोम से अग्निष्टोम से आत्मा की ऋण मुक्ति से सहस्रदक्षिणा वाले वृप्रशमनीय के लिए जल्दी कर, जो वृप्रशमनीय द्वारा इष्टि न कर परलोक जाता है, वह आत्मा का निष्क्रयण न करके जाता है यह ब्राह्मण समूह का मत है।

यज्ञ क्रम और प्रजापति के अनुष्ठान के वर्णन से जो फलित होता है, वह यही कि प्रारम्भिक छ यज्ञ साधारण और समय प्रतिबद्ध यज्ञ थे, इनमें पशुबलि का कोई विधान मालूम नहीं

होता। पशुवध द्वारा होने वाला सप्तम यज्ञ, और इसके आगे सभी यज्ञ राजा महाराजा द्वारा कराये जाते थे, जो काम्यात्मिक थे, इन यज्ञों में हिंसा अवश्य होती थी, परन्तु उनमें न अधिकांश पशु उन बड़े बड़े यज्ञों में उपस्थित होने वाले आमन्त्रित मेहमानों के भोजनार्थ मारे जाते थे, क्योंकि क्षत्रिय जाति में मांस भक्षण और मदिरापान का रिवाज बहुत पुराने जमाने से चला आता था।

अश्वमेधादि यज्ञ में मारित पशुओं की जो संख्या लिखी गई है, वह इन आमन्त्रित मेहमानों के भोजनार्थ ही समझना चाहिए। यज्ञ में जो पशु मारा जाता था वह यज्ञाधिकारियों में ही बांट दिया जाता था। यज्ञाधिकारी लोग उस व्यहृत पशु का अंश और स्वर्गीय विभूति मानकर अपने हिस्से को पवित्र पदार्थ के रूप में संचित रखते थे, न कि उनका भक्षण करते थे। भारतीय सभ्यता का खरा स्वरूप जाने बिना विदेशी वेदानुशीलक विद्वानों का यह कथन केवल हास्यास्पद है कि भारतीय आर्य देवता के तुष्ट्यर्थ घोड़े का बलिदान कर उसे पकाकर खाते थे। उनका यह कथन प्राचीन भारतीय आर्यों को तो लागू नहीं होता, क्योंकि उनके समय में पशुबलि प्रचलित नहीं थी। अश्वमेध आदि यज्ञों की सृष्टि ही ब्राह्मणकाल में हुई है, जो वैदिककाल से हजारों वर्ष पीछे का समय है। और अश्वमेधादि में अश्व का जो वध होता था, वह खाने के लिए नहीं परन्तु उसको स्वर्ग प्रदान कराने की भावना से होता था और उनके पवित्र अंगों को यज्ञाधिकारी इसलिये बांट लेते थे कि यह स्वर्गीय और धन्यपशु है।

जर्मनी के आर्यों की तरह भारतीय आर्य घोड़ा नहीं खाते थे, केवल घोड़ा ही नहीं एक शफजाति के सर्वप्राणी अभक्ष्य माने गए हैं[1] और इनको खाने वाले के लिए वैदिकशास्त्रों में प्रायश्चित्त विधान किया गया है। इस परिस्थिति में भारतीय आर्यों के ऊपर घोड़ा खाने का आरोप देना अविचारपूर्ण है।

पाकयज्ञ और हविर्यज्ञ

वैदिक शास्त्रकारों ने यज्ञों को सामान्यरूप से दो विभागों में बांट दिया है जिनके नाम पाकयज्ञ और हविर्यज्ञ है।

'साय प्रातरिमौ होमौ स्थाली पाको नवश्च य ।
बलिश्च पितृयज्ञश्चा-ष्टकश्च सप्तम स्मृत ॥

इत्येते पाकयज्ञा

अर्थ—प्रात और शाम के होम, नया स्थाली पाक, बलि, पितृ पिण्ड, अष्टक और पशुयज्ञ ये पाकयज्ञ हैं।

टिप्पणी—१

क्रव्यादाञ्छकुनान् सर्वांस्तथा ग्रामनिवासिन ।
अनिर्दिष्टांश्चैकशफान्, टिट्टिभं च विवर्जयेत् ॥११॥

अर्थ—सब प्रकार के मांस भक्षक पक्षी, तथा अनुक्त ग्राम्य पक्षी, एक शफ (अर्थात् एक खुरवाले सभी प्रकार के पशु और टिट्टिभ इनके भक्षण का त्याग करे

'अग्न्याध्येयमग्निहोत्रं, पौर्णमास्यमावास्यये ।
नवेष्टिश्चातुर्मास्यानि, पशुबन्धोऽत्रसप्तम' ॥

—इति हविर्यज्ञ।

अर्थ—अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, पौर्णमास्यमावास्या को किये जाने वाले यज्ञ, नया धान्य आने पर किया जाने वाला यज्ञ तीनों चातुर्मास्यों सम्बन्धी किया जाने वाला यज्ञ, और सातवा पशुबन्ध यज्ञ ये सात हविर्यज्ञ कहलाते हैं।

बौधायन गृह्यसूत्र म यज्ञ इक्कीस प्रकार के बताये गये हैं—

'एक—विंशतिसंस्थोयज्ञ ऋग्यजुस्सामात्मकच्छन्दोभिश्रिता ग्राम्यारण्य पश्वोषधिभिर्हविष्मान दक्षिणाभिरायुष्मान ॥

स चतुर्धा ज्ञेय उपास्यश्च—स्वाध्याययज्ञ, जपयज्ञ कर्मयज्ञ, मानसश्चेति ॥ तेषा परस्परात् दशगुणोत्तरोवीर्येण ब्रह्मचारि-गृहस्थ वनस्थ यतीनामविशेषेण प्रत्येकश ॥ सर्वं एवैत गृहस्थस्याप्रतिषिद्धा क्रियात्मकत्वात् ॥ ना क्रियोब्राह्मणो नासंस्कारो द्विजो, नाविद्वान विप्रो नैते हीन श्रोत्रिय नाश्रोत्रियस्य यज्ञ ॥

(परिभा० प्रश्न० प्र० प्र० पृ० १२१)

अर्थ—यज्ञ इकीस प्रकार का है—
ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेदा के छन्दों से रचित है ग्राम्य, आरण्यक, पशु और औषधियों के हविष्य से किया जाने वाला, दक्षिणाओ से आयुष्मान्, इक्कीस प्रकार का यह यज्ञ मौलिक चार

विभागों में विभक्त जानना चाहिए और इसकी उपासना करनी चाहिए। वे चार विभाग ये हैं—

स्वाध्याय,जप, कर्म,मानसिक। इनमें से परस्पर एक से दूसरा दशगुणी शक्तिवाला है, जैसे स्वाध्याय से जपयज्ञ दशगुणा, जप से कर्मयज्ञ दशगुणा और कर्मयज्ञ से मानसिक जप दशगुणा वीर्यवान् है। ये चारों प्रकार के यज्ञ ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासी के लिए निर्विशेषतया उपासनीय हैं और क्रियात्मक रूप होने से गृहस्थ के लिए ये सर्व विहित हैं, क्रियाहीन ब्राह्मण नहीं, संस्कार हीन द्विज नहीं,विद्वत्ता-हीन विप्र नहीं। इन सब गुणों से हीन श्रोत्रिय नहीं होता और अश्रोत्रिय को यज्ञ करने का अधिकार नहीं।

शास्त्रकारों ने यज्ञ को गृहस्थों के लिए एक प्रकार का वृक्ष माना है। कहा है—

> क्षमाऽहिंसादम शाखा, सत्य पुष्पफलोपमम् ।
> ज्ञानोपभोग्य उद्धाना, गृहिणा यज्ञपादप ॥

परिमा० प्र० प्र० अ० ६ पृ- १३१

अर्थ—क्षमा, अहिंसा, इन्द्रिय दमन, ये जिसकी शाखायें हैं सत्य जिसका पुष्प और फल है, ऐसा जो गृहस्थों का यज्ञरूप वृक्ष है, वह विद्वानों के ज्ञान द्वारा उपभोग्य चीज है।

पशुहिंसास्थानानि

कतिपय आधुनिक विद्वानों के कथनानुसार सभी वैदिक-यज्ञ हिंसात्मक होते थे, परन्तु यह कथन यथार्थ नहीं। हमने ऊपर जिन

यज्ञों का निरूपण किया है उनमें अधिकांश यज्ञ तो आहि गव्यादिक के पुरोडाश से ही होते थे। पाकयज्ञ जो सात प्रकार के कहे हैं, उनमें से भी एक पशुवध को छोड़कर शेष अहिंसक हैं। हविर्यज्ञों में भी पशुवध तथा अन्य एक दो यज्ञों में पशुवसा से हविष्य का काम लिया जाता था, शेष सभी शुद्ध घृत के हविष्यान्न से किये जाते थे। इस विषय में वसिष्ठस्मृतिकार कहते हैं—

"पितृदेवाऽतिथि—पूजायां पशु हिंस्यात्।
मधुपर्के च यज्ञे च, पितृदैवत कर्मणि।
अत्रैव च पशुं हिंस्यान्नान्यथेत्यब्रवीन्मनुः ॥१॥

अर्थ—पितरों के तर्पणार्थ, देवता की पूजा के लिये पशु हिंसा करे।

मधुपर्क में (अतिथि सत्कार में) यज्ञ विशेष में और पितरों की पूजा में ही पशु का वध करे अन्यत्र नहीं, ऐसा मनुजी ने कहा है।

उपर्युक्त वसिष्ठ के वचन से यह तो निश्चित हो गया, कि मधुपर्क १, अष्टका २, और खास प्रकार के दैवत यज्ञ बिना अन्य यज्ञों में पशुवध नहीं किया जाता था, और जिन जिन कामों में पशु वध होता था, उनको वेदविहित मान कर किया जाता था, और उसको वास्तव में वध नहीं मानते थे। इस सम्बन्ध में वसिष्ठस्मृतिकार कहते हैं—

"नाकृत्वा प्राणिना हिंसा, मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणि वध स्वर्ग्य, स्तस्माद् याग वधोऽवध ॥२॥

अर्थ—प्राणी वध किये बिना कहीं भी मांस उत्पन्न नहीं होता और प्राणिवध स्वर्ग देने वाला नहीं है, इस स्थिति में यज्ञ में किये जाने वाले प्राणिवध का वध नहीं कहना चाहिए।

वसिष्ठ स्मृतिकार के उपर्युक्त मन्तव्य से हम सहमत नहीं हो सकते। यदि प्राणिवध स्वरूप से ही अस्वर्ग्य है तो यज्ञ में करने पर भी अस्वर्ग्य ही रहेगा, और उससे हिंसाजन्य दोष की आपत्ति अनिवार्य होगी, क्योंकि वैदिक मन्त्रों से अभिमन्त्रित करने पर भी वध्य पशु को वध के समय दुःख होता है यह निर्विवाद बात है और पर प्राणी को दुःख उत्पन्न करना यह दोष रूप है, इसका कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। मध्य काल के यज्ञों में पशुवध की प्रवृत्ति बढ़ जाने के कारण पिछले लेखक उसका सहसा विरोध नहीं कर सकते थे। पिछले लेखकों में उसका विरोध करने का साहस नहीं रहा। परिणाम स्वरूप "यज्ञ वधोऽवध" कहकर उसका समाधान किया।

मधुपर्क

वैदिक धर्म साहित्य में "मधुपर्क" यह शब्द अतिप्रसिद्ध है, पर इसका वास्तविक अर्थ बहुत कम मनुष्य जानते हैं। मधु शब्द यहां पर मधुर यानि मीठे पदार्थ का वाचक है, और पर्क शब्द का अर्थ है सम्पर्क यानि सम्बन्ध, इससे सिद्ध हुआ कि मधुपर्क

छ' को अर्घ्य मानते हैं तो दूसरे किन्हीं को, कोई मत किन्हीं को अर्घ्य मानते हैं, तो कोई दूसरे किन्हीं को परन्तु इन मत-भेदों से हमे कोई परिणाम नहीं निकालना है। इन उल्लेखों से हमें जो साराश मिला है, वह यही है कि प्राचीन भारतवासी आतिथ्य सत्कार में बड़े तत्पर रहते थे, या तो कोई मनुष्य आर्य भारत-वासी के घर आता तो आतिथ्य सत्कार पाता था। परन्तु यहां मधुपर्क के सम्बन्ध मे जो अर्घ्य कह गये हैं वे विशिष्ट प्रकार के मेहमान होते थे, उनके वर्ष या उससे अधिक समय के बाद अपने घर पर आने पर वैदिकधर्मी उनकी पूजा करते थे, जो प्राचीन परिभाषा मे अर्घ्यदान कहलाता था। उनके लिये मिष्टान्न आदि भोज्य पदार्थ तयार किये जाते थे, उनको मधुपर्क के नाम से उद्घोषित करते थ।

अर्घ्य और मधुपर्क का लक्षण

बौधायन गृह्य सूत्रे —

"अथ यद्युत्स्रक्ष्यन् भवति तामनुमन्त्रयते "गौर्धेनुभव्या माता रुद्राणा दुहिता वसूना स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभि। प्रणुवोच चिकितुषे जनाय मा गाम मनागामदितिं वधिष्ट। पिब तूदकं तृणान्यत्तु। ओं ३ उत्सृजत इति॥

तस्यामुत्सृष्टाया मेषमज वाऽऽलभते।
आरण्येन वा मासेन।
नत्वेवाऽमासोऽर्घ्य स्यात्।
अशक्तो पिष्टान्न ससिध्येत्।

प्र० प्र० अ० ३-सू० ८

मधुपर्क के लिये गाय लावनी पड़ती है, गाय को देख कर अर्घ्य 'गौर्धेनुर्भव्या' इत्यादि मन्त्र पढ़ कर उसको छोड़ने की आज्ञा दे दे तो छोड़ दे, उसके स्थान में मेष अथवा बकरे के मांस से मधुपर्क करे, बकरे के अभाव में किसी जंगली भक्ष्य पशु के मांस से मधुपर्क करना। परन्तु मांस बिना मधुपर्क नहीं होता आरण्यक पशु का मांस प्राप्त करने की शक्ति न हो तो फिर पिष्टान्न को मांस के प्रतिनिधि के रूप में पकाये।

कात्यायन स्मृति में —

मालत सुमनो पुत्त–मुदक दधि मधुतम् ।
अर्घ्यं दधि मधुभ्या च,मधुपर्को विधीयते ॥१८॥
कांस्येनैवार्हणीयस्य, निनयेदर्घ—मञ्जलौ ।
कांस्यापिधान कांस्यस्थ, मधुपर्कं समर्पयेत् ॥१९॥

खण्ड–२६, पृ० २ २

अर्थ —अक्षत, पुष्प, दधि, और जल इन चार पदार्थों से अर्घ्य बनाया जाता है, दधि और मधु से मधुपर्क किया जाता है ॥ १८ ॥

कांस्य के पात्र में रख कर अर्हणीय की अञ्जलि में अर्घ दे, और मधुपर्क कांस्य पात्र में रख कर उस पर कांस्य का ही ढक्कन देकर अर्घार्ह को अर्पण करे ॥ १९ ॥

शारदा तिलक में मधुपर्क का लक्षण—

सुधाणुना तत यां—न्मधुपर्कं मुखाम्बुजे ।
आज्य दधि–मधून्मिश्र–मेतदुक्त मनीषिणा ॥६९॥

अर्थ —उसके बाद जल के साथ मुख कमल में मधुपर्क रखने, घृत, दधि, मधु, यह इन पदार्थों के समुदाय को विद्वानों ने मधुपर्क कहा है।

मधुपर्क का उल्लेख करने वाले कतिपय शास्त्रीय उद्धरण ऊपर लिये हैं, उनसे ज्ञात होगा कि प्राचीन काल मे मधुपर्क किस प्रकार होता था। इन शास्त्रों में बौधायन गृह्य सूत्र सबसे प्राचीन हैं, इसके निर्माण समय में मांस का प्रचार सबसे अधिक था, इस लिये उन्हें यह लिखना पड़ा कि "न त्वमा ऽ मांसा ऽ र्घ्य" और मांस की अप्राप्ति में पिष्ट का कल्पित मांस बनाकर मधुपर्क करने की बात कहनी पड़ी।

गोभिल गृह्य सूत्रादि मे भी बौधायन की तरह गोमोचन की विधि लिखी है। परंतु उन में गौ के अभाव में भेड बकरा आदि के मांस से मधुपर्क करने का सूचन नहीं किया। इससे विदित होता है कि इन सूत्रों के बनने के समय तक मांसभक्षण का प्रचार बहुत कम हो गया था। और गौ का दान तथा उसका उत्सर्ग एक प्रकार का रिवाज मात्र रह गया था।

यही कारण है कि पिछले ग्रन्थकारों के नाम पर अमुक विधानों को निषिद्ध करना पड़ा। उद्भारदीयकार ने इस विषय में लिखा है—

देवराच सुतोत्पत्ति—मधुपर्के पशोर्वध ।
मांसदानं तथा श्राद्धे, वानप्रस्थाश्रमस्तथा ॥

अर्थ—देवर से पुत्र की उत्पत्ति मधुपर्क में पशु का वध, श्राद्ध में पितरों का मांस दान और वान प्रस्थाश्रम निषिद्ध कलि में माना है

उत्क्रान्त मेध पशु

पुरुष पशु से लेकर प्रत्येक मेध्य पशु किस प्रकार उत्क्रान्त मेध हुए इस विषय में ऐतरेय ब्राह्मण में नीचे लिखे अनुसार वर्णन मिलता है ।—

पुरुषं वै देवा पशुमालभन्त तस्मादालब्धान् मेध उदक्रामत्, सोऽश्वं प्राविशत्, तस्मादश्वो मेध्योऽभवत्, अथैन मुत्क्रान्त-मेध मत्याजन्त, (स किं पुरुषोऽभवत्) तऽश्वमालभन्त, सोऽश्वादाल ब्धादुदक्रामत्, सगां प्राविशत् तस्माद् गोमेध्योऽभवत्, अथैनमु त्क्रान्त मेधमत्यार्ज त (स गौर मेध्योऽभवत्) (अमेध्या गौरभवत्) ते गामालभन्त, स ग दालब्धादुदक्रामत्, सोऽविं प्राविशत्, तस्मा दविर्मेध्योऽभवत् (अथैनमुत्क्रान्त मेधमत्याजन्त) (स गवयोऽ-भवत्, (तऽविमालभन्त, सोऽवेरालब्धादुदक्रामत्, सोऽजं प्रावि शत्, तस्मादजो मेध्योऽभवत्, (अथैनमुत्क्रान्त मेधमत्यार्जन्त) (स उष्ट्रोऽभवत्) (सोऽजऽजात माममवारभत) (तस्मादेष एतेषां पशूनां प्रयुक्ततमो यदजः) तऽजमालभन्त, सोऽजादाल ब्धादुदक्रामत् स इमां प्राविशत्, तस्मादियं मेध्याभवत्, (अथैनम्

त्क्रान्त मेधमत्यार्जन्त) (स शरभोऽभवत्) त एव उत्क्रान्तमेधा, अमेध्या पशवस्तस्मादेतेषां नाश्नीयात्, तस्यामन्वगच्छत् सोऽनुगतो व्रीहिरभवत्, (तद् यत् पशौ पुरोडाशमनुनिर्वपन्ति, स मेधेन न पशुनेष्टमसत्, केवलेन न पशुनेष्टमसदिति स मेधेन हाऽस्य पशुनेष्ट भवति, केवलेन हाऽस्य पशुनेष्ट भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

अर्थ —देवताओं ने पुरुष को पशु मान, कर उससे यज्ञ किया तब पुरुष में से मेध निकल गया, और उसने घोड़े में प्रवेश किया, तब घोड़ा मेध्य बना, फिर इस उत्क्रान्त मेधको अति पीड़ित किया तब यह किं पुरुष हो गया, उन्होंने अश्व का आलम्भन किया, आलब्ध अश्व में से मेध निकल गया, वह बैल में प्रविष्ट हुआ, तब से गौ मेध्य हो गया, इसका आलम्भ किया, आलम्भ करने पर गौ में से मेधतत्त्व निकल गया, उसने भेड़ में प्रवेश किया, तब भेड़ मेध्य हुआ और उसका बलि किया, फिर उसने अज में प्रवेश किया और अज मेध्य हुआ, फिर अजका बलि किया तब वह अज से निकलकर पृथ्वी में प्रविष्ट हुआ, पृथ्वी मेध्य हुई, इनमें जो त्यक्त मेध पशु हैं वे अमेध्य हैं। अतः उनको न खाना चाहिए, पृथ्वी में घुसा हुआ मेध व्रीहि के रूप में प्रकट हुआ।

ऐतरेय ब्राह्मण के उपयुक्त वर्णन से यह ध्वनित होता है, देवताओं ने पुरुष, घोड़ा, बैल, भेड़, बकरे आदि का बलिदान

किया और बलि करने के बाद देखा तो बलि किये गये प्राणियों की जातियाँ ही अमेध्य पायीं, तब उन्होंने उद्घोषित किया कि मनुष्य, अश्व, वृषभ, भेड, बकरा, सब अमेध्य जाति के पशु हैं। इसलिये इनका न यज्ञ में बलि किया जाय न इनका माँस खाया जाय केवल ब्रीहि यव आदि धान्य ही मेध्य हैं, और उन्हीं का पुरोडाश बना कर यज्ञ किये जाय।

इसी प्रकार शत पथ ब्राह्मण के आधार पर भी भारतीय प्राचीन सभ्यता का इतिहास लिखनेवालों ने देवताओं द्वारा बलि किये हुए उत्क्रान्त मेध्य पशुओं की नामावली दी है,जो नीचे उद्धृत की जाती है —

"पहिले पहिले देवताओं ने मनुष्य को बलि दिया। जब वह बलि दिया गया तो यज्ञ का तत्त्व उस में से निकल गया और उसने घोड़े में प्रवेश किया। तब उन्होंने घोड़े का बलि किया। जब घोड़ा बलि दिया तो यज्ञ का तत्त्व उस में से निकल गया और उसने बैल में प्रवेश किया। तब उन्होंने बैल का बलि दिया। जब बैल बलि दिया गया तो, यज्ञ का तत्त्व उसमें से निकल गया, और उसने भेड़ी में प्रवेश किया। जब भेड़ी बलि दी गयी तो, यज्ञ का का तत्त्व उस में से भी निकल गया, और उसने बकरे में प्रवेश किया। तब उन्होंने बकरे का बलि दिया। जब बकरा बलि दिया तो, यज्ञ का तत्त्व उसमें से भी निकल गया, और तब उसने पृथिवी में प्रवेश किया, तब उन्होंने उसे खोजने के लिये पृथिवी को खोदा, और उसे चावल और यव के रूप में

पाया। इसी लिये अब भी लोग इन दोनों को खोद कर पाते हैं। जो मनुष्य इस कथा को जानता है उस को (चावल आदि) का हव्य देने से उतना ही फल होता जितना कि इन सब पशुओं के बलि करने से"। [श० ८५ (६८]

इसके पूर्व दी गयी ऐतरेय ब्राह्मण की अमेध्य सूची में किं पुरुष, गवय, उष्ट्र, शरभ, इन नामों का भी उल्लेख मिलता है। परन्तु इन की क्रमबद्धता ठीक ज्ञात नहीं हुई, इस कारण इन नामों को हमने कोष्ठक में रख दिया है। ऐतरेय ब्राह्मण तथा शतपथ ब्राह्मण के समय से ही पशुयज्ञों की वृद्धि के बदले उनकी निर्जीवता होने लगी थी। यज्ञ में जो भी पशु बलिदान के लिये मारा जाय, वह मेध्य होना चाहिए यह ब्राह्मण ग्रन्थों का अटल नियम था। मनुष्य, अश्व, बैल भेड़ बकरों के मेध्य न होने के कारण यज्ञों में इतना पशुवध नहीं होता था, जितना अवैदिक विद्वान् मानते हैं। बहुतेरे पशु पक्षियों को पहिले से ही अमेध्य मान रक्खा था, इसलिये उन्हें यज्ञों के काम में नहीं ला सकते थे, और बैल भेड़ बकरे आदि अमेध्य हो जाने के बाद यज्ञों में से मांस और वपा उठ से गये थे, केवल पितृ कार्य और मधुपर्क में मांस रह गया था, परन्तु इन दो कामों में भी मांस का उपयोग कम होता जाता था। यज्ञ में तो गौ अमेध्य उद्घोषित हो ही गया था, और मधुपर्क में भी अर्हणीय गौ का उत्सर्ग करवा देते थे, परिणाम स्वरूप मांस का स्थान पिष्ट साधित कृत्रिम मांस लेता जाता था। यही बात पितृ कार्य में भी थी। श्राद्ध जीमने वाले

पशुमास के बदले पिष्ट घृत साध्य खीर अथवा अन्य पकवानों को अधिक पसन्द करते थे, इस कारण पितर भी उन पदार्थों से ही सन्तुष्ट हो जाते थे।

हिंसा कम होने के कारण

ऊपर हम देख आये हैं कि ऋक् संहिता और सामसंहिता के सम्पन्न होने तक वैदिक यज्ञों में पशुहिंसा का नाम तक नहीं था, परन्तु यजु तथा अथर्व के समय से यज्ञों में पशुबलि की बाढ़ आने लगी थी, क्योंकि उन दो प्राचीन वेद संहिताओं में भी कई नये सूक्त मिल गये थे, जिनमें कि हिंसा को प्रोत्साहन देने वाले संदिग्ध वाक्य थे। पिछली दो कृतियों में तो भ्रामक सूक्तों से भी अधिक स्पष्ट हिंसा के विधान दृष्टिगोचर होते थे, दुर्भाग्य योग से उस समय में वेदों का स्पष्ट अर्थ बताने वाले निघण्टु भी नामशेष होगये थे। इस कारण से उस समय के विधानों में पशुबलि ने अपना स्थान जमा लिया, परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रही। प्रथम तो भारत के आर्यजनों की भावना ही ऐसी कोमल थी कि वे प्राणिवध जैसे निर्दय कामों में आनन्द नहीं पाते थे। अनार्य जातियों के अतिरिक्त केवल द्विजाति ही नहीं शूद्र भी प्राणीहिंसा करने से हिचकिचाया करते थे। इसमें क्षत्रिय जाति अपवाद रूप अवश्य थी, परन्तु वैदिक धर्म के उपदेशकों ने उन्हें भी ऐसी शिक्षा दे रखी थी कि, यज्ञ में की गई पशुहिंसा ही पाप जनक नहीं होती, इस शिक्षण से क्षत्रियजाति का भी अधिकांश भाग अहिंसक [illegible] केवल छोटे बड़े राजा जो यज्ञ

ब्राह्मणों को दान दक्षिणा देने में समर्थ होते थे, वे ही यज्ञ कराते थे, और उनके यज्ञों में वैध हिंसा होती थी। ईसा के पूर्व छठी शताब्दी तक इस प्रकार की हिंसा होती रही तब तक मधुपर्कों पितृयज्ञों में भी मांसका व्यवहार सर्वथा बंद नहीं हुआ था परंतु उनके बाद सभी प्रकार के हिंसात्मक अनुष्ठान धीरे धीरे बंद होने लगे, जिसके अनेक कारण हैं। प्रथम तो राजा लोग और सेठ साहूकार लाखों रुपया खर्च कर जो बड़े बड़े अनुष्ठान कराते थे उनकी भावनायें शिथिल पड़ चुकी थीं। अधिकांश क्षत्रियों की मनो भावनायें उपनिषदों की चर्चा की तरफ झुक गयी थीं। कुछ यजमान यजन वाले धनाढ्य गृहस्थ भगवान बुद्ध और महावीर के उपदेशों से अहिंसा धर्म के उपासक बन चुके थे और बनते जा रहे थे। इस परिस्थिति में श्रोत्रिय ब्राह्मणों का यज्ञार्थ श्रम व्यर्थ जान बन्द हो गये, फिर भी कुछ पीढ़ियों तक यज्ञ परंपरा चलती रही, परन्तु इस समय के यज्ञों में होता, अध्वर्यु, उद्गाता ब्रह्मा आचार्य, पुरोहित आदि को वह दान दक्षिणा न मिलती जो पूर्वकाल में अति अधिकारी को सौ से लगाकर हजार हजार सुवर्ण सिक्कों के रूप में मिलती थी। अन्त में याज्ञिकों ने अपनी दिशा बदली और पूर्वकालीन यज्ञ पशुवध आदि की वह प्रवृत्तियां कलियुग के नाम से बन्द करदी, और वैदिक धर्म के स्थान स्मार्त्त पौराणिक आदि अनेक सम्प्रदायों का संगठन किया और ऐसा करके वे जैन तथा बौद्ध सम्प्रदायों के साथ खड़े रह सके।

ऊपर के विवरण से ज्ञात होगा कि धार्मिक हिंसा बौद्ध और जैनों के उपदेश से नहीं, परन्तु उसके साथ प्रजा के मनोभाव का बदलना और यजमानों का घटना यह भी याज्ञिक हिंसा का ह्रास करने में मुख्य कारण था। इन सब कारणों से आज वैदिक यज्ञ और पितृयज्ञ पशुबलि से मुक्त हैं। इतना ही नहीं किन्तु मधुपर्क पद्धति भी आज आमूल चूल परिवर्तित हो चुकी है, "मांस बिना मधुपर्क नहीं हो सकता" यों कहने वाले इस सिद्धान्त को मानने वाला आज कोई भी ब्राह्मण दृष्टिगोचर नहीं होता।

गोमांस भक्षण का निराधार आरोप

अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बी का यह मत है कि बौद्ध और जैनों के विरोधी प्रचार ने बड़ी मुश्किल से ब्राह्मणों में से गौ बैल का मांस खाने का रिवाज बन्द करवाया। हमारी राय में कौशाम्बी जी का यह मत प्रामाणिक नहीं है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य के गोमांस भक्षण का स्वीकार करने का अर्थ यह नहीं हो सकता कि उस समय सारा ब्राह्मण-समाज गौ मांस खाता था। देवताओं ने जब गौ मेध किया और गौ अमेध्य हो गया उसके बाद याज्ञवल्क्य के सिवाय न किसी ब्राह्मण ने गौ का यज्ञ में बलिदान किया, न गौ मांस ही खाया, गाय और बैल सर्व साधारण के लिए विशेष उपयोगी प्रतीत होने लगे, तब देवताओं ने याज्ञवल्क्य से कहा—गाय बैल अनेक प्रकार से संसार के उपयोगी प्राणी हैं, हमने इनमें सभी प्राणियों की शक्ति रखदी है, अतः गाय बैल को न

मारना चाहिए न खाना चाहिए। देवताओं के उस प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा मैं इनका मांस अवश्य खाता हूँ, यदि ताजा हो तो। यह हकीकत नीचे लिखे शतपथ ब्राह्मण के उद्धरण से प्रकट होती है।

'स धे वैश्वानडुहश्च नाश्नीयात। धेन्वनडुहौ वा इदं सर्वं बिभृतस्ते देवा अब्रुवन धेन्वनडुहौ वा। इदं सर्वं बिभृतो हन्त। यदन्येषाम् वयसा वीर्यं तद्धेन्वनडुहयोर्दधामेति— तस्माद्धेन्वनडुहौ नाश्नीयात् तदुहोवाच याज्ञवल्क्योऽश्नाम्येवाह मांसल चेद् भवतीति'

'अश्नाम्येवाह मांसल चेद् भवति' इस वाक्यांश में आये हुये 'अश्नामि' इस वर्त्तमान सूचक क्रिया पद का कौशाम्बी 'खाऊंगा' ऐसा भविष्य सूचक अर्थ करते हैं, यह भूल है। याज्ञवल्क्य ने अपनी वर्त्तमान स्थिति का स्वीकार मात्र किया है न कि भविष्य में खाने का आग्रह। 'मांसल चेद् भवति' इस वाक्य खंड का वे मांस बढ़ना अर्थ करते हैं, यह दूसरी भूल है, मांस बढ़ने के साथ इस वाक्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। मांसल शब्द प्रयोग पर याज्ञवल्क्य यह कहना चाहते हैं कि, मैं मांस खाता अवश्य हूँ पर सभी गाय बैलों का नहीं, किन्तु जो मोटा ताजा और तंदुरुस्त होता है उसीका खाता हूँ।

याज्ञवल्क्य ने वाजसनेयक में गौ का को मेध्य माना है, इस बात को हम स्वीकार करते हैं, परन्तु गौतमधर्म सूत्र के अतिरिक्त

किसी धर्मशास्त्र में 'गोवध का निषेध नहीं'– कौशाम्बी महाशय का यह कथन केवल भ्रम-पूर्ण है। 'वसिष्ठ धर्मशास्त्र' में वध्या वध्य प्राणियों के निरूपण में 'धेनुनडुहोरभक्ष्य' ॥४३॥ इस सूत्र में वसिष्ठजी ने गौ तथा न्यवर्जित शरभ जाति को अवध्य बताया है, इतना ही नहीं उन्होंने गौ-वध का कड़ा प्रायश्चित भी लिख दिया है जो इस प्रकार है—

गां चेद्धन्यात्तस्याश्चर्मणाऽऽर्द्रेण परिवेष्टितः षण्मासान् कृच्छ्रं तप्तकृच्छ्रं वा तिष्ठेत् ॥ १८ ॥

अर्थात्—अगर कोई गौ का वध करे तो उसके आर्द्र चमड़े से अपने शरीर को वेष्टित कर छः मास तक कृच्छ्र अथवा तप्त कृच्छ्र करे।

अध्यापक धर्मानन्द कहते हैं– दीक्षितों के लिए गोमांस खाने न खाने की चर्चा थी, दूसरे बिना विरोध गोमांस खाते थे। हम समझते हैं अध्यापक धर्मानन्द का यह कथन ब्राह्मण जाति विषयक अरुचि मात्र का द्योतक है। गो मांस के सम्बन्ध में उस समय के ब्राह्मणों में कितनी घृणा फैली हुई थी, यह तो ब्राह्मणों के धर्मशास्त्र पढ़ने से ही जाना जा सकता है। उनकी दृष्टि में जो पदार्थ अभक्ष्य होता, उसकी निवृत्ति के लिए वे उसे गो-मांस तुल्य बताकर छोड़ने का उपदेश करते थे। इस विषय के दृष्टान्तों से उनके शास्त्र भरे पड़े हैं, हम उनमें से केवल एक ही उदाहरण यहां प्रस्तुत करेंगे।

घृतं वा यदि वा तैलं, विप्रोनाद्यान्नखस्थितम् ।
यमस्तदशुचि प्राह, तुल्यं गोमांसभक्षणैः ॥३०॥

अर्थ—नखों पर रखा हुआ घृत अथवा तैल ब्राह्मण न खाय, क्योंकि यमऋषि उसे गोमांस भक्षण के बराबर अपवित्र कहते हैं।

वैदिक निघण्टु तथा यास्क निरुक्त में गौ का नाम अघ्न्या लिखा है इससे भी सिद्ध होता है कि ब्राह्मणों की दृष्टि में वैदिक काल से ही गौ अवध्य प्रतीत होती आई है इस स्थिति में यह कहना कि बौद्ध और जैनों ने ब्राह्मणों में से गोमांस भक्षण दूर करवाया इसका कोई अर्थ नहीं रहता।

हम ऊपर कह आये हैं कि यज्ञ में से तो गोवध देवताओं के यज्ञ के अनन्तर निकल ही गया था केवल मधुपर्क में कभी कभी उसका वध अवश्य होता था, परन्तु अधिकांश अतिथियों के गो मोचन करवा देने से बहुधा वहां भी गोवध बन्द सा होगया था, और काम अन्य पशु के मांस से अथवा पिष्टसाधित मांस से लिया जाता था। धीरे धीरे अन्य पशु के मांस का स्थान भी पिष्टसाधित मांस के ले लेने से मधुपर्क में से भी पशुहत्या पौराणिक काल के पहले ही नष्ट हो चुकी थी।

अध्यापक कौशाम्बी भवभूति के 'उत्तर रामचरित' गत एक मधुपर्क विधि का उल्लेख करके यह बताना चाहते हैं कि भव भूति के समय तक अर्थात् ईसा की सप्तमी सदी तक ब्राह्मणों में गो मांस खाने की प्रथा प्रचलित थी। इसी कारण से भवभूति ने

वसिष्ठ के निमित्त किये गये मधुपर्क में कपिला बछिया के मारने की बात कही है।

श्रीयुत कौशाम्बी का यह कथन उनके नाटक विषयक अज्ञान को सूचित करता है। भवभूति अपने समय का नाटक नहीं लिख रहा है, किन्तु श्रीरामचन्द्र के समय त्रेता युग गत प्रसंगों को लिख रहा है। जिस समय का अभिनय हो उस समय की भाषा, भूषा वेष, अलंकार, रीति, रस्म, बताये बिना नाटककार अपने कार्य में कभी सफल नहीं हो सकता, भूतकालीन पात्रों को वर्त्तमान काल में तादृश रूप में खड़ा करने से ही ऐतिहासिक नाटकों का सच्चा आनन्द और पूर्व कालीन इतिहास का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। यदि भवभूति अपनी कृति में वर्णित पात्रों और रीति रस्मों को पूर्व कालीन रंग में न रंग अपने वर्त्तमान समय के रंग में रंगते और अपनी कृति को नाटक का नाम देते तो नाट्यकारों में वे अपयश के भागी बनते। इससे सप्तमी सदी में ब्राह्मणों में गो मांस भक्षण का रिवाज बताने वाला अध्यापक कौशाम्बी का कथन विद्वानों की दृष्टि में हास्यास्पद बन जाता है।

याज्ञवल्क्य स्मृति का प्रमाण

याज्ञ वल्क्यकृत शतपथ ब्राह्मण गत गो मांस भक्षण विषयक एक श्लोक में अध्यापक श्रीधमानन्द ने ब्राह्मण जाति पर गो मांस भक्षण का जो निराधार आरोप लगाया है, उसका संक्षिप्त उत्तर ऊपर के विवरण से मिल जाता है।

प्रयोग बतात थे, क्योंकि व यज्ञों क पक्क अनुयायी थे, और इन के समय में निघण्टु आदि का लोप हो जान के कारण यज्ञों में पशुबलि चल पड़ा था।

याज्ञवल्क्य ऋषि जी मास भक्षण को भयङ्कर पाप मानते थे। यह बात हम इन्हीं क वचनों से प्रमाणित कर सकते हैं।

याज्ञवल्क्य स्मृति के भक्ष्या भक्ष्यप्रकरण में याज्ञवल्क्य लिखत हैं।

देवतार्थ हवि शिग्रु, लोहितान् व्रश्चनांस्तथा।
अनुपाकृतमांसानि, विड्जानि कवकानि च ॥१७१॥
"याज्ञ० स्मृति" पृ० १९

देवतार्थ प्रस्तुत किया गया हव्य, सहेजना, वृक्ष का रस निर्यास, वृक्षच्छेद से निकलने वाला रस, यज्ञ बलि बिना का मांस, विष्ठा म उत्पन्न होन वाल पत्र शाक, और छत्राक इन का त्याग कर।

मास भक्षण के विषय में याज्ञवल्क्य का मन्तव्य

\+ \+ \+ \+ \+ \+

अत शृणुध्व मांसस्य, विधि भक्षण वर्जने ॥ १७८ ॥
प्राणात्यये तथा श्राद्धे, प्रोक्षिते द्विजकाम्यया।
देवान् पितॄन् समभ्यर्च्य, खादन् मांस न दोषभाक् ॥१७९॥

वसत्स नरके घोर, दिनानि पशुरोमभि ।
समितानि दुराचारो, यो हन्त्यविधिना पशून् ॥१८० ॥
सर्वान् कामानवाप्नोति, हयमेधफल तथा ।
गृहऽपि निवसन् विप्रो, मुनिर्मांस विवर्जनात् ॥ १८१ ॥

याज्ञवल्क्य स्मृति पृ ६०—६१

अर्थ—अब मांस भक्षण तथा उसके त्याग सम्बन्धी विधि सुनो —

प्राण सङ्कट में, श्राद्ध तथा यज्ञ में नियुक्त होकर ब्राह्मणों की इच्छा को मान देकर पितरों तथा देवों को बलि चढ़ाने के बाद शेष मांस का खाने वाला दोषी नहीं होता।

जो दुराचारी मनुष्य वैदिक विधि के बिना पशु की हत्या करता है, वह उन पशु के रोम परिमित दिनों तक घोर नरक में बसता है।

जो ब्राह्मण मांस को छोड़ता है उसकी सब इच्छायें पूर्ण होती हैं, अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता है, और वह घर में रहता हुआ भी मुनि कहलाता है।

याज्ञवल्क्य स्मृति के उपर्युक्त वर्णन से यह निश्चित होजाता है कि याज्ञवल्क्य गौ को मेध्य मानते हुए भी गोवध के हिमायती नहीं थे, इतना ही नहीं बल्कि याज्ञिक विधि के बिना पशु हत्या करने वालों को वे महापापी मानते थे और मांस का त्याग करने

वाले गृहस्थ को मुनि तुल्य कहते थे। क्या ? 'बैल तथा धेनु का मांस मांस बढाने वाला होने से मैं इनका मांस खाऊंगा' इस भाव वाले शब्द याज्ञवल्क्य के मुख से निकल सकते हैं ? जहां तक मैं थाड से वैदिक प्रथा का अर्थ समझ सका हूँ, यह कहने में कोई संकोच नहीं कर सकता कि महर्षि याज्ञवल्क्य केवल प्रोक्षित मांस ही कभी परिस्थितिवश खाते होंगे, सर्वदा नहीं।

याज्ञवल्क्य स्मृति में मधुपर्क में उन्होंने गौ का उल्लेख न करके 'महोक्ष वा महाज वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत' यह वाक्य लिखा है। इससे भी यही प्रतीत होता है कि वे वाजसनेयी होने से जात गौ को यज्ञ के लिए मेध्य मानते थे, न कि मधुपर्क में, अनेक गृह्यसूत्रकारों ने मधुपर्क में गौ बांधने का विधान किया है, तब याज्ञवल्क्य उनसे जुदा पड़कर बैल अथवा बकरा मधुपर्क के लिए उपकल्पित करने को कहते हैं। इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि शतपथ ब्राह्मण का निर्माण होने के उपरांत इन्होंने गौ को अन्य अन्य ऋषियों की भांति 'अघ्न्या' मान लिया होगा।

ऊपर के विवेचन से पाठकगण अच्छी तरह समझ सकते हैं कि, अन्य ब्राह्मणों की क्या गौ को मेध्य मानने वाले याज्ञवल्क्य स्वयं भी मांस भक्षी नहीं थे। शतपथ ब्राह्मण में उनके मुख से 'अश्नाम्येवाहं' ये शब्द कहलाये हैं उनका सम्बन्ध केवल गोमेध यज्ञ में प्रोक्षित किये हुए मांस से है।

अध्यापक कौशाम्बी की निराधार और अर्थहीन कल्पना

जैन श्रमणोंका मांस भक्षण सिद्ध करने की धुनमें श्रीकौशाम्बी ने 'भगवान् बुद्ध' नामक अपनी पुस्तक में पृ० २५० में लिखा है।

कालीन इतिहास बन चुका था, और पशुमांस के स्थान् पिष्टमांस बनाकर मधुपर्क, अष्टका श्राद्ध आदि निपटा लेते थे। पशुवध कराने वाले दिन दिन अहिंसक होते जाते थे, इस कारण से यज्ञीय पशु पर तलवार चलाने वालों को प्रोत्साहित करने के लिए निम्न प्रकार से विधान करने पड़ें।

मधुपर्के च यज्ञे च, पितृदैवतकर्मणि
अत्रैव पशवो हिंस्या, नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥४१॥

'मनुस्मृति'

अर्थ—मधुपर्क में यज्ञ में, पितृदैवत कर्म में ही ब्राह्मणों को पशुवध करना चाहिए अन्यत्र नहीं, ऐसा मनुजी ने कहा है।

इस प्रकार मनुजी के नाम की दोहाई देकर प्रोत्साहित करने पर भी तलवार चलाने के लिये कोई तैयार नहीं होता था तब नियुक्त को तलवार चलाने तथा मांस खाने को तैयार करने के लिये लिखना पड़ा।—

अनुमन्ता विशसिता, निहन्ता क्रय-विक्रयी।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च, खादकश्चेति घातकाः ॥११॥

मनुस्मृति

अर्थ —(अरे! अभिनियुक्त! तुम तलवार चलाने से हिचकिचाते क्यों हो, इस वध में आज्ञा देने वाला, उसके अङ्गोपाङ्गों को जुदा करने वाला, घात करने वाला, उसका मांस खरीदने वाला,

मास बचने वाला, उसका पकाने वाला, परोसने वाला और खाने वाला य सभी घातक है (तुम अस्ले नहीं)।

ऊपर लिखे अनुसार पशुघात जनित पाप का आठ भाग में बाँट देने पर कोई द्रव्य का लोभी ब्राह्मण घात करने को तैयार हो जाता, वह सोचता, दूसरे यदि मास खाकर घात न पातकी बनगे तब मैं तो घातकर के ही उस पापका अशहर बन चुका हूँ अब मास खाकर पाप को न भागी का भागीदार नहीं बनूंगा। इस पर अ य ब्राह्मण उसे समझाते—

"प्रोक्षित भक्षयेन्मांस, ब्राह्मणानाञ्च काम्यया।
यथाविधि नियुक्तस्तु, प्राणानामेव चात्यये।

मनुस्मृति अ ५

अर्थ —यथाविधि पशुवध के लिये नियुक्त किये हुए ब्राह्मण को, ब्राह्मणों की इच्छा को मान देकर प्रोक्षित मास खाना चाहिए। इस विधि से अथवा भूख से प्राण निकल जाते हों, उस स्थिति में मास खाने में दोष नहीं है।

उक्त रचना से स्पष्ट होता है कि मनुस्मृति के समय तक पशु बध यज्ञों में नियुक्त होने वाले और मास खाने वाले दुर्लभ होगये थे। इसलिये विशेष दक्षिणा देकर नियुक्त बनाया जाता था और ब्राह्मणों की इच्छा का अनुरोध दिखाकर मास खिलाया जाता था, परन्तु हिंसा यज्ञों की बाद शतपथादि ब्राह्मण काल में, चुकी थी। उपनिषद् काल में यह प्रवृत्ति नाम शेष

कालीन इतिहास बन चुका था, और पशुमास के स्थान् पिष्टमास बनाकर मधुपर्क, अष्टका श्राद्ध आदि निपटा लेते थे। पशुवध कराने वाले दिन दिन अहिंसक होते जाते थ, इस कारण से यज्ञीय पशु पर तलवार चलाने वालों को प्रोत्साहित करने के लिए निम्न प्रकार से विधान करने पडे हैं।

मधुपर्के च यज्ञे च, पितृदैवतकर्मणि
अत्रैव पशवो हिंस्या, नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥४१॥

'मनुस्मृति'

अर्थ—मधुपर्क में यज्ञ में, पितृदैवत कर्म में ही ब्राह्मणों का पशुवध करना चाहिए अन्यत्र नहीं, ऐसा मनुजी ने कहा है।

इस प्रकार मनुजी के नाम की दोहाई देकर प्रोत्साहित करने पर भी तलवार चलाने के लिये कोई तैयार नहीं होता था तब नियुक्त को तलवार चलाने तथा मांस खाने को तैयार करने के लिये लिखना पडा।—

अनुमन्ता विशसिता, निहन्ता क्रय-विक्रयी।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च, खादकश्चेति घातकाः ॥५१॥

मनुस्मृति'

अर्थ —(अरे अभिनियुक्त! तुम तलवार चलाने में हिचकिचाते क्यों हो, इस वध में आज्ञा देने वाला, उसके अङ्गोपाङ्गों को जुदा करने वाला, घात करने वाला, उसका मांस खरीदने वाला,

मांस बेचने वाला, उसको पकाने वाला, परोसने वाला और खाने वाला ये सभी घातक हैं (तुम अकेले नहीं)।

ऊपर लिखे अनुसार पशुघात जनित पाप का आठ भाग में बांट देने पर कोई द्रव्य का लोभी ब्राह्मण घात करने को तैयार हो जाता, वह सोचता, दूसरे बलि मांस खाकर घात के पातकी बनेंगे, तब मैं तो घातकर के ही उस पापका अधिकार बन चुका हूं अब मांस खाकर पाप के दो भागों का भागीदार नहीं बनूंगा। इस पर अन्य ब्राह्मण उसे समझाते—

"प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं, ब्राह्मणानाञ्च काम्यया।
यथाविधि नियुक्तस्तु, प्राणानामेव चात्यये।

मनुस्मृति अ० ५

अर्थ —यथाविधि पशुवध के लिये नियुक्त किये हुए ब्राह्मण को, ब्राह्मणों की इच्छा को मान देकर प्रोक्षित मांस खाना चाहिए। इस विधि से अथवा भूख से प्राण निकले जाते हों, उस स्थिति में मांस खाने में दोष नहीं है।

इन वचनों से स्पष्ट होता है कि मनुस्मृति के समय तक पशुवध यज्ञों में नियुक्त होने वाले और मांस खाने वाले दुर्लभ होगये थे। इसलिये विशेष दक्षिणा देकर नियुक्त बनाया जाता था और ब्राह्मणों की इच्छा का अनुरोध दिखाकर मांस खिलाया जाता था, परन्तु हिंसा यज्ञों की बाढ़ शतपथादि ब्राह्मण काल में ही उतर चुकी थी। उपनिषद् काल में यह प्रवृत्ति नाम शेष होरही

भी कोई कोई रूढ़िप्रिय ब्राह्मण शास्त्र का नाम लेकर पशुव ध यज्ञ कर लेते थे, परन्तु उन यज्ञों की सख्या और स्वरूप अत्यल्प होने के कारण आस पास के लोगों को मास मिलना तो दूर रहा उनकी खबर तक नहीं मिलती थी। जिनमें हजारों पशुओं का आमंत्रित मेहमानों के खाने के लिए वध होता था, वे अश्वमेध राजसूय यज्ञ आदि महायज्ञ भूतकालीन इतिहास बन चुके थे, राजा युधिष्ठिर के बाद न ऐसे यज्ञ हुये और न हजारों पशुओं का वध ही हुआ। भगवान् महावीर के समय में कोई कोई ब्राह्मण व्यक्तिगत छोटे यज्ञ करवाते अवश्य थे, परन्तु उनमें पशुओं का स्थान व्रीहि, यव और घृत ने लेलिया था।

मधुपर्क तथा पितृकर्म में भी पिष्टपशु और घृत पशुओं से काम लिया जाने लगा था, मात्र दैवत कर्म मे क्षत्रिय अथवा शूद्रादि निम्न जातिया पशुवध किया करते थे, परन्तु ये कार्य भी वैयक्तिक होने से कोई भी जाति इनमें उत्तरदायी नहीं थी। ईसा की पष्ठी शताब्दी में वैदिक धर्म के यज्ञादि अनुष्ठानों का इतिहास ऊपर लिखे मुजब है। इस परिस्थिति मे यह कथन कि ब्राह्मण हजारों पशु मारते और उनका मास गाव में बाटते जिससे जैन श्रमणों को निर्मासमत्स्य आहार न मिलने से उन्हें भिक्षा में मास मत्स्य लेना पड़ता था, कपोल कल्पना से अधिक महत्त्व नहीं रखता। जब यज्ञ में नियुक्त होने वाले ही नहीं थे और प्रोक्षित बलि मास भी खाने वाले नहीं मिलते थे, तब हजारों पशुओं का मास कौन खाता होगा? इस बातका कौशाम्बीजी ने विचार किया होता तो वे ऐसी निराधार बात लिखने को कभी तैयार नहीं होते।

अब रही चौराहे पर गाय का मांस बिकने की बात सो यह भी श्री कौशाम्बी ने ठंडे प्रहर की एक गप्प ही हांकी है। कौशाम्बी जिस समय की बात कहते हैं उस समय चौराहे पर तो क्या गौ मांस भक्षियों के लिए स्वप्न में भी गौ-मांस के दर्शन दुर्लभ होगये थे, सिवाय चमार के गोमांस किसी को दृष्टिगोचर तक नहीं होता था। अंग-मगध, काशी-कौशल, आदि देशों में बैल, बछड़ा, गौ अवध्य करार देने वाले राजकीय कायदे गो-वध पर कठोर प्रतिबन्ध लगाये हुये थे। जिनका अस्तित्व मौर्य-राज्यकाल तक बना रहा और किसी ने गोवध नहीं किया। ब्राह्मणों के धर्मशास्त्रों में ही नहीं बल्कि तत्कालीन अर्थशास्त्रों में भी गावध न करने कराने के नियम बने हुये थे, जिनका भंग करने वालों को कड़ी शिक्षा मिलती थी। एक याज्ञवल्क्य के सिवा न किसी धर्मशास्त्रकार ने गौ को वध्य माना, और वैदिक धर्मशास्त्रों के अनुसार चलने वाले किसी अर्थशास्त्र ने गोवध करने वाले को निरपराध ठहराया।

मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त के राज्यशासन का सूत्रधार कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में लिखता है—

"मृगपशूनामनस्थिमांस सद्योहतं विक्रीणीरन् ।
अस्थिमतः प्रतिपातं दद्युः । तुलाहीने हीनाष्टगुणम् ।
वत्सो वृषो धेनुश्चैषामवध्याः ।
घ्नतः पञ्चाशत्कोदण्डः । क्लिष्टघातं घातयतश्च ।
परिशूनमशिर-पादास्थि विगन्धं स्वयं मृतं च न विक्रीणीरन् ।
अन्यथा द्वादशपणो दण्डः । कौटि० अर्थशा० पृ० १

अथ—मृग पशुओं का, हड्डी बिना का मांस मारने के बाद तत्काल बेचा जाय। अगर हड्डी के साथ बेचे तो हड्डी के वजन के बराबर शुद्ध मांस अधिक दे। तौल में यदि कम दे तो जितना कम दे, उससे आठ गुणा दण्ड के रूप में दे। पशुओं में वृषभ (बैल) बछड़ा और गाय ये तीनों अवध्य हैं। पशु को जोरों का प्रहार दे अथवा क्लिष्ट प्रहारों से मारे तो उस कसाई से पचास पण (रुपया) वसूल किया जाय।

फूला हुआ, शिर पैर की अस्थि बिना का, गन्ध बदला और स्वयं मरे हुए का मांस न बेचे। इसके विपरीत चलने वाला बारह पण के दण्ड का भागी होगा।

कौटिल्य अर्थशास्त्र की उपर्युक्त बातें 'सूना (कसाईखाना) चलाने वाले को उद्देश करके लिखी गई हैं। आज के सभ्यता मानी राज्यों के उन अधिकारियों को जो कसाईखाना के निरीक्षक हैं, इन बातों से बोध लेना चाहिए। पूर्व के सूनाघरों में ताजा और दुर्गन्धि बिना का मांस बेचने का कसाइयों को अधिकार मिलता था। एक के नाम से दूसरे का मांस देकर धोखाबाजी न करे, इसलिए जिस पशु का मांस हो उसका शिर और पांव की हड्डी शामिल रखने की सूना घरवाले को हिदायत की जाती थी। मांस में हड्डी होती तो उसके बराबर मांस अधिक देना पड़ता था। कसाई अपने बाट खोटे रखता और तौल में मांस कम देता तो दण्ड के रूप में कमी की तादाद से आठगुणा अधिक देना पड़ता था। सूना में जिन वध्य पशुओं का वध होता था उनमें बैल, बछड़ा और गाय अवध्य होते थे।

जिन महाशयों ने चौराहे पर गाय का मांस पचन की बात कही है, उन्होंने वैदिकधर्म सूत्र और प्राचीन आर्य राजाओं के राज्यों की व्यवस्था बताने वाले अर्थशास्त्रों का नाम भी सुना नहीं होगा यह निश्चित है। अन्यथा किसी बौद्ध लेखक के लिखे हुए उल्लेख को पढ़कर अथवा अन्य किसी भी कारण से ऐसा बिल्कुल असत्य लेख नहीं लिखते।

श्रीयुत धर्मानन्द कौशाम्बी, इनके पुरोगामी गोपालदास [illegible] भाई पटेल, और डा० हरमन जेकोबी ने जैन सूत्रों के [illegible] कुछ उल्लेखों से जैन श्रमण आदि के सम्बन्ध में जो [illegible] की कल्पना की थी, उसके उत्तर में जो बातें [illegible] हैं उक्त विद्वान् किस कारण से इस असङ्गत और [illegible] को वास्तविक सत्य मानने को प्रेरित हुए उसका [illegible] करण अगले अध्याय में मिलेगा।

॥ इति ॥

❀ इति ❀

द्वितीयोऽध्याय॰

धीरे धीरे यह शब्द मनुष्य आदि प्राणधारियों के तृतीय धातु अर्थ में और वनस्पतिजनित फल मेवा आदि के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।

प्राण्यंगमांस

प्राण्यंगमांस खाद्य पदार्थ है, यह पहले कोई नहीं जानता था। परन्तु दुष्काल आदि विषम समय में सभ्य समतियों से दूर रहने वाले अनार्य लोगों ने पेट की ज्वाला को शान्त करने के लिये आरण्यक जानवरों को मार कर उनका मांस खाने की प्रथा चलायी और इस प्रथा का शिकार करने वाले क्षत्रिय वर्ग को भी चेप लग गया, जो कि पहले मानव-रक्षा के लिये केवल हिंस्र पशुओं का ही शिकार करना उनके कर्त्तव्यों में सम्मिलित था। परन्तु डायोनिसस् आदि विदेशी आक्रमणकारों के सम्पर्क से यहां के क्षत्रिय लोग भी धीरे धीरे मांस मदिरा खाना सीख गये थे, फिर भी आर्य जातियों में यह पदार्थ सर्वमान्य कभी नहीं हो सका।

वैदिक धर्म के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ 'ऋग्वेद' में पशु यज्ञ तथा ब्राह्मणों का मांस खाने का अधिकार नहीं है। वेदों का अनुशीलन करने वाले पाश्चात्य विद्वानों का यह कथन कि ऋग्वेद कालीन ब्राह्मण भी अश्वमेध करते और उसका मांस खाते थे कोई सत्यता नहीं रखता।

ऋग्वेद यद्यपि प्राचीन वेद है, फिर भी उसमें कई सूक्त पिछले समय में प्रक्षिप्त किये गये हैं। जैसे कि पुरुषसूक्त। इसी

प्रकार ऋग्वेद के द्वितीय अष्टक के तृतीय अध्याय के सप्तम, अष्टम, नवम और दशमसूक्त हमारी राय में पिछले ऋषियों का प्रक्षेप है। क्योंकि ऋग्वेद का पहला मण्डल ही भिन्न २ कालीन अनेक ऋषियों द्वारा व्यवस्थित किया गया है। इस दशा में ऋग्वेद में प्रक्षेप अर्वाचीन कालीन होने विशेष सम्भव हैं।

ऋग्वेद के जिन चार सूक्तों का ऊपर निर्देश किया गया है। उनमें घोड़े के कच्चे तथा पक्के मांस की चर्चा है। क्या आश्चर्य है कि मध्य एशिया की तरफ से भारत के पश्चिम प्रदेश से आये हुए और पंजाब के लगभग फैले हुए आर्य कहलाने वाले मानवों की यह कृति हो और बाद में ऋग्वेद में प्रक्षिप्त हो गये हों? क्योंकि वास्तव में ऋग्वेद के वक्ता आर्य विद्वान् गंगा सिंधु के मध्य भाग में रहने वाले थे, और उनके प्राचीन ऋग्वेद में मांस का नाम तक नहीं था। सिन्धु के पश्चिमवर्ती आर्यों के पूर्व में आने के बाद वेदों में विकृति का प्रारम्भ हुआ और उसके बाद में सकारण अथवा स्वाभाविक दुर्भाग्य योग से वेद के निघण्टु का लोप हो जाने के कारण प्राचीन वेदों का अर्थ करने में कठिनाई ही नहीं हुई बल्कि अर्थ का अनर्थ तक हो गया।

ऋग्वेद में मांस और क्रविष्‌ ये दो शब्द मिलते हैं दूसरा मांस का कोई पर्याय नाम नहीं मिलता।

शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयि-माध्यंदिन-संहिता में बड़े यज्ञों में अनेक [illegible] पशुओं के नियोजन

मिलता है। परन्तु इसमें मास के पर्याय नामों का उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता।

अथर्ववेद संहिता में मास शब्द के उपरान्त पिशित और क्रविप् ये दो इसके पर्याय मिलते हैं।

अथर्ववेद संहिता में यद्यपि गोमेधयज्ञ का वर्णन मिलता है परन्तु वहां पर शतौदना अथवा वशा (वन्ध्या गौ) की प्रशंसा के पुल बांधे गये हैं। उसके शरीर के एक एक अवयव को आमिक्षा कहा गया है, यहां तक कि उसके सींग, खुर, पसलियां हड्डियां, चर्म, रोम, बाल आदि को आमिक्षा मान कर उसकी भूरि भूरि प्रशंसा की गयी है। और इस वर्णन से तो यही ध्वनित होता है कि अथर्व वेद के समय में शायद गोमेध भूत काल के इतिहास में रह गया था। क्यों कि इसी अथर्व के अन्य उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि उस समय गौ अवध्य और अभक्षणीय मानी जाती थी।

"ब्रह्मगवी पच्यमाना, यावत् साभिविजङ्गहे।
तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति, न वीरो जायते वृषा॥
क्रूरमस्या आशसनं तृष्टं पिशितमस्यते।
क्षीरं यदस्याः पीयेत तद्वै पितृषु किल्बिषम्॥"

(अथर्व संहिता पञ्चम काण्ड, सू० १९, अ० ४

अर्थ—पकायी जाने वाली ब्रह्म गवी (भद्र स्वभाव की अथवा ब्राह्मण की) गौ जब तक वह स्मरण द्वारा दृष्टि के सम्मुख

उपस्थित होती है, तब तक राष्ट्र तन को हानि करती है, जिस देश में उसकी हत्या होती है उस देश म पुरूषार्थी वीर पुरुष उत्पन्न नहीं होता।

इसका मारना क्रूरता का कार्य है इसका वृद्धमास खाया जाता है और दूध पिया जाता है वह पितरों के लिए किल्बिष पाप जनक होता है।

"एतद्वा उ स्वादियो यदधिगव म् क्षीर वा मास वा तदेव नाश्नीयात्।"

(नवम काण्ड, सूक्त ८ ऋचा)

अर्थ—यह गौ के शरीर में रहने वाला मास तथा दुग्ध अतिशय स्वाद होता है, इसलिए इन्हें नहीं खाना चाहिए।

अथर्ववेद के उपर्युक्त उद्धरणों में माम पकाना देश के लिए कितना हानिकारक और अपने पूर्व पुरुषों के लिए कितना पाप रूप है यह प्रथम उद्धरण म बताया गया है। द्वितीय उद्धरण म गाय का दूध तक पीना वर्जित किया है, तब माम की अभक्ष्यता के लिए तो कहना ही क्या है?

यद्यपि वेद म आमशब्द कच्चे मास के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, फिर भी आचार्य यास्क के "सिताम" शब्द की चर्चा में गालव के मत का—("सितिमासतो मेदस्त गालव")

इस प्रकार के उल्लेख से ध्वनित होता है कि वह काल में आम शब्द सामान्य मास में प्रयुक्त होता होगा, अन्यथा गालव सितास शब्द से श्वेत मास अर्थ नहीं बताते।

वैदिक निघण्टु में माम शब्द अथवा मांस का अन्य कोई नाम नहीं मिलता।

जैन तथा बौद्ध सम्प्रदाय के प्राचीन सूत्रों में आने वाले आम न्य शब्दों के आम इस अवयव का भी मास अर्थ में ही प्रयोग किया गया है। इस से प्रतीत होता है कि आज से दाई हजार वर्ष और उससे पहले मास, पिशित, आम और क्रविष् ये चार शब्द मास के अर्थ में प्रयुक्त होते थे।

यास्क निरुक्त भाष्य में मास शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—

"माससमानन वा मानस वा मनोऽस्मिन् सीदति वा" ऐसे लिखकर यह बताया गया है कि मास मेहमान के लिये खाने का एक उत्तम भोजन होता है, और वह मानता है कि गृहपति ने हमारा बड़ा मान बढ़ाया।

मास के नामों में वृद्धि

ईसा के पूर्व छठी शताब्दी तक मास के चार ही नाम प्रचलित थे, मास, पिशित, आम, और क्रविष् इन में से आम और क्रविष् वैदिक नाम होने के कारण लोक व्यवहार में से हट गये हैं, तब तक मास के नये नाम भी प्रचलित हुए हैं।

" अमर कोष" जो कि विद्यमान सर्व शब्द कोशों में प्राचीन है पञ्चमी शताब्दी की कृति है, उसमें मांस के छः नाम मिलते हैं। जो नीचे लिखे जाते हैं—

पिशित तरस मांस पललं क्रव्यमामिषम्"
(अमरकोश)

अमर कोश के टीकाकार भानुजिदीक्षित मांस के इन नामों की निम्न प्रकार से व्याख्या करते हैं।

"पिंशति ' पिश् अवयव (तु प स) "पिशे किच" ३।३।७४ इतीतन । पिश्यते स्म वा क्त (३।२।१०२)

पिश धातु अवयवार्थक है। इससे इतन् प्रत्यय लगाने से पिशित शब्द बना। अथवा पिशित शब्द पिश् धातु से क्त प्रत्यय लगने से भी बन सकता है।

तरो बलमस्त्यस्मिन् "अर्श आद्यच्" (५।२।१२७) तरस शब्द बल वाचक है इस से अच् प्रत्यय लगाने से तरस् शब्द बनता है

मन्यते "मन ज्ञाने" (दि० आ० अ०) "मनेर्दीर्घश्च" (उ० ३।६४) इति स ।

मन धातु ज्ञानार्थक है इससे स प्रत्यय लगने और आदि स्वर के दीर्घ होने से मांस शब्द बनता है।

पलति पल्यते वा अनेन वा। "पल गतौ" (भ्वा० प० से०) "वृषादिभ्यश्चित्" (उ० १।१०६) इति कल ।

क्रवते क्रव्यतऽस्माद् वा । "क्लव भये" न्यन्तो मित् "अर्घा यत' (३।१।६७) रलयोरकत्वम् ।

क्लव धातु भयार्थक है इससे यत्प्रत्यय लगाने और र ल का एकत्व मानने से क्रव्य शब्द बनता है ।

क्षीर स्वामी ग'यर्थक कुड् धातु को यत्प्रत्यय लगाकर क्रव्य शब्द बनाते हैं ।

आमिषति 'मिष स्पर्धायाम्' (तु० प० से०) मेषति वा "मिषु सेचने" (भ्वा० प० से०) "इगुपध" (३।१।३८) इति क ।

मिष स्पर्धार्थक और मिषु सेचनाथक धातु हैं इनसे क प्रत्यय लगने से मिष शब्द बनता है, और आङ् उपसर्ग पूर्व में आने से आमिष शब्द बनता है ।

इन छ नामों म से पिशित का अवयवयवान, तरस का बलवान् मांस का मानकारक, पलल का गमन कारक, क्रव्य का भय कारक अथवा गतिकारक, और आमिष का किञ्चित् स्पर्धा कारक, अथवा सेचन ऐसा अथ होता ह ।

इन नामों में से एक भी नाम ऐसा नहीं है, कि जिसका अर्थ भोजन अथवा भक्षण ऐसा होता हो । इस से प्रतीत होता है कि अमरसिंह के समय मे मांस भक्षण का प्रचार हो जाने पर भी कोशकार न इन नामा का प्राणियों क तृतीय धातु के अर्थ में ही प्रयोग किया है ।

प्रत्येक नाम सदा के लिए एक ही अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता, कई ऐसे नाम हैं जो प्रारम्भ में एकार्थक होते हुए भी हजारों वर्षों के बाद अनेकार्थ बन चुके हैं। जैसे-अक्ष, मधु, हरि, आदि नाम कई अनेकार्थक नाम हजारों वर्षों के बाद एकार्थक बन जाते हैं। जैसे मृग, फल, मास आदि।

कोशकार अपने समय में जो शब्द जिस अर्थ का वाचक होता है, उसी अर्थ का प्रतिपादक बताते हैं। विलीन अर्थों की अथवा भविष्यदर्थों की कल्पना में कभी नहीं उतरते।

ज्यों ज्यों जिस पदार्थ के नाम बढ़ते जाते हैं त्यों त्यों पिछले कोशकार अपने कोश में संग्रह करते जाते हैं। अमरसिंह ने मांस के छः नामों का निर्देश किया तब इन के छः तथा सातसौ वर्ष पर अर्थात् विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में होने वाले वैजयन्ती तथा अभिधान चिन्तामणि कोशों में क्रमश बारह तथा तेरह नाम संग्रह हुए हैं। जैसे—

"मांसं पललजाङ्गले। रक्तात्तेजो भवे क्रव्य, काश्यप तरसामिषे ।६२२। मेदस्कृत् पिशित कीन पलम्।

(अभिधान चिन्तामणि)

अर्थात्—मांस, पलल, जांगल, रक्ततेज, रक्तभव क्रव्य, काश्यप, तरस, आमिष मेदस्कृत, पिशित, कीन और पल ये तेरह मांस के नाम अभिधान चिन्तामणि में लिखे हुए हैं। वैजयन्ती में जांगल यह नाम नहीं मिलता।

अमरसिंह और वैजयन्तीकार तथा हेमचन्द्राचार्य के बीच लगभग छः सात सौ वर्ष का अन्तर है। अमर के छः नामों में वृद्धि होते होते वैजयन्ती में बारह और हेमचन्द्र के समय में मांस के तेरह नाम बन गये थे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रति शत वर्ष में मांस के नामों में एक एक की वृद्धि हुई।

हेमचन्द्र के बाद के कल्पद्रुम कोश में नामों की अधिक वृद्धि दृष्टिगोचर होती है, जो कि उक्त कोश हेमचन्द्र से अधिक परवर्ती नहीं था। परन्तु जिस देश में इस कोश का निर्माण हुआ उस देश में मांस भक्षण का अधिक प्रचार होने से नाम अधिक प्रचलित हो गये थे।

कल्पद्रुम में मांस के नाम निम्नलिखित उपलब्ध होते हैं मांस, पिशित क्रव्य, आमिष, पलल जंगल, कीर, लपन, मारद, पल, तरस, जागल, घस, घसिष्ठ, रक्ततेजोज, कीन और मेदस्कृत्।

अमर कोशोक्त छः नामों में नीचे लिखे छः नामों की वृद्धि होकर वैजयन्ती के बारह नाम बने हैं। जो ये हैं—

काश्यप, पल रक्ततेज, रक्तभव, कीन, मेदस्कृत।

ये छः ही नाम यौगिक हैं। काश्यप यह नाम कश्यप शब्द से गढ़ा गया है। कश्यप का अर्थ है मदिरा पान करने वाला मनुष्य, और कश्यप का खाद्य काश्यप। पल यह नाम उन्मान वाचक शब्द है, जब मांस खाने वाले ने बहुत उन्मान से तोल कर लेने देने के कारण इस पदार्थ का नाम भी पल बना दिया, और बाद के

कोशकारों ने अपने कोशों में 'पलमुन्मानमासयो' इस प्रकार अनेकार्थ में लिख दिया। मांस रुधिर के जैसा रंगदार तथा चमकदार होता है और रुधिर से ही बनता है, इस कारण से लोगों ने इसके रक्ततेज तथा रक्तोभव, दो नाम गढ़ लिये। कीन यह शब्द विदेशी है, इसका अर्थ होता है मनुष्य के शरीर का भाग, और जो मानव पीछे से किसी की बुराइयां करते हैं वे उस भाषा में कीनाखोर कहलाते हैं। संस्कृत ग्रन्थकार पीछे से चुगलीखोरी करने वालों को पृष्ठमांस भक्षी कहते हैं, इस प्रकार कीन शब्द धीरे धीरे संस्कृत में प्रविष्ट होकर मांस का पर्याय बन गया है, और कीन का वाच्यार्थ मांस हो जाने के बाद लेखकों ने "कीनमश्नातीति कीनाश" अर्थात् मांस खाने वाला इस व्युत्पत्ति से यमराज को भी कीनाश बना दिया। जबकि वेदकाल में कीनाश का अर्थ कर्षक होता था। मांस से मेदो धातु की उत्पत्ति होने के कारण लेखकों ने मेदस्कर यह नाम भी प्रचलित कर दिया है।

अभिधान चिन्तामणिगत नामों के अतिरिक्त "कल्पद्रुम" कोश में नीचे के नाम अधिक पढ़े हैं।—

मारद, कोर, लेपन, जंगल, जागल, वासिष्ठ, घस। मारद का अर्थ है विषय वासना बढ़ाने वाला। कीर यह अप्रसिद्ध नाम है, हिंसार्थक कृ धातु से बना हुआ प्रतीत होता है। लेपन यह नाम इसकी चिकनाहट के कारण गढ़ दिया गया है। जंगल तथा जांगल में केवल शब्द भेद है ये दोनों नाम देशीय मालूम

होता है। वासिष्ट नाम वसिष्ठ से बना मालूम होता है। इसका व्युत्पत्त्यर्थ ऐसा भेद प्रयोजनमस्येति वासः, ततोऽतिशयार्थ इष्ठ। वासिष्ठ यों ज्ञात होता है। वैजयन्ती में वासिष्ठ शब्द रक्त का पर्याय बताया गया है। घस यह नाम भक्षणार्थक घस्लृ धातु से बना है। मांस के उक्त अठारह नामों में केवल घस नाम ही भक्षणार्थक धातु से बना हुआ है और यह नाम सबसे अर्वाचीन प्रतीत होता है।

उक्त मांस के नामों और उनके अर्थों से स्पष्ट होता है कि मांस मनुष्य के खाने का पदार्थ नहीं था। परन्तु दुर्भिक्षादि के समय में जंगली लोगों ने इसको अपना खाना बनाया और धीरे धीरे यह खाना बहुतर अनार्य देशों में फैल गया। इस खाने ने पृथिवी पर कितने अनाचार, कितनी अनीति और कितने रोग फैलाये इसका निर्देश प्रथम अध्याय के अन्त में कर आये हैं।

वनस्पत्यंग मांस

जिस प्रकार मनुष्य आदि प्राणधारियों के शरीर में रस, रुधिर, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा, वीर्य, यह सात धातु माने जाते हैं, उसी प्रकार अति प्राचीनकाल में वनस्पतियों के भी रसादि सात धातु माने जाते थे। मनुष्य आदि प्राणधारियों का शरीरावरण चर्म अथवा त्वचा कहलाता है, उसी प्रकार वनस्पतियों के शरीर का आवरण भी चर्म अथवा त्वक् कहलाता था[१]।

१—'शमीपलाशखदिरबिल्वाश्वत्थविकङ्कतन्यग्रोधपनसाम्रशिरीषोदुम्बराणां सर्वयाज्ञिकवृक्षाणां चर्मवपायवलक्षणाभविष्यति'

(बौधायनगृह्यसूत्र पृ० २५८)

प्राणधारियों के शरीर पर के रोम राद और शिर पर के रोम बाल कहलाते हैं वैसे ही वनस्पतियों के शरीर पर भी रोम तथा बाल माने जाते थे।

अर्थात्—शमी, पलाश, खदिर, बिल्व, अश्वत्थ, विकङ्कत, न्यग्रोध, पनस, आम्र, शिरीष, उदुम्बर इन वृक्षों तथा अन्य सर्व याज्ञिक वृक्षों के चर्म (वल्ली) के चूर्ण से मिले जल भरे कलश से (विष्णु मूर्त्ति का) अभिषेक करे।

> कूष्माण्डबीजैर्निस्त्वग्भि-श्चिर्भटादिप्रियालजैः ।
> खण्डपाके विमिश्रैश्च कुर्यात्तैर्वा हि मोदकान् ॥
>
> क्षेमकुतूहल

अर्थ—कूष्माण्ड, चिर्भट, ककड़ी और पियाल, इनके बीजों को त्वचाहीन करके मज्जा निकाल कर घृत में भूनले और फिर खांड की चासनी में मिश्रित करके लाडू बनाले।

१—स वा एष पशुरेवालभ्यते यत् पुरोडाशस्तस्य यानि किंशारूणि तानि रोमाणि ये तुषाः सा त्वग् ये फलीकरणास्तदसृग् यत् पिष्टं किक्नसास्तन्मांसं यत्किञ्चित्कं सारं तदस्थि सर्वेषां वा एष पशूनां मेधेन यजते तस्मादाहुः पुरोडाशसत्रं लोक्यमिति। द्वितीयपङ्क्तिका अ० पृ० ११८

अर्थ—यह पशु का ही आलम्भन किया जाता है जो पुरोडाश तैयार करते हैं, यव व्रीहि पर जो किंशारू (शूक) होते हैं वे इनके रोम हैं, इन पर के तुष इनका चर्म है, जो फलीकरण है वह इनका रुधिर है, जो पृष्ठ है वह इनका रीढ़ है, इनका जो कुछ सारभाग

मनुष्य के आहार से तैयार हुआ सत्व रसभाग कहलाता है, वैसे वनस्पतियों में रहा हुआ जल भाग रस कहलाता था [१]।

प्राणधारियों के रस से निष्पन्न तत्त्व रुधिर कहलाता है, वैसे वनस्पतियों के तैयार होने वाला स्राव उनका रुधिर कहलाता था [२]।

प्राणधारियों के रुधिर से बनने वाला ठोस पदार्थ मांस कहलाता है, वैसे वनस्पतियों में मिलने वाला सार भाग (गूदा) मांस कहलाता था।

प्राणधारियों के मांस से मेदस् धातु बनता है, वैसे वृक्षों के

है वह मांस है, इनका जो कसार (ऊपर का कठोर भाग) है वह अस्थि है, (जो) इस पुरोडाश से यज्ञ करता है, वह सर्व पशुओं से यज्ञ करता है इस वास्ते पुरोडाश को लोक हितकारी सत्र कहते हैं।

१ तस्मात्तस्मात् तृणात्प्रैति रसो वृक्षादिव आहतात् ॥
"बृहदारण्यकोपनिषद्"

अर्थ—जिस प्रकार वृक्ष पर प्रहार करने से रस निकलता है वैसे ही वृक्ष पुरुष के प्ररोह से रस निकलता है।

२ त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः ॥
॥ बृहदारण्यकोप० ॥

अर्थ—त्वचा का रुधिर स्राव है, जो त्वचा के भीतर से झरता है।

अङ्ग प्रत्यङ्गों में से मेदस् सदृश स्राव निकलता है, उसे वनस्पति का मेदो धातु माना जाता था।

प्राणधारियों के शरीर में रहने वाले कठोर काष्ठ-भाग को अस्थि कहते थे, तथा वनस्पति के फलों में रही हुई गुठलियाँ तथा बीजों को भी अस्थिक के नाम से पहिचाना जाता था[1]। प्राण धारियों व अस्थियों में होने वाले स्निग्ध पदार्थ को मज्जा धातु कहते हैं वैसे फलों की गुठलियों में तथा बीजों में से निकलने वाले स्निग्ध पदार्थ को वृक्ष की मज्जा कहते हैं[2]। प्राणधारियों के

---

१ कपित्थफलमपक्वं तु कषायं स्याद्धीनलम् ।
कफपित्तहरं चैव, तत्फलास्थ्यपि तद्गुणम् ॥१८३॥ रा० व० नि०

अर्थ—कच्चा कैथ कषाय रस वाला, ग्राही और भारी होता है, कफ पित्त, का नाशक है, इसके फल की अस्थि (गुठली) भी फल के जैसा गुणवान होता है।

'अस्थि बीजाना शकृच्छागेय शाम्बिया मत्स्यादाहा गोऽस्थि शाद्रि काल दोहद च।' मथ ना० पृ० ११७।

अर्थ—अस्थि और बीज वाले वृक्षों में बाजा का गोबर का खाद देकर बोना चाहिए।

२. वातादमज्जा मधुरा वृष्यातिघ्नाऽनिलापहा ।
स्निग्धोष्णा कफकृन्नेष्टा, रक्तपित्त-विकारिणाम् ॥१२४॥
भाव प्रकाश निघण्टु।

अर्थ—बादाम की मज्जा (गिरी) मीठी पुष्टिकारक, पित्त वात का नाश करने वाली स्निग्ध, उष्णवीर्य और कफ करने वाली होती है इसका सेवन रक्त पित्त के रोगियों को हितकारी नहीं है।

अन्तिम धातु को रेतस् अथवा वीर्य आदि नाम प्राप्त हैं, वैसे वनस्पतियों में भी अमुक प्रकार की शक्तियां रहती हैं, जिनका शीत वीर्य उष्ण वीर्य आदि नामों से व्यवहार होता था, और आज भी वैद्य लोग उस प्रकार व्यवहार करते हैं।

भारतवर्ष में पूर्व काल में जितनी और जितने प्रकार की वनस्पतियां होती थीं, उनकी एक शतांश भी नहीं रही हैं। उस समय के मनुष्य प्रायः इन्हीं वनस्पतियों के अंगों, प्रत्यंगों फलों, पुष्पों से अपना जीवन निर्वाह करते थे। परन्तु मांस से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता था। मृत पशुओं, पक्षियों को खाने वाले गीध गीदड़ भेड़िया, चीता, बघेरा, आदि क्रव्यादपक्षियों श्वापदों के सिवाय कोई नहीं था।

वनस्पत्यंगों और प्राण्यंगों की समानता

आज कल हमारे देश में वनस्पतियों का दुष्काल सा हो रहा है, जो अत्यल्प संख्या रही है उनके अंग प्रत्यंगों का भी प्राण्यंगों से कितना साम्य है, उसका संक्षिप्त निदर्शन करायेंगे।

"ऐतरेयब्राह्मण" में यव व्रीहि को पशु का प्रतिनिधि मान कर पशुओं के अंग प्रत्यंगों की जो तुलना की है उसे रोम शब्द की

पाद टीका म दिया जा चुका है। वृहदारण्यकोपनिषद्कार ने तो वनस्पति का पुरुप का रूप देकर उसके प्रत्येक अवयव का वर्णन कर दिया है जो नीचे दिया जाता है—

> यथावृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा ।
> तस्य लोमानि पर्णानि, त्वगस्योत्पाटिका बहि ॥
> त्वच एवास्य रुधिर, प्रस्यन्दि त्वच उत्पट ।
> तस्मात्तदातृणा प्रैति, रसो वृक्षादिवाहतात् ॥
> मांसान्यस्य शकराणि, किनाट स्नावतत्स्थिरम् ।
> अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमाकृता ॥
> यद् वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतर पुन ।
>
> (वृहदारण्यकोपनिषद्)

अर्थ—जैसा पुरुष है वैसा ही सचमुच वनस्पत्यात्मक वृक्षपुरुष है। वनस्पति पुरुष के पत्र उस के रोम है। और बाहर भाग में दिखने वाली वल्क इसकी त्वचा है। वक्कल के स्पन्दन से इसमें से जो रस स्राव होता है वह वनस्पति पुरुष का रुधिर है। और वृक्ष पर प्रहार देने से जिस प्रकार रस स्राव होता है, वैसे ही इस के प्रदाह म से रस स्रवता है। इसमें रहे हुए सार भाग के टुकडे इसका मास है। और इसमें से निकला हुआ ठोस स्राव जो किनाट कहलाता है इसका मेदो धातु है। वनस्पति के अन्दर की लकडी इसकी अस्थियां है। और इसके बीजों तथा लकडी में से निकलने वाला स्नेह इसकी मज्जा है। यह वृक्ष रूपी धनद पुरुष … से नया नया उत्पन्न

आम्रादि फलों में मांस मज्जा अस्थि आदि माने जाते थे, इसके अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। मजूर के गूदे को मांस बताने वाला चरकसंहिता का पाठोल्लेख मांस शब्द के नीचे पाद टीका में दिया जा चुका है। उसी प्रकार का बल्कि उससे भी विशद उल्लेख सुश्रुत संहिता में मिलता है जो नीचे दिया जाता है—

'चूतफले परिपक्वे केशरमांसास्थिमज्जानः पृथक् पृथक् दृश्यन्ते कालप्रकर्षात्। तान्येव तरुणे नोपलभ्यन्ते सूक्ष्मत्वात्। तेषां सूक्ष्माणां केशरादीनां कालः प्रव्यक्ततां करोति।

(सुश्रुत संहिता शा० अ० ३ श्लो० ३२)

अर्थ—पके आमफल में केशर, अस्थि, मांस, अस्थिमज्जा प्रत्यक्ष रूप में दीखते हैं। परन्तु कच्चे आम्र में ये अङ्ग सूक्ष्म अवस्था में होने के कारण भिन्न भिन्न नहीं दीखते, उन सूक्ष्म केशरादि को समय व्यक्त रूप देता है।

जैसे प्राणधारियों में आंत होती है, वैसे फलों में भी आंतें मानी गई हैं। जिनके द्वारा फल स्थित बीजों के शरीर मांस मज्जाओं का रस पहुँचता है उन रेशों को वैद्य लोग अन्त्र कहते हैं। जैसे—

समुत्सृज्य ततो बीजान् अन्त्राणि तु समुत्सृजेत्।
तानि प्रक्षाल्य तोयेन, प्रनष्या निक्षिपेत् पुनः ॥

(पाक दर्पण पृ० ७५)

अर्थ—उसम से बीज तथा आंते निकाल दे फिर उसे धा डाल और बाद म प्रवणी मे रक्खे।

फल मेवा के जिस भाग को आज कल गिरी अथवा मींगी कहते हैं, उसको वैद्यक शास्त्रो म मज्जा इस नाम से उद्धृत किया गया है। जैसे—

नारिकेलभवा मज्जा स्विन्ना दुग्धे सुखण्डिता।
भर्जिता घृतखण्डेन, स्वनिमित्त—गुणाग्रहा॥

(क्षेम कुतूहल)

अर्थ—नारिकेल की गिरी को दूध म रींध कर सूक्ष्म टुकड़े कर घी म भुन कर खाड की चासनी म डालन स नारियल पाक बनता है, जिसका गुण नारिकेल की प्रकृति क अनुसार होता है।

वृक्ष क कठिन भाग को तथा फलों क बीजों (गुठलियों) को तो अस्थि नाम स निर्दिष्ट किया ही है, परन्तु कहीं फल क भीतर के कठिन परदे का भी अस्थि नाम से बतलाया है। जैसे—

कर्पासफलमत्युष्ण, कषाय मधुर गुरु।
वातश्लेष्म-हर रुच्य, विशेषणास्थिवर्जितम्॥

(क्षेम कुतूहल)

अर्थ—कपास का फल अति उष्ण प्रकृति वाला, कषाय तथा मधुर रस वाला, और गुरु होता है।

यह बात कफ को दूर करने वाला, तथा रुचिकर होता है। इसमे से अस्थि निकाल कर प्रयोग करने से विशेष लाभदायक होता है।

आज कल "पलल" यह मास का नाम माना जाता है। परन्तु मूल मे पलल नाम गडे हुए तिल चूर्ण का था। अगली मे तिलों को कूट कर सूक्ष्म कर देते है, फिर उसमे गरम पानी छिड़क कर खाड मिलाते है। इससे स्नेह प्रचुर तिल चूर्ण बनता है। जिसे मारवाड में 'सेली' कहते है।

यह पदार्थ मकर सक्रान्ति के दिन अधिक बनाया जाता है। पूर्व काल मे इसे पलल कहते थे। स्नेहात्मक होने के कारण पिछले लोगों ने मास को भी पलल मान लिया और कोशकारों ने इस शब्द को अनेकार्थक मान कर अपने कोशो मे दाखिल कर लिया। जैसे—

पलल तिलचूर्ण स्यान्मासकर्दम-भेदयो ।
(वैजयन्ती)

अर्थ—पलल यह तिल चूर्ण का नाम है, और मास तथा कीचड के भेद मे भी यह व्यवहृत होता है।

पलल तु समाख्यात, सैचन तिलपिष्टकम् ।
पलल मलकृद् वृष्य, वातघ्न कफपित्तकृत् ॥
बृंहण च गुरु स्निग्ध, मूत्राधिक्य-निवर्तकम् ।
(भाव प्रकाश)

अर्थ—गुड अथवा खाट से बनाया हुआ तिलों का पिष्ट पलल कहा जाता है, यह मल वृद्धि कारक पुष्टिकारक, वातनाशक, कफ पित्त करने वाला, शक्तिदायक, गुरुपाकी, चिकना, और मूत्राधिक्य को दूर करने वाला होता है।

कीनाश शब्द हजारों वर्ष पहले केवल कर्षक के अर्थ में प्रच लित था। परन्तु धीरे धीरे इसकी कुक्षि में अनेक वाच्यार्थ भर गये और आज यह शब्द चार अर्थ का वाचक बन गया है। जैसे-

कीनाशो रक्षसि यमे कदर्ये कर्षकेऽर्थवत् ॥
(वैजयन्ती)

अर्थ—कीनाश शब्द राक्षस, यम, कृपण, और कर्षक का वाचक है। और इसका लिङ्ग वाच्यार्थ के अनुसार होता है।

अनिमिष शब्द से आज कल के विद्वान केवल मत्स्य को ही समझ लेते हैं, परन्तु अनिमिष शब्द की कुक्षि में कितने अर्थ भरे हुए हैं इसका वे कभी विचार नहीं करते।

अनिमिष शब्द केवल मत्स्य का वाचक नहीं, पर यह नीचे लिखे अनुसार पाच अर्थ बताता है। जैसे—

अथामरे झषे। अनिमेषोऽप्यनिमिषोऽप्यथ चाण्डालशिष्ययो। स्यादन्तेवासिनि।

'वैजयन्ती'

अर्थ—अनिमेष तथा अनिमिष शब्द देव, मत्स्य, चाण्डाल,

शिष्य, और निकटवर्ती आज्ञाकारी मनुष्य के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

मधु शब्द का अर्थ आनकल लेखक शहद मात्र करते हैं। परन्तु यह कितने अर्थों का प्रतिपादक है, यह तो निम्नलिखित कोश वाक्यों से ही जाना जा सकता है।
जैसे—

मधुर्वसन्ते दैत्येषु, जीवाशाक मधूकयोः।
मधु क्षीर जले मद्ये, चौद्रे पुष्परसेऽपि च ॥
"अनेकार्थ संग्रह"

अर्थ—मधु शब्द 'चैत्र मास, वसन्त ऋतु, दैत्य विशेष, जीवाशाक, महुआ, दूध, पानी, मदिरा, शहद, मकरन्द इन अर्थों का वाचक है।

पेशी शब्द आजकल के लेखकों के विचार से मास बड़ी अथवा मास के टुकड़े के अर्थ में ही प्रचलित है। परन्तु वास्तव में पेशी कितने अर्थों को बताती है यह नीचे लिखे कोश-वाक्य से ज्ञात होगा। जैसे —

पेशी मास्यसिकोशयोः। मण्डभेदे पलपिण्डे सुपक्व-कणिकेऽपि च। "अनेकार्थ संग्रह'

अर्थ—पेशी, तलवार का म्यान, पकान का भेद मास के पिण्ड, घृत पक्व कणिका, इतने पदार्थों का नाम है।

कुक्कुट शब्द सामान्य रूप से मुर्गा के अर्थ में प्रसिद्ध है परन्तु यह शब्द दूसरे भी अनेक पदार्थों का वाचक होना कोशा तथा निघण्टुओं में लिखा है। जैसे —

'कुक्कुट कुकुभे ताम्रचूड वह्निकणेऽपि च ॥१४४॥
निषाद् शूद्रयो पुत्रे × × × ।

अर्थ —कुक्कुट शब्द का अर्थ कुकुभ (कुम्हार का मुर्गा रक्त तीतर) ताम्र चूड़ (मुर्गा) अग्नि का अंगार, चाण्डाल और शूद्र का पुत्र होता है।

कुक्कुट नाम सुनिषण्णक नामक वनस्पति के नामों में भी परिगणित है, जिसका प्रमाण अन्यत्र दिया गया है।

शश यह नाम खरहा नामक आरण्यक पशु का है, परन्तु दूसरे भी अनेक पदार्थों के अर्थ में पूर्वकाल में यह प्रयुक्त होता था। जैसे —

"शश पशौ ॥ ८४८ ॥ बोल लोध्रे नृभेदे च'

'अनेकार्थ'

अर्थ – शश शब्द का अर्थ खरगोश पशु, हीराबोल, लोध्र और पुरुष विशेष होता है।

वर्त्तमान समय में आमिष शब्द का अर्थ मांस किया जाता है, परन्तु आमिष के दूसरे भी अनेक अर्थ होते थे, जो कोशों से जाना जाते हैं। जैसे —

"आमिष पल ॥१३३०॥ सु दराकाररूपादौ सम्भोगे लाभल-ञ्चया" "अनेकार्थ"

अर्थ—आमिष का अर्थ नाम सु न्दराकार रूप आदि, सम्भोग लोभ और रिश्वत होता है।

"लाभे कामे गुणे, रूपे आमिषान्न्या च भोजने"

"अनेकार्थ"

अर्थ—लोभ मे, काम गुण म, रूप म, और भोजन मे, आमिष यह नाम प्रयुक्त होता है।

कुक्कुटी शब्द से वर्त्तमान समय के विद्वान मात्र मुर्गी का ही बोध करेंगे। किन्तु इस शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है सो तो कोशो से ही प्रतीत होगा। जैसे —

शाल्मली तूलनी मोचा पिच्छिला विरजा विता।
कुक्कुटी पूरणी रक्त-कुसुमा घुण-वल्लभा ॥६७॥ निघण्टु-शेषे।

अर्थ—तूलिनी, मोचा, पिच्छला, विरजा, विता कुक्कुटी, पूरणी, रक्तकुसुमा घुणवल्लभा ये शेमल वृक्ष के नाम हैं। जिनमें कुक्कुटी मुर्गी का प्रति रूपक कैसा दीखता है।

मार्जार नाम बिल्ली का ही प्रसिद्ध है फिर भी यह पहले हिंगोट और अगस्त्य के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता था। जैसे —

"इङ्गुदा तापसतरु र्मार्जार कण्टकीटक ।" "निघण्टु शेष"
अर्थ—तापसवृक्ष, मार्जार और कण्टकीटक ये हिंगोट वृक्ष के नाम हैं। अगस्त्ये मुनि-मार्जारावगस्तिर्नङ्क सेनक। 'वैजयन्ती"

अर्थात्—मुनि, मार्जार, अगस्ति वङ्गसेन इत्यादि अगस्त्य वृक्ष के नाम हैं।

मार्जार शब्द निघण्टु में रक्तचित्रक का भी पर्याय बताया है।

संस्कृत में कुक्कुर नाम कुत्ते का पर्याय बताया गया है और प्रत्येक पाठक कुक्कुर से 'कुत्ता' अर्थ ही समझेंगे, परन्तु यह शब्द ग्रन्थिपर्ण (गठिवन) वनस्पति के नामों में भी परिगणित किया है। जैसे—

'ग्रन्थिपर्णं शिष्टपर्णं विकीर्णं शाखरामकम्।

कुक्कुर च × × ×। "निघण्टु ग्रन्थ"

अर्थात्—श्लिष्टपर्ण, विकीर्ण, शाखरामक, कुक्कुर ग्रन्थिपर्ण (गठिवन) के नाम हैं।

'पल' शब्द आजकल एक जाति के तोल, काल विशेष और मांस के अर्थ में ही प्रसिद्ध है, परन्तु पहले 'पल' शब्द का अर्थ धान्य का भूसा भी होता था। जैसे—

पलं, पललो, वा पलक, तुषा बुसे कडङ्गर —। अभि० चि०

अर्थात्—पल, पलल, वा पलक, तुष और कडंगर ये भूसे के नाम हैं।

अज नाम से आज कल के सामान्य विद्वान् बकरा और विष्णु का बोध कराते हैं। परन्तु इस शब्द के अन्य भी अनेक अर्थ होते हैं। जैसे—

सुवर्ण माक्षिक धातु, पुराने धान्य, जो उगने के काल से अतिक्रान्त हुए हैं।

(शालिग्रामौषध शब्दसागर)

कपोत शब्द से आज कल कबूतर का बोध होता है, परन्तु पूर्वकाल में कपोत पक्षी मात्र का वाचक था, और सौवीर नामक श्वेत सुर्मा भी कपोत कहलाता था। क्योंकि सुरमे का वर्ण कपोत से मिलता जुलता होने से वह कपोत नाम से प्रसिद्ध हुआ था। इसी प्रकार सज्जी, कापोत कहलाता था क्योंकि इसका भी वर्ण कपोत का सा होता है।

गोपी, गोपवधू गोपकन्या शब्दों से क्रमशः गोप स्त्री, गोप की बहू गोप की पुत्री, का अर्थ उपस्थित होता है, परन्तु इनका वास्तविक अर्थ वैद्यक ग्रन्थों में निम्नलिखित बताया है। जैसे—

कृष्णा तु सारिवा श्यामा गोपी गोपवधूश्च सा।
धवला सारिवा गोपी, गोपकन्या च सारदी॥

(भावप्रकाश निघण्टु)

अर्थात्—श्यामा, गोपी, गोपवधू ये कृष्ण सारिवा के नाम हैं। और गोपी, तथा गोपकन्या, ये दो नाम धवला सारिवा के हैं।

श्वेत कापोतिका और कृष्ण कापोतिका शब्दों से पाठक श्वेत तथा कृष्ण मादा कपोत पक्षी का ही बोध करेंगे, परन्तु वास्तव में ये शब्द किस अर्थ के बोधक हैं, यह तो नीचे के उद्धरण से ही समझ सकेंगे।

स्वल्पाकारा लोहिताङ्गा, श्वेतकापोतिरुच्यते ।
द्विपर्णिनी मूलभवा, मरुणा कृष्णपिङ्गलाम् ॥५६१॥
द्विरत्निमात्रा जानीयाद्, गोनसी गोनसाकृतिम् ।
सक्षारा रोमशा मृद्वीं, रसनेक्षुरसोपमाम् ॥५६२॥
एवं रूपरसा चापि, कृष्णकापोतिमादिशेत् ।
कृष्ण-सर्पस्य रूपेण, वाराही कन्दसम्भवाम् ॥५६३॥
एकपर्णा महावीर्या, भिन्नाञ्जन-चयोपमाम् ।
छत्रातिच्छत्रक विद्याद्, रक्षोघ्ने कन्द सम्भवे ॥५६४॥
जरामृत्यु-निवारिण्यौ, श्वेतकापोतिसम्भवं ।
गन्धैर्द्वादशभिः पत्रै-र्मयूराङ्गरुहोपमं ॥५६५॥

(कल्पद्रु मकाश)

अर्थ—जो स्वल्प आकार वाली और लाल अंग वाली, होती है वह श्वेत कापोतिका कहलाती है श्वेत कापोतिका दो पत्तों वाली और कन्द के मूल में उत्पन्न होने वाली, इषद् रक्त तथा कृष्ण पिङ्गला, हाथ भर ऊंची गौ को नाकसी और फणधारी साप की आकृति वाली, क्षारयुक्त, रोमों वाली स्पर्श में कोमल, जिह्वा से चखने पर इख जैसी मीठी होती है।

इसी प्रकार के स्वरूप और रस वाली को कृष्ण कापोतिका कहना चाहिए। कृष्ण कापोतिका काले साप के रूपमें वाराही कन्द के मूल में उत्पन्न होती है, वह एक पत्ते वाली महावीर्य दायिनी, और अति कृष्ण अञ्जन समूह सी काली होती है, पत्र मध्य से

उत्पन्न प्ररोह पर लगे हुए गहरे नील मयूर पत्र जैसे-बारह पत्तों से छत्रातिछत्र वाली, राक्षसों का नाश करने वाली, कन्द मूल से उत्पन्न होने वाली, जरामरण का निवारण करने वाली दोनो कापोतिकाय जाननी चाहिए।

अजा शब्द मामा य रूप से बकरी इस वाच्यार्थ को ही व्यक्त करता है, फिर भी अजा नामक एक औषधि भी होती है। जिसका वर्णन नीचे अनुसार है—

अजा महौषधिर्ज्ञेया शङ्ख-कुन्देन्दुपाण्डरा ॥५६८॥

(कल्पद्रु मकाश)

अर्थ—जो शख कुन्द पुष्प और चन्द्र के समान श्वेतवर्ण की हो, अजा नामक महौषधि जाननी चाहिए।

वर्ण के ऊपर से पदार्थों के नाम

वनस्पति फलों के ही नहीं अन्य अनेक पदार्थों के नाम वर्णों के ऊपर से प्रसिद्ध हो जाते हैं। जैसे—

रुधिर कुङ्कुमेऽपि च।

अर्थात्—केशर का भी नाम रुधिर पड़ना।

ताम्र शुल्वे शुल्वनिभे च।

अर्थ—ताम्र नाम ताम्बे के अतिरिक्त ताम्रवर्ण के प्रत्येक पदार्थ का होना।

पाण्डुरो वर्णतद्वतो ।

अर्थात्—पाण्डुर यह नाम श्वेत वर्ण और श्वेत वर्ण वाले का होना।

इत्यादि अनेक उदाहरणों से पूर्व काल में पदार्थों के नाम वर्णों के नामानुसार प्रसिद्ध हो जाते थे। प्रायश मांस रक्त वर्ण का होने से फल मेवाओं के रक्तवर्ण-गर्भ भी मास कहलाते थे। गुड से बना सीरा, लापसी, और कुछ मिठाइयां जो रक्त वर्ण लिये होती थी, वे भी मांस के नाम से पहचानी जाती थी। परन्तु जिन पदार्थों में रक्त अथवा पीत वर्ण बिल्कुल नहीं होता उनको रक्तवर्ण देकर बनाने वाले मांस का रूप दे देते हैं। यह पद्धति क्षेमकुतूहल ग्रन्थ के निर्माण समय तक प्रचलित होगी। ऐसा उक्त ग्रन्थ के निम्नोद्धृत श्लोक से जाना जाता है—

> वर्णस्य करणे देयं, कुङ्कुमं रक्तचन्दनम्।
> ताम्बूलं यत्र यद्युक्तं, तच्च तत्र प्रयोजयेत् ॥६४॥
>
> (क्षेम कुतूहल)

अर्थात्—खाद्य पदार्थ को रंग देने में केशर, रक्त चन्दन, और नागरवेल के पत्ते का उपयोग करना चाहिए। जिस पदार्थ के लिए जो रंग अनुरूप हो उसे उसी रंग से रंगना चाहिए।

वनस्पत्यंग मांस के सम्बन्ध में हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्राणधारियों के शारीरिक अवयव जिन नामों से पहिचाने जाते थे, उन्हीं नामों से वनस्पतियों के भिन्न भिन्न अव

यता का व्यवहार होता था। इतना ही नहीं बल्कि प्राण धारियों के सैंकड़ो नाम समान रूप से वनस्पतियों का भी वाच्यार्थ रूप से प्रसिद्ध करते थे। प्राण्यंग मांस को उसके खाने वाले अनेक प्रकार के उपस्कर से तैयार करते थे। उसी प्रकार अन्न भोजी मानव भी वानस्पतिक पदार्थों से अनेक खाद्य पदार्थ बनाते और उनको घृत शक्कर, केशर, कस्तूरी आदि के संस्कारों से संस्कृत करके आकर्षक बनाते थे। इस परिस्थिति में लिखे गये शास्त्रों के अर्थ निर्णय में आजकल के विद्वानों द्वारा विपर्यास होना असम्भव नहीं है। वेदों, जैन सूत्रों और बौद्ध सूत्रों में आने वाले तत्कालीन खाद्य पदार्थों के अर्थ में आजकल के विद्वानों ने अनेक प्रकार की विकृतियां घुसेड दी है। इसका कारण वनस्पति तथा वनस्पत्यंगों के नामों, साथ प्राणी नामों तथा प्राण्यंग नामों की समानता ही है। अब हम इस प्रकार के ग्रन्थ पाठों के उद्धरण उनके अर्थ लिख कर विषय को नहीं बढ़ायेंगे, किन्तु प्राणी और वनस्पति को बताने वाले शब्दों को कोश के रूप में एक अनुक्रमणिका देकर इस प्रकरण को पूरा करेंगे।

उन शब्दों की अनुक्रमणिका जो प्राणधारी और वनस्पति के वाचक हैं।

नाम	प्रसिद्धार्थ	अप्रसिद्धार्थ
अज	बकरा	सोनामाखी
अमृत	देवभाग्य	अयाचितभिक्षाम

इक्ष्वाकु	राजवंश विशेष।	कड़वी तुम्बी
कञ्चुकी	नादर	यव, चणक, भ्रमर वृक्ष
कण्टक	काटा	क्षुद्र शत्रु और बाँस
कपि	बन्दर	शिलारस
कटाह	कड़ाह	भैंस का बच्चा
कपोतक	छोटा कबूतर	सफेद सुर्मा
कपोतसार	कबूतर का सत्व	सुर्मा
कपोताङ्घ्रि	कपोत का पग	नलिका नाम औषधि
करभ	ऊँट	नख नामक गन्ध द्रव्य, हुर हुर वृक्ष,
कलभ	हाथी का बच्चा	धत्तूरा का वृक्ष
कलापी	मोर	लक्ष पिलखन का वृक्ष,
काक	कौआ	अगस्त वृक्ष
काकशीर्ष	कौए का शिर	अगस्त वृक्ष
कापोत	कबूतर सम्बन्धी	सफेद सुर्मा, सज्जी खार
कुक्कुटी	मुर्गी	शाल्मलि वृक्ष
कुक्कुटाण्ड	मुर्गी का अण्डा	कृष्ण व्रीहि
कुक्कुर	कुत्ता	ग्रन्थिपर्ण
कृष्णचञ्चुक	काली चोंच वाला	चणक, चना
कौशिक	घूक	गुग्गुल
खर	गदहा	कवटकि वृक्ष
खरस्वरा	कठोर स्वर वाली स्त्री	वनमल्लिका
गोशीर्ष	गाय का शिर	चन्दन विशेष

ग्रहपति	सूर्य	आक वृक्ष
तुली	कलुष	चिड़ी मार
तपस्वी	तापस तप करने वाला पूत करञ्ज वृक्ष	
तपोधन	तपस्वी, मुनि	दमनक वृक्ष, दमना वृक्ष
ताम्रचूड़	मुर्गा	ककरौंदा वृक्ष
ताम्रसार	तांबे का भस्म	रक्त चन्दन
तुरगी	घोड़ी	असगन्धा
तुरग	घोड़ा	सेन्धा नमक
दन्ती	हाथी	अजेपाल का वृक्ष
द्विज	ब्राह्मण	तुम्बरू वृक्ष
द्विजप्रिया	ब्राह्मण भार्या	सोमलता
द्विप	हाथी	नाग केशर
द्वीपी	व्याघ्र जाति विशेष	चित्रक
दीपक	लालटेन	केशर, अजवायन, मोर शिखा
दवी	देवता	वाम्ही ककोरी
नखी	नख वाला	गन्ध द्रव्य विशेष
नीच	बदमाश	चोरक नामक गन्ध द्रव्य भटउर
नीलकण्ठ	शिव मोर	मूली
पलाशी	राक्षस	पलाश वृक्ष
पार्वती	भवानी	सौराष्ट्र मृत्तिका
पुद्गल	शरीर	रूपादियुक्त द्रव्य

पक्षी	मास पिण्ड	जटामासी
प्लवग	बन्दर	शिरीषवृक्ष
बभ्रु	नौवला (नेवला)	सितावर शाक
भल्लुक	भालू	सोनापाठावृक्ष,
भद्री	गाड़ी	शिरीषवृक्ष
भेकी	मेंढकी	मण्डूकपर्णी, ब्रह्ममण्डूकी
मण्डूक	मेंढक	सोनापाठावृक्ष
मन्त्र	नूतक	उपवन
मद्र	मृत	कष्ट
महामुनि	महासाधु	धनिया
मातङ्ग	हाथी	पीपलपेड़, ढाक का पेड़
मार्जार	बिल्ली	रक्तचित्रक, अगस्त्यवृक्ष हिंगोटावृक्ष
मार्जारी	बिल्ली	कस्तूरी
मुनि	मौनव्रती	चिरौंजी का पेड़, ढाक का पेड़, अगस्त्य वृक्ष
मूर्ख	निर्बुद्धि मनुष्य	माष=उड़द
मेध्य	पवित्र	खदिर, यव
मृग	हरिण	कस्तूरी
याजनगन्धा	कीटिका	कस्तूरी
रथिक	सारथि	तिनिशवृक्ष
रसना	जिह्वा	रास्ना
राजन्य	क्षत्रिय	क्षीरिका वृक्ष, खिरनी पेड़

रस	मधुरादिरस	पारा
राजपुत्र	राजकुमार	कलमी आम
राजपुत्री	राजकुमारी	कड़वी तुम्बी, रगुका, जाई, मालती,
लम्बकर्ण	गदहा	अखरोट वृक्ष, दरावृक्ष
व्यसन	शिकार आदि	सत्तू
वराह	सूअर	नागरमोथा वाराहीकन्द
व्याल	सर्प	कृष्ण चित्रक
वरिष्ठ	बड़ा	ताम्र लाल मिर्च
बक	बगुला	अगस्तिया वृक्ष
वर्त्तक	वर्त्तक पक्षी	अश्मन्तुर, घाड़ा वज
वनशूकरी	व नशूकरी	कौंचलता कपिन्दू
वायसी	मादा कौआ	पलम्बु नाम की औषधि
विप्र	ब्राह्मण	पीपल वृक्ष
वृश्चिक	बिच्छू	औषधि भेद मैनफल वृक्ष
वृष	बैल	अडूसा, ऋषभ औषधि
वृषा कपायी	आदित्य पत्नी	जीवन्ती, शतावरी
व्याघ्र	बाघ	लाल एरण्ड और करञ्ज का वृक्ष
व्याघ्री	बाघिन	कटेरी
शश	खरगोश	बोल, लोध्र
शार्दूल	बाघ	चीता वृक्ष

उपर्युक्त मासादि शब्द जैन सूत्रों तथा प्रकरण ग्रन्थों में आते रहते हैं। परन्तु इनमें से बहुत से शब्दों के मौलिक अर्थ ईसा की प्रथम शताब्दी तक भूले जा चुके थे। मात्र आमिष शब्द अपना मौलिक अर्थ ईसा की बारहवीं सदी तक टिकाये रहा था, परन्तु उसके बाद आमिष का वास्तविक अर्थ भी चला गया।

अब हम उक्त शब्द कहां कहां प्रयुक्त हुए हैं, उनका स्थल निर्देश पूर्ण वर्णन करेंगे।

मास शब्द "आचारांग" 'निशीथाध्ययन" "सूर्य्य प्रज्ञप्ति" "चुल्ल कप्प सुत्त" आदि सूत्रों में, आमिष शब्द 'सम्बोध प्रकरण" "धर्म रत्न करण्डक' आदि में, पुद्गल शब्द "आचारांग" दशवैकालिक सूत्र" आदि में, मद्य शब्द "भगवती सूत्र में, मत्स्य शब्द "आचारांग" "निशीथाध्ययन आदि में, और मद्य शब्द "बृहत्कल्प" भाष्य, 'चुल्ल कप्प सुत्त" में आया है। इनमें से मास आमिष शब्द घृत पक्व मिष्टान्न के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

मद्य प्रासुक शब्द अचित्त (निर्जीव) भोजन पानी के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। मत्स्य शब्द जैन सूत्रों में मद कारक कोद्रव आदि असार धान्यों के तन्दुल के अर्थ में आया है। मद्य शब्द सन्धान जनित सौवीर जल आदि पेय पानीय के अर्थ लिखा गया है।

अब हम उक्त शब्दों के सूत्र स्थलों को उद्धृत करके उनका वास्तविक अर्थ समझायेंगे। आचाराङ्ग सूत्र द्वितीयश्रुतस्कन्धे सखडि सूत्रम्—

९— से भिक्खू वा० नाव समाणे से ज पुण जाणेज्जामसाइय वा मच्छाइय वा मसखल वा मच्छ खल वा आहेण वा पहेण वा हिंगोल वा समेल वा हीरमाण वा पेहाए अतरासे मग्गा बहुपाणा बहुबीया बहुहरिया बहु ओसा बहु उदया बहुउत्तिंगपणग, दग मट्टिय मक्कडा सताणया बहवे तत्थ समण माहण अतिहि किवण वणी मगा उवागया उवागमिस्सन्ति, तत्था इना वित्ती पन्नस्स निक्खमण पवसाए नो पन्नस्स वायण पुच्छण परियट्टणाणुप्पेह धम्माणु ओग चिन्ताए से एव नचा तहप्पगार पुर सखडि वा पच्छा सखडि वा सखडि सखडि परियाये नो अभिसधारिज्जा गमणाए।

से भिक्खू वा० से ज पुण जाणिज्जा मसाइय वा मच्छाइय वा जाव हीरमाण वा पेहाए अन्तरा से मग्गा अप्पाणाणा जाव मता णगा नो जत्थ बहव समण० जाव उवागमिस्सति अप्पाइन्ना वित्ती पन्नस्स निक्खमण पवेसाए पन्नस्स वायण पुच्छण परियट्टणाणुप्पेह धम्माणु ओगचिन्ताए सेव नचा तहप्पगार पुर सखडि वा अभि धारिज्जा गमणाए॥ सू० २२॥ चू० १ पिण्डे १ उ० ३॥

अर्थ—वह भिक्षु या भिक्षुणी यह जाने कि अमुक स्थान मासादिक (जिस भोज्य में मिठाई आदि गरिष्ट खाद्य पहले खाया जाता हो वह भोज) अथवा मासादिक (जिस भोज म पकाये हुए तन्दुल ओदनादि पहले खान को परोसा जाता हो वह भोज) बडा भोज है, और अमुक मासादि तथा मत्स्यादि तैयार करने के स्थान है। भले ही वह आहेण (विवाह के अन तर वधू का प्रवेश होने पर वर क घर दिया जाने वाला) भोज हो, पहेण (वधू के ले जाने

गुठली तथा बीज शेष रहे हैं, ऐसा फल मेवा आदि मिलता हो तो ग्रहण न करे। गृहस्थ के घर में भिक्षार्थ गये हुए भिक्षुणी को उस प्रकार के अधिक बीज गुठली वाले फल मे वा लेने के लिए गृहस्वामी अथवा उसकी स्त्री उसे निमन्त्रण करे कि हे आयुष्मन्! श्रमण! यह अधिक बीजवाला फल मेवा तुम चाहते हो क्या? इस प्रकार का शब्द सुनकर वह पहले ही सोच कर कहे, हे आयुष्मान्! अथवा हे बहन! मुझे नहीं कल्पता, बहु गुठली और कांटों वाला फल मेवा यदि तुम मुझे देना चाहती हो तो इसमे से गूदा और गर्भ रूप जो सार भाग है उसे दे दो, गुठली आदि नहीं यह कहते हुए भी गृहस्थ एकदम वह कचरे वाली चीज के बहुत विभाग करके पात्र म डाल दे तो वह पात्र यदि दूसरे के हाथ म अथवा दूसरे के पात्र म रक्खा हो तो उसे कहना यह अप्रासुक अनेषणीय है, हमे नहीं कल्पता, यदि वह पात्र सहसा अपने हाथ मे ले लिया हो तो न भला कहे, न बुरा कहे, वह उसका लेकर एक तरफ हट कर किसी उद्यान मे वृक्ष के नीचे उपाश्रय में जहा कीटी आदि सूक्ष्म जन्तुओं के अण्डे न हों तथा मकडी के जाल न हों वहा फल का गर्भ तथा मेवा का गूदा खाकर गुठलिया बीज आदि कूडा कर्कट लेकर एकान्त मे जा जली भूमि आदि निर्जीव भूमि को झाड कर वहा रख दे।

निशीथाध्ययन नवमोद्देश के

३—"मंस खायाण वा मच्छ खायाण वा बहिया निग्गयाण असण वा पाण वा खाइम साइम वा पडिग्गा हेइ"

अर्थ—माम खान वाला से तथा मत्स्य खान वालों से बाहर निकल हुए लोगों के यहाँ से अशन (भाज्य) पान (पय) खादिम (मेवा फल आदि) स्वादिम (चूर्ण पान तम्बालादि) ग्रहण करे तो प्रायश्चित का भागी हो।

निशीथाध्ययन एकादशोद्देशे

४—"मसाइय वा मच्छाइय वा मस खल वा मच्छ खल वा आहेण या पहेण वा सम्मेल वा हिंगोलवा अन्नयर वा तहप्पगार विरूप-रूप हीरमाण प हाए ताए आसा ए ताए पिवा साए त रयणि अन्नत्थ ग्वाइणा वइ"

अर्थ—मासादिक, मत्स्यादिक, मास निर्माण स्थान, मत्स्य निमाण स्थान, आहेण (विवाह क अनन्तर वधू का प्रवश हा पर वर क घर दिया जान वाला) भोज, पहेण (वधू को लजान क समय उसके पितृघर म दिया जान वाला) भाज, सम्मेल (कौटुम्बिक अथवा गोष्ठी) भाज, हिंगोल (मृतक भोजन अथवा यक्ष आदि की यात्रा क निमित्त दिया जान वाला) भोज, तथा इससे अतिरिक्त इसी प्रकार क विशेष भोजनारम्भा म तैयार किया हुआ खाद्य पक्वान्न इधर उधर ले जाया जाता देखकर उसे प्राप्त करने की आशा स उसे खान की तृष्णा से शय्यातर का घर छोड़कर उस रात्रि को अ यत्र स्थान में जाकर बिताये तो प्रायश्चित्त का भागी हो।

दशवैकालिक पिण्डैषणाध्याये प्रथमोद्देश के

"बहु अट्ठिय पुग्गल, अणिमिस वा बहुकंटय ।
अच्छिय तिंदुय बिल्लं, उच्छुखंडव सिंबलिं ॥ ७३ ॥
अप्पे सिया भोअणजाए, बहुउज्झिय धम्मिय ।
दितिय पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७४ ॥

अर्थ—बहु गुठली वाला फल, तथा मेवों का सार भाग, तथा पिष्ट से बनाये गये सकंटक मत्स्य, अस्थिक वृक्ष, तिन्दु वृक्ष और बिल्व वृक्ष के फल तथा गन्ने का टुकड़ा शिम्बा (फली) इत्यादि भोजन जात जिसमें खान योग्य पदार्थ कम होता है, और फेंकने योग्य अधिक उसको देती हुई गृह स्वामिनी को निषेध कर कि इस का खाना मुझे नहीं कल्पता ।

६—मडाइणं भंते निरुद्धे निरुद्ध भवे निरुद्ध भवपवञ्चे याव निट्ठियट्ठकरणिज्जे णो पुण रवि इत्थ त हव्व मागच्छति हंता गोयमा ! मडाइणं नियट्ठे जाव णो पुणरवि इत्थत्त हव्व माग च्छति सेणं भंते । किंतिवत्तव्व सिया मुत्तेति वत्तव्व सिया पारग एत्ति वत्तव्व सिया परपरा गएत्ति वत्त० सिद्धे मुत्ते परिनिव्वुडे अंत कडे सव्व दुक्खप्प हीणेत्ति वत्तव्वं सिया, सेवं भंत । सेवं भंतेत्ति ।

अर्थ—हे भगवन् ! मडादी (मृतादी मृतभक्षक) निग्रन्थ, जिसने भव प्रपञ्च को रोका है, जिसने अपना कार्य पूरा कर दिया है, वह फिर इस संसार मे नहीं आता ? हाँ गौतम ! मृतादी निग्र थ फिर यहाँ नहीं आता भगवन् ! उसको क्या कहना

अर्थ—वर्षा निवास रह हुए निर्ग्रंथ निर्ग्रंथिनियों को जो हृष्ट पुष्ट शरीर निरोग और बलिष्ट शरीर वाले हैं, ये नवरस विकृतिया वार बार लेनी नहीं कल्पती है, ये रस विकृतिया ये हैं, क्षीर (दूध) दधि (दही) नवनीत (मक्खन) सर्पिष (घी) तैल, गुड, मधु (शहद) मद्य (सन्धान जल) मांस (पक्वान्न)

सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र में नक्षत्र भोजन

किस नक्षत्र के दिन किस प्रकार का भोजन करके जाने से कार्य सिद्ध होता है, इस बात को लेकर अट्ठाइस नक्षत्रों के भोजन बताये गये हैं। जो नीचे उद्धृत करते हैं—

८—'ता कह ते भोयणा आहितेति वदेज्जा १ ता ए एसिणं अट्ठावीसाए ण णक्खत्ताणं'—

१—कत्तियाहिं दधिणा भोच्चा कज्ज साधियति।
२—रोहिणीहिं ससमंस भोच्चा कज्ज साधति।
३—सठाणाहिं मिगमंस भोच्चा कज्ज साधिति।
४—अद्दाहिं णवणीतेन भोच्चा कज्ज साधिति।
५—पुणव्वसुनाऽथ घतण भोच्चा कज्ज साधिति।
६—पुस्सेणं खीरेण भोच्चा कज्ज साधिति।
७—अस्सेसाए दीवगमंस भोच्चा कज्ज साधति।
८—महाहिं कसातिं भोच्चा कज्ज साधेति।
९—पुव्वाहिं फग्गुणीहिं मेदकमंस भोच्चा कज्ज साधेति।
१०—उत्तराहिं फग्गुणीहिं णक्खीमंस भोच्चा कज्ज साधेति।

११—हत्थेण वत्थाणीएण भोच्चा कज्जं साधेंति ।
१२—चित्ताहिं मुग्ग सूवण भोच्चा कज्जं साधेंति ।
१३—सादिणा फलाइं भोच्चा कज्जं साधति ।
१४—विसाहाहिं आसित्तियाओ भोच्चा कज्जं साधति ।
१५—अणुराहाहिं मिस्सा कूरं भोच्चा कज्जं साधति ।
१६—जेट्ठाहिं लट्ठिएण भोच्चा कज्जं साधेंति ।
१७—मूल
१८—पुव्वाहिं आसाढाहिं आमलगसरीरे भोच्चा कज्जं साधति ।
१९—उत्तराहिं आसाढाहिं बलेहिं भोच्चा कज्जं साधेंति ।
२०—अभिइणा पुप्फहिं भोच्चा कज्जं साधति ।
२१—सवणेण खीरेण भोच्चा कज्जं साधेति ।
२२—धनिट्ठा ।
२३—सयभिसयाए तुवराउ भोच्चा कज्जं साधेति ।
२४—पुव्वाहिं पुट्ठवयाहिं कारिल्लएहिं भुच्चा कज्जं साधति ।
२५—उत्तराहिं पुट्ठवताहिं वराहमंस भोच्चा कज्जं साधेंति ।
२६—रेवतीहिं जलयरमंस भोच्चा कज्जं साधेति ।
२७—अस्सिणीहिं तित्तिरमंस भोच्चा कज्जं साधति ।
२८—भरणीहिं तल तन्दुलकं भोच्चा कज्जं साधेंति । (सु० ५१)

वे नक्षत्र भोजन किस प्रकार कहे हैं, बताना चाहिए । इन अट्ठाइस नक्षत्रों के भोजन ये कहे हैं—

१—कृत्तिका नक्षत्र के दिन दही से भोजन करके कार्य सिद्ध करते हैं ।

२—रोहिणी नक्षत्र के दिन शशमास अर्थात् लोध से बनाया हुआ पकान्न खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

३—मृगशीर्ष नक्षत्र में कस्तूरी मिला पकान्न खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

४—आर्द्रा नक्षत्र को मक्खन के साथ भोजन करके कार्य सिद्ध करते हैं।

५—पुनर्वसु के दिन घृत के साथ खाना खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

६—पुष्य के दिन दूध के साथ भोजन करके कार्य सिद्ध करते हैं।

७—अश्लेषा के दिन कसार मिश्रित पकान्न खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

८—मघा के दिन कसौंची मिश्रित खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

९—पूर्वा फाल्गुनी के दिन जीवक नामक शाक मिश्रित पकान्न खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

१०—उत्तरा फाल्गुनी के दिन नखी नामक सुगन्धित द्रव्य मिश्रित पकान्न खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

११—हस्त नक्षत्र के दिन अजमोदा का पना कर भोजन करके कार्य सिद्ध करते हैं।

१२—चित्रा के दिन मूंग की दाल के साथ भोजन कर कार्य सिद्ध करते हैं।

१३—स्वाति को फल खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

१४—विशाखा को खाजे खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

१५—अनुराधा को खीचड़ी खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

१६—ज्येष्ठा को मधुयष्टि चबा कर भोजन करके कार्य सिद्ध करते हैं
१७—(मूल) इसका भोजन सूत्र में नहीं मिलता)
१८—पूर्वाषाढ़ा के दिन को आवले खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।
१६—उत्तराषाढ़ा का बला के बीजों को चबा कर भोजन करके कार्य सिद्ध करते हैं।
२०—अभिजित को गुलकन्द के साथ खाना खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।
२१—श्रवण को दूध के साथ खाना खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।
२२—(धनिष्ठा का भोजन सूत्र में नहीं मिलता है)
२३—शतभिषा के दिन तुम्बर को खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।
२४ - पूर्वा भाद्रपदा के दिन करलों के साथ भोजन करके कार्य सिद्ध करते हैं।
२५—उत्तरा भाद्रपदा को सकर कन्द का पकान्न खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।
२६—रेवती के दिन जलचर नामक वृक्ष के सार से मिश्रित पकान्न खाकर कार्यसिद्ध करते हैं।
२७—अश्विनी के दिन अश्वग धा चूर्ण डालकर बनाया हुआ मिष्टान्न खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।
२८—भरणी को तिल के दाने डालकर बनाया हुआ खाना खाकर कार्य सिद्ध करते हैं।

मार्जारकृत कुक्कुट मास क्या था ?

भगवान् महावीर ने अपनी बीमारी की अन्तिम हालत में अपने शिष्य सिंहमुनि को मेंढिय गाम निवासिनी रेवती नामक

गाथा पतिनी क घर भेजकर वहाँ से जो औषधीय खाद्य मगवाया था, उसका भगवती सूत्र के गाशालकशतक में सविस्तर वर्णन किया गया है। जिसका आगे पीछे का सम्ब ध छोड़कर अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बी विचले निम्नलिखित वाक्य उद्धृत किये हैं, और उसके अर्थ म यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि महावीर स्वामी भी मास खाते थे। धर्मानन्द द्वारा उद्धृत पाठ और उनका अर्थ नीचे दिया जाता है—

"त गच्छहरा तुम सीहा मेंढिय गाम नगर रवतीए गाहा पतिणीए मम अट्ठाए दुवे कवोय सरीरा उवक्खडिया तेहिनो अट्ठो। अत्थि से अन्ने परियासिए मज्जार कडए कुक्कुड मसए त आहाराहि एएण अट्ठो।"

उपयुक्त उद्धरण का धमानन्द कौशाम्बी नीचे लिखा अर्थ बताते हैं।

उस समय महावीर स्वामी न सिंहनामक अपने शिष्य से कहा "तुम मेंढिय गॉव में रेवती नामक स्त्री क पास जाओ। उसने मेरे लिए दो कबूतर पका कर रक्खे ह। व मुझे नहीं चाहिए। तुम उससे कहना कि कल बिल्ली द्वारा मारी गयी मुर्गी का मास तुम ने बनाया ह, उतना दे दो"

उक्त अर्थ श्री कौशाम्बी ने अपनी तरफ से नहीं पर श्री गोपालदास जीवा भाई पटेल के कथनानुसार लिया है। श्री गोपालदास और अध्यापक कौशाम्बी ने भगवान् महावीर की

तात्कालिक बीमारी का पूरा वर्णन पढ़ लिया होता तो हमें विश्वास है, कि वे भगवान् महावीर को मांस खिलाने को तैयार नहीं होते। इतना तो कौशाम्बी स्वयं स्वीकार करते हैं कि उस समय महावीर स्वामी को खून के दस्त लगते थे। यदि अध्यापक कौशाम्बी में समन्वय कारक बुद्धि होती तो इस प्रकार की शारीरिक बीमारी में महावीर पर मांस भक्षण का आरोप लगाने के पहले हजार बार विचार करते। भगवान् महावीर की तात्कालिक हालत कैसी थी इसका कुछ विस्तृत वर्णन देकर हम इस घटना का विशेष वर्णन स्पष्ट करेंगे। भगवान् की बीमारी के सम्बन्ध में सूत्रकार लिखते हैं।

"तए णं कालेणं २ मेंढियगामे नाम नगरे होत्था वन्नओ तस्सणं मेंढियगामस्स नगरस्स बहिया उत्तर पुरच्छिम दिसि भाए एत्थणं साल कोट्टए नाम चेइए होत्था वन्नओ जाव पुढवि सिला पट्टओ तस्सणं सालकोट्टगस्स णं चेइयस्स अदूर सामंत एत्थेणं महेगे मालुया कच्छए यावि होत्था किण्हे किण्होभासे जाव निकरम्ब भूए पत्तिए पुप्फिए फलिए, हरियगर रिज्जमाणे सिरिए अतीव २ उवसोभेमाणे चिट्ठति, तत्थणं मंढियगामे नगरे रेवती नाम गाहा वइणी परिवसति अड्ढा जाव अपरिभूया।

तएणं समणे भगवं महावीरे अन्नया कदायि पुव्वाणुपुव्वि चरमाणे जाव जेणेव मेंढियगामे नगरे जेणेव साल कोट्टए चेइए जाव परिसा पडिगया। तं एणं समणस्स भगवओ महावीरस्स सरीरगंसी विपुले रोगायके पाउब्भूए उज्जले जाव दुरहियासे पित्त

त्तर परिगय सरीर दाह वक्कतीए यावि विहरति, अग्गियाइ लाहिय वधाइवि पकरइ चाउरग्न वागरेति एव म्बलु समणे भग० महा० गासालस्स मक्खलिपुत्तस्स तवण त ग्ग अण्णा इट्ठे समाणे अत छण्ह मासाए पित्तजर परिगय सरीर दाह वक्कतिग छउ मत्थ चेव काल करस्सति ।

तए काळए तए समयेए समणस्स भगवओ महावीरस्स अतवासी सोहं नाम अणगार पगइ भद्दए जाव विणीए मालुया कच्छगस्स अदूर सामते छट्ठ छट्ठेए अनिक्खित्तेए २ तवा कम्मेण उड्ढ बाहा जाव विहरति तएण तस्स सीहस्स अणगारस्सज्झाण तरियाएवट्टमाणस्स अयमेयारूप जाव समुप्प ज्जित्था एव म्बलु मम धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्य समणस्स भगवओ महावीर सरीरग सिविउल रागायक पाउब्भूए उज्जल जाव छउमत्थ चेव काल करि स्सति । वदिस्सति यण अन्नतित्थिया छउ मत्थ चव काल गए, इमेए एयारूवण महामणा माणसि एए दुक्खेण अभिभूय समाणे आयावण भूमिओ पचो रुभइ आवा० २ जेणेव मालुया कच्छए तेणेवउवा मालुया कच्छग अता अणुपविसइ मालुया० २ महा २ सद्देण कहु कुहुस्स परुन्ने ।

अज्जाति समणे भगव महावीरे समणे निग्गन्थ आमतोस आ० २ एव वयासी एव खलु अज्जा मम अतवासी सोह नाम अणगार पगइ भद्दए त चव सव्व भाणियव्य जाव परुन्ने त गच्छ हए अज्जो २ तुब्भे सीह अणगार सद्दह,त एए ते समणा निग्गथा समणेण भगवया महावीरेण एव वुत्ता समाणा समणं पहा

वीर व० न० २ समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ साल कोट्ठयाओ चेइयाओ पडिनिक्खमति मा० २ जेणेव मालुया कच्छए जेणेव सीहे अणगारे तेणेव उवागच्छति २ सीहं अणगारं एव वयासी सीहा। धम्मारिया सद्दावेंति तएणं से सीहे अणगारे समणेहिं निग्गंथेहिं सद्धिं मालुया कच्छगाओ पडिनिक्खमति प० २ जेणेव साल कोट्ठए चइए जेणेव सीहे अणगारे समणे भगवं महावीर तेणेव उवा० समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आ० २ जाव पज्जुवासति।

सीहादि समणे भगवं महावीरे सीहं अणगारं एव वयासी से नूणं तं सीहा! झाण तरियाए वट्टमाणस्स अयमेयारूवे जाव परुन्ने से नूणं तं सीहा। अट्ठे समट्ठे हंता अत्थि तं नो खलु अहं सीहा! गं सालस्स मक्खलि पुत्तस्स तवेणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं जाव कालं करिस्सं अहन्न अन्नाइं अद्ध सोलस वासाइं जिणे सुहत्थी विहरिस्सामि। तं गच्छह णं तुमं सीहा! मेढिय गामं नगरं रेवतीए गाहावतिणीए गिहे तत्थणं रेवतीए गाहा वतिणीए मम अट्ठाए दुवे कवोय सरीरा उवक्खडिया तेहिं नो अट्ठो, अत्थि से अन्ने परियासीए मज्जार कडए कुक्कुड मसए तमा हाराहि एएणं अट्ठो।

तएणं सीहे अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं एव वुत्ते समाणे हट्ठ तुट्ठ जाव हियए समणं भगवं महावीरं व० न० व० न० अतुरिय मचवल मसंभंत मुहपोत्तियं पडिलेहत्ति मु० २ जहा गोयम सामी जाव जेणेव समणे भ० म० तेणेव उवा० समणं

भगव महावीर वद० नम० समणस्स भ० महा० अतियाओ सा। काट्टयाओ चेइयाओ पडिनिक्खमति प० २ अतुरिय जाव जणेव मढिय गामे नगरे तणेव उवा० २ मढिय गाम नगर मज्झ मज्झेण जेणेव रेवतीए गाहा वइणीए गिह अणुपविट्ठे त एण सा रवती गाहावतिणी सीह अणगार एज्जमाण पासति पा० २ हट्ठ तुट्ठ खिप्पा मेव आसणाओ अब्भुट्ठेइ २ सीह अणगार सत्तट्ठ पयाइ अणु गच्छइ स २ तिक्खुत्तो आ० वदति न २ एव वयासी सदिसतु ण देवाणुप्पिया। किमागमणप्पयोयण ? त एण से सीह अणगार रवति गाहावइणी एव वयासी—एव खलु तुमे देवाणुपिय। समण भ० महा० अट्ठाए दुव कवोय सरीरा उवक्खडिया तेहि नो अट्ठ अस्थि ते अन्न परियासिए मज्जार कडए कुक्कुड मसए एयमाहराहि, तए अट्ठा त एण सा रवती गाहावइणी सीह अणगार एव वयासी क सण सीहा से णाणी वा तवस्सी वा जेण तव एस अट्ठे मम ताव रहस्स कड हव्व मक्खाए जओण तुम जाणासि २ एव जहा खदए जाव जओण अह जाणामि त एण सा रवती गाहावतिणी सीहस्स अणगारस्स अतिय एय मट्ठ सोचा निसम्म हट्ठ तुट्ठा जेणेव भत्त घर तणेव उवा० २ पत्तग मा एति पत्तग मो एत्ता जेणेव सीहे अणगार तणेव उवा० २ सीहस्स अणगारस्स पडिग्गहगसि त सव्व सम निसिरति त एण तीए रवतीए गाहावतिणीए तएण दव्व सुद्धेण जाव दाणेण सीह अण ार पडिलाभिए समाणे देवाउए निबद्धे जहा विजयस्स जाव जम्म जीविय फल रेवतीए गाहावति णीए गिहाओ पडिनिक्खमति० २ मढिय गाम नगर म ज्झ मज्झेण निगच्छति निगच्छ इत्ता जहा गायम सामी जाव भत्त पाण पडि

२सेति० २ समणस्स भगवओ महावीरस्स पाणिसि त सव्व सम निस्सरति त एण समणे भगव महावीर अमुच्छिए जाव अणज्झोव वने निलमिव पन्नगभूएण अप्पाणेण तमाहार सरीर कोट्ठगसि पक्खिवति, त एण समणस्स भगवओ महा० तमाहार आहारियस्स समाणस्स से विपुले रोगायक खिप्पामेव उव सम पत्ते हट्ठे जाए आरोगे वलिय सरीरे तुट्ठा समणा तुट्ठाओ समणीओ तुट्ठा सावया तुट्ठा ओ सावियाओ तुट्ठा दवा तुट्ठाओ देवीओ–स देव मणुया सुरे लोए तुट्ठे हट्ठे जाए समणे भगव महावीरे हट्ठ० २ ॥५५१॥

"भगवति सत" १५ पृ० ४५८

अर्थ—उस काल समय मे मेढिय गाम नामक नगर था। वर्णन—उस मढिय गाम नगर के बाहर इशान दिशा विभाग मे साल कोष्ठक नामक चैत्य था, "वर्णन"। जहाँ पर विशाल पृथ्वी शिलापट्ट खुला आया हुआ था। उस शाल कोष्ठक नामक चैत्य से कुछ दूरी पर एक बड़ा मालुका कच्छ नामक निम्न भूमि भाग आया हुआ था। जो वृक्ष लताओं से सघन श्याम और श्याम कान्ति वाला पत्रों, पुष्पों, फलों से समृद्ध और हरियाली से भरा हुआ अतिशय सुशोभित वह कच्छ था।

उस मेढिय गाम मे रेवती नाम की गाथापतिनी रहती थी। वह बड़ी धनाढ्य थी। उसका नाम बडे मनुष्यों म गिना जाता था। उस समय श्रमण भगवान् महावीर विहार क्रम से विचरते हुए मढिय गाम के बाहर शाल कोष्ठक चैत्य मे पधारे, वहां नगर

वासियों की परिषद् मिली। भगवान् ने धर्मोपदेश दिया और परिषद् अपने अपने स्थान की तरफ लौटी।

उस समय श्रमण भगवान् महावीर के शरीर में बड़ा कष्टकर रोग उत्पन्न हुआ था, जो तीव्र और असह्य हो गया था। उनका शरीर पित्त-ज्वर से व्याप्त था और सारे शरीर में जलन हो रही थी। यही नहीं किन्तु उनको रक्तातिसार तक हो गया था बार बार खून के दस्त लगते थे, भगवान् की इस बीमारी को देख कर चारों वर्णों के लोग कहते थे (छः महीने पहले श्रावस्ती के उद्यान में) मक्खलि गोशालक ने भगवान् पर जो अपनी तेजोलेश्या छोड़ी थी, उससे व्याप्त होकर महावीर का शरीर पित्तज्वर से व्याप्त और दाह से आक्रान्त हो गया है, क्या ? यह छः महीने के भीतर छद्मस्थ ही काल करेंगे ? उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के शिष्य अनगार सिंह मालुका कच्छ से कुछ दूर निरन्तर छट्ठ छट्ठ उपवास करते हुए हाथ ऊँचे और दृष्टि सूर्य के सम्मुख रख कर आतापना कर रहे थे, तब ध्यान में लीन सिंह अनगार के कानों में महावीर के रोग से उनके मृत्यु की सम्भावना करने वाली रास्ते चलते लोगों की बातें पड़ी, उनका ध्यान विचलित हो गया व लोगों की वार्ता का पुनरुच्चारण करते हुए ध्यान भूमि से नीचे उतर कर मालुका कच्छ के निम्न सघन प्रदेश में पहुँचे और अपने धर्माचार्य के अनिष्ट की चिन्ता में वे जोरों से रो पड़े।

भगवान् महावीर ने अपने शिष्यों को सम्बोधन करते हुए कहा आर्यो! मेरा शिष्य सिंह अनगार लोगों की बातें सुन कर मेरे

अनिष्ट की चिन्ता से मालुका कच्छ के भीतर रो रहा है तुम जाओ और उसे यहां ले आओ।

भगवान् की आज्ञा पाकर निर्ग्रन्थ श्रमण वन्दन नमस्कार कर के मालुका कच्छ की तरफ रवाना हुए और सिंह अनगार के निकट जाकर बोले, हे सिंह! चलो तुम्हें धर्माचार्य बुलाते हैं, तब सिंह आये हुए श्रमणों के साथ भगवान महावीर के पास पहुँचा और वन्दन कर खड़ा हुआ। सिंह को सम्बोधन कर महावीर ने कहा, सिंह! क्या तू मेरे मरण की आशंका से रो पड़ा? सिंह ने कहा, हां भगवन्! महावीर बोले सिंह! मैं छः मास के भीतर नहीं मरूंगा, मैं अभी साढ़े पन्द्रह वर्ष तक सुख पूर्वक जिन रूप में विचरूंगा। इस वास्ते हे सिंह! तू मेंढिका गांव में रेवती गाथापतिनी के घर जा। उसने मेरे लिये दो कूष्माण्ड फल पका कर तैयार किये हैं, उनकी तो आवश्यकता नहीं है पर उसके यहां कुछ दिन पहले अगस्त्य की शिम्बाओं के साथ में सुनिषण्णक (१कुक्कुट) वनस्पति के कोमल पत्तों से तैयार किया, घन मिला कर तैयार किया हुआ औषधीय पाक पड़ा हुआ है—उस की आवश्यकता है सो ले आ।

टिप्पणी—१ कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी कुक्कुट शब्द का प्रयोग वनस्पति के ही अर्थ में हुआ है लिखा—

"कुक्कुट कोशातकी शतावरी मूलयुक्त माहारयमाणो मासेन गौरो भवति

अर्थ—सुनिषण्णक कुक्कुट कोशातकी (तुरई) शतावरी इनके मूल के साथ एक मास तक भोजन करने वाला मनुष्य गौर वर्ण हो जाता है।

भगवान् का आदेश पाकर सिंह बहुत ही सन्तुष्ट हुआ और भगवान् का वन्दन करके अपने स्थान गया और मुखवस्त्रिका तथा पात्र की प्रतिलेखना कर गौतम स्वामी की तरह फिर भगवान् के पास जा उनको वन्दन कर आज्ञा ले कर मेंढिय ग्राम की तरफ चला। मेंढियग्राम के मध्य में होकर रेवती के घर की तरफ गया। जब सिंह ने रेवती के घर द्वार में प्रवेश किया तो वह अपने आसन से उठी और साथ ही आठ कदम सामने जाकर विधि पूर्वक मुनि को वन्दन किया और बोली कहिए महाभाग! किस कारण से पधारे? रेवती का प्रश्न सुनकर अनगार सिंह बोले गाथापतिनि! तुमने भगवान् महावीर के लिये दो कूष्माण्ड फल-घृत-पक्व कर तैयार किये हैं उनकी तो आवश्यकता नहीं है, परन्तु अगस्त्य फली का माथा तथा सुनिषण्णक (कुक्कुट) वनस्पति के पत्र के शाक से तैयार किया हुआ पाक जो तुम्हारे घर में पहले से विद्यमान है, उसकी आवश्यकता है। सिंह की बात सुनकर रेवती बोली, हे सिंह! ऐसा तुमको कौन ज्ञानी और तपस्वी मिला जिससे मेरी रहस्य भरी बातें तुमने जान कर कह दीं। इस पर सिंह ने कहा मैं भगवान् महावीर के कहने से इन बातों को जानता हूँ। यह सुन कर रेवती बहुत हर्षित हुई और रसोई घर में जाकर सिंह का पात्र नीचे रखवाया और अन्दर से वह खाद्य पाक लाकर सब पात्र में डाल दिया, रेवती ने इस शुद्ध द्रव्य का शुभ भाव से दान देकर देव गति का आयुर्बन्ध किया।

बाद में सिंह रेवती के घर से निकल मेंढिय ग्राम के बीच में

होकर साल कोष्ठ, चैत्य मे पहुँचे और भगवान् के पास जाकर गोचर चर्या की आलोचना कर आहार भगवान् को बताया और उनके दोनों हाथों मे वह सपूर्ण खाद्य रख दिया भगवान् ने अमूर्च्छित भाव से आकाक्षा रहित होकर यह आहार मुख द्वारा उदर कोष्ठक में डाल दिया।

उस आहार के खाने से भगवान् महावीर के शरीर में जो पित्त ज्वरादि रोगआतक थे, वे बहुत जल्दी शान्त हो गये और भगवान् का शरीर धीरे धीरे पूर्ववत् बलिष्ठ हो गया। इस घटना से श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध सघ बहुत हर्षित हुआ। यही नहीं, पर महावीर की निरोगता के समाचारों को सुन कर देव-असुर स्वरूप त्रैलोक्य भी सन्तुष्ट हो गया।

१० आमिष शब्द सम्बोध प्रकरण म वर्णित चतुर्विध पूजा के द्वितीय भेद के रूप में उल्लिखित हुआ है। जो नीचे दिया जाता है—

पुप्फामिस थुइ पडिवत्ति भेएहि भासिया चउहा।
जह सत्तीए कुज्जा पूया पूयप्प सब्भावा ॥१९०॥
(सम्बोध प्रकरण)

अर्थ—पुष्प, आमिष (नैवेद्य) स्तुति और प्रतिपत्ति इन भेदों से पूजा चार प्रकार की कही है, जो शक्ति के अनुरूप पूज्य पर प्रकृष्ट सद्भाव लाकर करनी चाहिए।

धर्मरत्नकरण्डक में त्रिविध पूजा में आमिष पूजा द्वितीय कही है। जो नीचे श्लोक से विदित होगी—

> चारु पुष्पामिष स्तोत्रैस्त्रिविधा जिनपूजना।
> पुष्पगन्धादिभिश्चान्यैरष्टधेय निगद्यते ॥१॥
>
> (वर्धमान सूरिकृत धर्मरत्नकरण्डक)

अर्थ—सुन्दर पुष्प, बढ़िया आमिष (नैवेद्य) और अर्थगम्भीर स्तोत्र इन तीन से त्रिविध पूजा की जाती है।

अन्य आचार्य पुष्प, गन्ध अक्षत, धूप दीप नैवद्य, फल और जल इन अष्ट द्रव्यों से अष्ट प्रकारी पूजा कहते हैं।

(१) चुल्लकल्प में नव रस विकृतियों के नाम गिनाते समय सूत्रकार ने "मज्ज मस" इस प्रकार आठवाँ मद्य और नवाँ मांस लिखा है। हमने मांस का विवेचन इस सूत्र खण्ड के निरूपण में कर दिया है। मद्य का विवेचन आगे के लिये रक्खा था, जो अब किया जाता है।

सूत्रकार के समय से पहले ही जैन श्रमणों के पेय जल में तुषोदक, यवोदक, सौवीर जल आदि का समावेश होता था। ये जल, बहुधा प्रत्येक गृहस्थ के घरों में तैयार मिलते थे और जैन श्रमणों तथा अन्य भिक्षुओं को गृहस्थ लोग भक्तिपूर्वक देते थे। जल, प्रायः अन्न तथा पिष्ट आदि के सन्धान से बनाये जाते थे। बीमारी भोग कर उठे हुए मनुष्यों को ये जल उनकी शक्ति बढ़ाने तथा उनका स्वास्थ्य ठीक करने के प्रयोजन से दिये जाते थे।

स्वस्थ मनुष्य भी निर्दिष्ट मात्रा में लिया करते थे। जिससे उनकी जठराग्नि व्यवस्थित बनी रहती थी।

तुषोदक आदि की बनावट निघण्टु ग्रन्थों में निम्न प्रकार की उपलब्ध होती है।

"शालिग्राम निघण्टु भूषण" में सौवीर यवाम्लकादि जल—

सौवीर सुवीराम्ल यवोत्थ गोधूम-सम्भवम्।
यवाम्लज तुषोत्थ, तुषोदकञ्चापि कीर्तितम्॥

अर्थ—सौवीर, सुवीराम्ल ये दोनों पर्याय नाम हैं और गेहूँ तथा यवों से बनने वाले जल को यवोदक कहते हैं, गेहूँ तथा यव के छिल्कर से बनने वाले जल को तुषोदक कहते हैं।

भावप्रकाश निघण्टुकार इस विषय में कहते हैं—

सौवीर तु यवैरामैः पक्वैर्वा निस्तुषैः कृतम्।
गोधूमैरपि सौवीर, माचार्याः कथिदूचिरे ॥८॥
सौवीर तु ग्रहण्यर्श कफघ्न भेदि दीपनम्।
उदावर्ताङ्ग मर्दास्थि, शूलानाहेषु शस्यते ॥९॥
(भा० प्र० नि०)

अर्थ—निस्तुष किये हुए कच्चे अथवा भूने हुए यवों के सन्धान से सौवीर बनाया जाता है, किन्हीं आचार्यों ने गेहुओं से भी सौवीराम्ल बनाना कहा है।

सौवीर जल संग्रहणी, अर्श और कफ का नाश करने वाला, पेट के शूल को हटाने वाला और जठराग्नि दीपक है, उदावर्त्त, अङ्गमर्द, अस्थिशूल, आनाह—अफरा के रोगियों के लिये विशेष प्रशंसनीय है।

ऊपर के बयान में सौवीर, यवोदक आदि के उपादान बताये गये हैं परन्तु इसकी निर्माण विधि काञ्जिक निर्माण विधि के सदृश होने से पृथक् नहीं लिखी गई, सभी अम्ल जलों के निर्माण का प्रकार एकसा होता है मात्र उपादानों के भेद से भिन्न भिन्न नाम धारण करते हैं। अम्ल जलों के निर्माण का प्रकार नीचे लिखे अनुसार मिलता है।

नूतन मृण्मय कुम्भ, कटुतैलेन लेपयेत्।
निर्मलं च जलं तस्मिन् राजिकानिर्मिश्रम्॥
हिङ्गु जिरा निशा चैव, ओदनं वंशपल्लवं।
ओदनस्य कुलित्थानां, जलं वल्कखण्डनम्॥
सर्वं तस्मिन्निधायाऽथ, मुद्रां दत्वा दिनत्रयम्।
रक्षयित्वा ततो रन्ध्रे, गालितं काञ्जिकं मतम्॥

(शालिग्राम निघण्टुभूषण)

अर्थ—मिट्टी का कोरा घड़ा लेकर उसमें सरसों का तैल चोप देना फिर उसमें निर्मल ठंडा जल भर के राई, श्वेत जीरा, सैंधा नमक, हिंगु, सोंठ, हल्दी, चावल बांस के हरे पत्ते, भात और कुलथ का अवस्रावण जल, वल्क खण्ड ये सब उस घड़े में

डालकर उसको मुद्रा देकर तीन दिन तक रखना फिर मुद्रा तोड़ कर वस्त्र से जल छान लेना, बस, यही काञ्जिक है।

अगर सौवीर बनाना हो तो राई, जीरा, सैंधानमक, हिंग सोंठ, और हल्दी कुम्भ के जल में डाल कर निस्तुष कच्चे और भून यव डालकर उस घड़े पर मुद्रा दे देना। तीन दिन कुम्भ को मुद्रित रखकर चौथे दिन मुद्रा हटाकर जल वस्त्र से छान लेना, इस प्रकार सौवीर जल तैयार होता है।

यवोदक तुषाम्ब आदि सन्धान जल इसी प्रकार अपने अपने रुपानाम से तैयार किये जाते थे।

बृहत्कल्प भाष्य में सात प्रकार के सौवीराम्लों का निरूपण नीचे की गाथाओं से स्पष्ट होंगे—

अहाकम्मिय सघर पासंड मीसए जाव कीय पूई अत्तकडे।
एक्ककम्मिय सत्तउ वए य चाराविए चेव ॥१७५३॥
(बृहत्कल्पभाष्य)

अर्थ—केवल जैन साधुओं के लिये बनाई हुई १ अपने और साधुओं के निमित्त से बनाई गई २, गृहस्थ और अन्य तीर्थिक साधुओं के लिये बनाई हुई ३ गृहस्थ आगन्तुक अतिथि और पाखण्डिकों के लिये बनाई हुई ४, साधुओं के लिये खरीदी हुई ५, पूति कर्म सौवीरिणी ६, और गृहस्थ ने अपने घर के लिये बनवा कर रखखी हुई सौवीरिणी ७।

उक्त प्रकार की सात सौवीरिणियों में से सप्तम प्रकार की सौवीरिणी में से निकाला हुआ सौवीर जल जैन श्रमण ग्रहण कर सकता था। अन्य प्रकार की सौवीरिणी में से नहीं।

मूलभरणं तु वीया ताहि छम्मासा न कप्पए जाव।
तिनि दिया कड्ढिएण चाउल उदये तहा धामे॥१७५७

अर्थ—जो सौवीरिणी अचित्त है, उसमें साधु के निमित्त राइ, जीरक आदि डाल दिया जाय तो उस सौवीरिणी में से छ महीने तक साधु को सौवीर जल लेना नहीं कल्पता, अगर उस आधा कर्मिक सौवीराम्ल को निकाल कर उसी कुम्भ में चावल का धावन अथवा अवस्रावण डाला जाय तो वह भी पूति कर्म होने के कारण से तीन दिन तक साधु ले नहीं सकता, उसके उपरान्त वह साधु के लेने योग्य बनता है।

जं जीर जुय भरणं तदप्फासुय फासुयं तु तदभावा।
तं पि यहू होइ कम्मं, न केवलं जीर घाएणं॥१७६४॥

अर्थ—जो राइ आदि सचित्त बीज डाला हुआ भरण (बर्तन) वह अप्रासुक होता है, पर उसके अभाव में प्रासुक भी हो जाता है, वह केवल जीवघात से अग्राह्य नहीं होता, किन्तु आधाकर्मिक होने के कारण वह छः मास तक अग्राह्य होता है।

ममसे पर पासंड जावतिय अचणोय मुल्लूए।
छट्ठो नत्थि विकप्पो उसिस चउमो जयट्ठाए॥१७६५॥

उक्त सम्कृतादिसूत्रों के अवतरणों का स्पष्टीकण

१—प्रथम अवतरण "सखडि" अर्थात् सस्कृति सूत्र का है। सखडि भिन्न भिन्न नामा से किये जाने वाले बड़े भोजन समारम्भा को कहते थे। सखडि मे अनेक घृत पक्व मिष्टान्न तथा दाल भात आदि हल्के खाद्य प्रस्तुत किये जाते थे और देशाचार के अनुसार भोजन परोसने की रीतिया भी भिन्न भिन्न थीं। किसी देश मे पकान्न पहले परोसे जाते थे और ओदन दाल आदि पीछे तब किन्हीं भाजा तथा देशों मे यह परिपाटी थी कि ओदन आदि लघु भोज्य परिमित मात्रा मे पहले परोसे जाते थे फिर गरिष्ठ भोज्य।

(१) जो गरिष्ठ खाद्य पदार्थ होते उनमे प्रथम नम्बर का खाद्य मास कहलाता था, जो घी शक्कर पिष्ट आदि से बनाया जाता था और उसमे केशर अथवा रक्त चन्दन का रङ्ग मिलाया जाता था।

(२) पक्व मीठे फला को छील कर उनके बीज या गुठलिया निकाल कर तैयार किया हुआ फलों का गूदा तथा मेवों का गूदा भी मास कहलाता था।

(३) प्राण्यङ्ग सम्भव तृतीय धातु का भी मास कहते थे परन्तु अतिपूर्वकाल मे पहाडी लोगों के अतिरिक्त उसे कोई खाता नहीं था।

बड भाजा मे हल्का खाद्य कोदा के तन्दुल, व्रीहि के तन्दुल

आदि से बनाया जाता था, जो मत्स्य इस नाम भी व्यवहृत होता था। 'मदात अननेति मत्स्य" इस निरुक्तकारों की व्याख्या के अनुसार वह मत्स्य इस नाम से प्रसिद्ध हो गया था। 'मत्स्यो मीने तथा दशभेद मध्यान्तरेऽपम" इत्यादि कोशकारों ने भी तुच्छ भोजन का नाम मत्स्य द रक्खा था। कांजी का तन्दुल मादक होने के अतिरिक्त तुच्छ भी गिना जाता था।

धान्यवाप के अधिकार में कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है—

प्ररूढाश्चाऽशुष्ककटुमत्स्याश्च स्नुही क्षीरेण वापयेत्।

(कौटि० अ० शा० पृ० ११७ अधि० २ अ० २४)

अर्थ—तुषार पात से युक्त फूटे हुए और न सूखे हुए कटुमत्स्या (मदन काद्रव) का उहर के दूध का पुट देकर बोना चाहिए।

उपर्युक्त अर्थशास्त्र के उल्लेख से भी पूर्व काल में मत्स्य शब्द काद्रव का वाचक था यह निस्सन्देह सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार के मांसादि तथा मत्स्यादि भोजन स्थानों में जाने तथा उन भोज्य पदार्थों को लेने का जैन भिक्षुओं को निषेध किया गया है। इसका कारण यह नहीं कि वे अभक्ष्य थे किन्तु ऐसे बड़े भोजों में अन्य अनेक भिक्षु, याचक आदि इकट्ठे होते हैं, मनुष्यों से मार्ग बहुत संकीर्ण बन जाते हैं, उन मार्गों से जल्दी आना जाना नहीं होता, श्रमणों को अपने स्वाध्याय ध्यानादि नित्य कर्मों

में बड़ी क्षति पहुँचती है, इतना ही नहीं बल्कि मार्ग में त्रस स्थावर प्राणियों की विराधना का भी अधिक सम्भव रहता है। इस कारण से जैन श्रमणों को बड़े भोजों में भिक्षा के लिये जाना वर्जित किया है। यदि उक्त प्रकार की विराधना स्वाध्यायादि व्याघात का सम्भव न हो तो उन भोजन स्थानों में जाकर श्रमण भिक्षा ला सकते हैं।

२—आचाराङ्ग का द्वितीय अवतरण मांस मत्स्य सूत्र का है, यहां भी मांस शब्द का अर्थ दूसरे प्रकार का मांस अर्थात् फलों को छील काट कर निकाला हुआ गर्भ, साधु गृहस्थ के घर जाय तब तक उस फल गर्भ में से गुठलियां छिलके निकाले न हों तो गृहस्थ के देने पर भी साधु उन्हें ग्रहण न करे, क्यों कि वह फल गीर (माल) प्रासुक (निर्जीव) नहीं होते। काटने छीलने दूर करने के बाद एक मुहूर्त्त समय व्यतीत होने पर ही वह फल प्रासुक हो सकता है। यदि गुठली तथा बीज भीतर ही मिले हुए हो तो वह फल अप्रासुक ही माना जाता है और जैन भिक्षु उसे ग्रहण नहीं करते, क्योंकि बीज या गुठली को जैनशास्त्रकार सचित (सजीव) मानते हैं, और सचित्त पदार्थ के साथ अचित्त पदार्थ जीव मिश्र होने से अप्रासुक माना गया है।

आचाराङ्ग के इस सूत्र से जो विद्वान् जैन श्रमणों पर मांस भक्षण का आरोप लगाते हैं, उन्होंने इस उद्धरण में आये हुए "अफासुय अणेसणिज्ज" इन शब्दों का अर्थ नहीं समझा, अगर समझा है तो जान बूझ कर उस पर विचार नहीं किया। यदि इन

शब्दों का अर्थ समझा होता तो इस सूत्र में आए हुए मांस को को प्राण्यङ्ग मांस मान कर जैन श्रमणों पर उसके खान का आरोप कदापि नहीं लगाते। यदि इस सूत्र वाला मांस प्राण्यङ्ग होता तो इस सूत्रकार 'अप्रासुक' कदापि नहीं कहते। जैनों की दृष्टि में अप्रासुक (अप्रासुक-सजीव) द्रव्य वही कहलाता है जो सचित्त (प्राणधारी) होता है। मांस तथा हड्डी को अप्रासुक नहीं मानते, किन्तु अनपणीय मात्र मानते हैं, तब गुठली या बीज के साथ रहे हुए फल गर्भ तथा मेवा को अप्रासुक अनेषणीय मानते हैं। इसमें सूत्र के शब्दों से ही सिद्ध हो गया कि सूत्र प्रयुक्त मांस शब्द फल मेवा के सार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यही कारण है कि सूत्रकार ने उसे अप्रासुक बताया।

सूत्र प्रयुक्त मांस शब्द के साथ आया हुआ अट्ठिय शब्द भी विद्वानों की भ्रान्ति का कारण बना हो तो आश्चर्य नहीं है। अट्ठिय शब्द को हड्डी मान कर मांस को प्राण्यङ्ग मानना स्वाभाविक ही है, परन्तु विद्वानों ने अट्ठि तथा अट्ठिय इन दो शब्दों के बीच का भेद जान लिया होता तो वे इस भूल का शिकार कभी नहीं होते।

प्राकृत भाषा में अट्ठि (अस्थि) शब्द का अर्थ होता है हड्डी तथा अट्ठिय (अस्थिक) "अस्थिकायते इति अस्थिकं बदरादि बीजम्" अर्थात् काठिन्यादि गुण से अस्थि के तुल्य होने से बेर आदि के बीज अस्थिक कहलाते हैं। जैन सूत्र "पन्नवणा" में एक बीज वाले वृक्षों को एगट्ठिया (एकास्थिका) कह कर उनकी एक लम्बी सूची दी है। जिनमें नेरी, आम्र, निम्ब, रायादन, आदि

अनेक वृक्षों के नाम है और ये सभी व्यवहार्य हैं क्योंकि उनके प्रत्येक फल में एक एक बीज होता है और वह अस्थिक कहलाता है।

उद्धृत सूत्र के अवतरण में आये हुए मांस शब्द के साथ कहीं भी अस्थि शब्द नहीं आया, किन्तु सर्वत्र अस्थिय शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। परन्तु जिनको "जैन साधु भी पहले मांस खाते थे" यह सिद्ध करके अपना नाम प्रसिद्ध करने की धुन लगी हुई थी वे प्रासुक, अप्रासुक अस्थि, अस्थिय इन शब्दों का भेद समझने का कष्ट क्यों उठाते।

इस सूत्र में आया हुआ मत्स्य शब्द भी जलचर मत्स्य का वाचक नहीं है, किन्तु मत्स्य के आकार वाले पिष्ट से बनाये हुए नकली मत्स्य का वाचक है। आज कल मिष्टान्न भोजन के साथ सुजिए, बड़े सेविया आदि मसाले वाले खाद्य बनाते हैं, उसी प्रकार पहले भी बनाये जाते थे, और भिन्न भिन्न नामों से पुकारे जाते थे। उनमें एक का नाम मत्स्य भी होता था जो पुराने पाक शास्त्रों से जाना जाता है। "क्षेमकुतूहल" नामक ग्रंथ में ऐसे मत्स्य की बनावट बताई है। जो नीचे लिखी जाती है—

नागवल्लीदलं ग्राह्यं वेसवारेण लेपितम्।
मापपिष्टिकया लिप्तं मप्रसार्य ममाकृतिम्॥
स्विन्नं मासाखिडतं तैलं भृष्टं हिंगु–समन्विते।
रन्धयेद् वेसवाराम्लैरम्लिका मत्स्यका इमे॥

अर्थ—नागर बन का पान लेकर उस पर पहले वेस वार (मशाल) का लेप करना फिर उसे बराबर चौडा करके माष की पिष्टि लगाना और हिंगु मिले गर्म तैल मे भू ज देना, जब सीझ कर कठिन हो जाय तब काट कर मत्स्याकृति बनाके फिर वेसवार (मशाल) वाले इमली के पानी मे राध लेने से वह मत्स्य बन जाता है इसे अम्लिका मत्स्य कहते हैं।

उक्त अम्लिका मत्स्य के निर्माण मे काटे का उपयोग करने का नहीं लिखा है, फिर भी इस प्रकार के खाद्यो के निर्माण मे काटों से काम लेते थे, इसमे कोई शङ्का नहीं है। इस मत्स्य की रचना में भी पान पर मापपिष्टि लगा कर वह बिखर न जाय इस हेतु से पान के किनारे एक दूसरे के साथ काटे से सी लिये जाते होंगे ऐसा अनुमान करना निराधार नहीं है।

३—निशीथाध्ययन के इस अवतरण से यह सिद्ध होता है कि जैन श्रमण मास मत्स्य खाने वाले मनुष्यों के घर से आहार पानी नहीं लेते थे। यदि वे मास मत्स्य खाना छोड़कर वनस्पति भोजी बन जाते और अपनी जाति के नीचे कर्मों के करने से हट जाते, तो श्रमण उनके यहा से खान पान लेने मे कोई आपत्ति नहीं मानते।

४—उक्त अवतरण निशीथाध्ययन का "सखडि सूत्र" है। इस सूत्र मे आये हुए मास मत्स्यादि शब्दों के अर्थ तथा भाजन विशेषो के पारिभाषिक नामों के अर्थ आचाराङ्ग के "सखडि सूत्र" में लिखा है उसी प्रकार समझ लेना चाहिए।

इसमें यह कहा गया है कि श्रमण जिस गृहस्थ के मकान ठहरा है, उसी तरफ से उक्त प्रकार का कोई भोज होने वाला है, अथवा हो गया है, यह बात इधर उधर भेजे जाते पक्वान्नों से उसके घर रहने वाले श्रमण को मालूम होने पर वह उस भोजन की आशा से अपने स्थान को छोड़ कर दूसरी जगह रात बितावे और दूसरे दिन भोजन कराने वाले गृहस्थ के यहां से सरस भोजन लावे।

वह श्रमण रात दूसरे स्थान पर इस लिये बिताता है कि जैन श्रमणों के लिये स्थान देने वाले के यहां से आहार पानी वस्त्र पात्रादि लेना मना किया है। इस लिये उसके मकान में रहता हुआ वह मकान मालिक के घर भोजन के लिये जा नहीं सकता। अतः रात्रि अन्यत्र बिताकर प्रथम शय्यातर के घर अच्छे भोजन की लालसा से भिक्षा लेने जाता है, परन्तु ऐसा करने वाला श्रमण दोष का भागी होता है और उसको प्रायश्चित्त को आपत्ति होती है।

४—दशवैकालिक के इस अवतरण में आये हुए पुद्गल तथा अनिमिष इन दो नामों का स्पष्टीकरण आचाराङ्ग के द्वितीय अवतरण से पूरे तौर से हो जाता है। इसमें मांस के स्थान में पुद्गल शब्द आया हुआ है, जो फल मेवा के गर्भ का बोधक है, और अस्थिक शब्द उनके बीज गुठलियों का सूचित करते हैं। अनिमिष का अर्थ भी आचाराङ्ग के इसी अवतरण के स्पष्टीकरण के अनुसार नकली पिष्ट मत्स्य समझना चाहिए।

इसी दशवैकालिक सूत्र की चूलिका में जैन श्रमण को "अमज्ज मसासी" अर्थात् मद्य मांस का न खाने वाला कहा है, फिर भला उसी दशवैकालिक के उक्त अवतरण में आए हुए पुद्गल तथा अनिमिष शब्दों से मांस मत्स्य कैसे ग्रहण किये जा सकते हैं।

६—यह अवतरण भगवती सूत्र का है। इसमें निर्ग्रन्थ साधु को मडाशी अर्थात् मृत का खाने वाला कहा है। जिसका तात्पर्य यह है कि निर्ग्रन्थ साधु किसी भी सजीव पदार्थ का खान पान में नहीं लेते थे। हरी वनस्पति तथा कच्चा जल तक निर्ग्रन्थ के लिये अखाद्य अपेय थे। अग्नि आदि शस्त्रों अथवा अन्य किसी प्रकार के प्रयोगों से खाद्य पेय पदार्थ निर्जीव होने के बाद ही निर्ग्रन्थ श्रमण मृत खाने वाले कहे गये हैं।

जैन श्रमणों को मांसाहारी मानने वालों ने भगवती का यह लेख पढ़ा होता तो सम्भव है, वे उनको मुर्दाखान वाला भी कह डालते। अच्छा हुआ कि इन शोधकों की दृष्टि में भगवती का यह अवतरण नहीं आया।

७—यह अवतरण कल्पसूत्र की समाचारी का है जो पूर्वकाल में "चुल्लकप्प सुय" इस नाम से पहिचाना जाता था। इसमें वर्षा वास स्थित निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थनियों को नव रस विकृतियों को बार बार न लेने की आज्ञा दी गई है, क्योंकि वर्षा ऋतु उनके तप करने का समय है।

अतः तप के पारणे में अथवा रोगादि कारण विशेष में ही विकृतियों के ग्रहण में कैसा विवेक होना चाहिए

वितरण की क्या व्यवस्था होनी चाहिए, इत्यादि वार्ता का विवरण 'जैन श्रमण" नामक प्रकरण में दिया जायगा अत यहा नहीं लिखा जाता।

उक्त अवतरण में बताई गई विकृतियों से चार विकृतियों पर थोड़ा सा विवेचन करेंगे। शेष क्षीर, दधि, सर्पि, तैल और गुड़ इन पाच पर विशेष वक्तव्य नहीं है।

नवनीत अर्थात् मक्खन विकृति को शास्त्रकारों ने शुभ विकृतियों में माना है। इसका यह अर्थ हुआ कि पहले जैन श्रमण जिन कारणों से दूध, दही, घृत, आदि विकृतियां लेते थे, उन्हीं कारणों से नवनीत विकृति भी ली जाती थी, परन्तु जब यह विकृति अनेक दिन की बासी मिलने लगी, तब जैनाचार्यों ने इसे अभक्ष्य मानकर लेना बन्द कर दिया, और अपने ग्रन्थों में लिख दिया कि मक्खन छाछ से बाहर होते ही बिगड़ने लगता है इस लिये जैन श्रमणों को इसे भोजन में त्याज्य करना उचित है।

कहीं कहीं नवनीत के स्थान में दधिसर अर्थात् दही के ऊपर के चिकने पदार्थ मण्ड को विकृति माना है, जो नवनीत का ही पूर्व रूप है।

मधु भी हिंसा जनित होने के कारण, कारण बिना न खाना चाहिए, ऐसी जैनाचार्यों ने मर्यादा बांधी है। मद्य विकृति को आगे के लिये रखकर पहले हम मांस विकृति पर थोड़ा सा लिखेंगे।

यहां नवम विकृति के स्थान में आए हुए मांस शब्द का अर्थ

प्रणीत भोजन अथवा घृत पक्व मिष्टान्न करना चाहिए। हम आचाराङ्ग के अवतरण पर कह आये हैं कि उस समय में मांस का प्रधान अर्थ पक्वान्न होता था। प्राण्यङ्ग माम के खान का प्रचार बढ़ा तब पूर्वाचार्यों ने मांस शब्द का प्राण्यङ्ग मांस के लिये रख छोड़ा और घृत पक्व मिष्टान्न के लिये 'अग्गाहिम' शब्द का प्रयोग करना शुरू किया।

निशीथाध्ययन के निम्नलिखित सूत्रों में अंतिम विकृति या प्रणीत भोजन जात इस सामान्य नाम से निर्देश किया गया है। जो नीचे उद्धृत किया जाता है —

'खीर वा दहिं वा नवणीय वा गुलं वा खण्ड वा सक्कर वा मच्छंडियं अन्नयर वा तहप्पगार पणीय वा आहार आहारेइ।'

(पष्ठोद्देश)

"सन्निहि-सन्निचयाओ खीर वा दहिं वा नवणीय वा सर्पि वा गुल वा खण्ड वा सक्कर वा मच्छंडियं अन्नयर वा भोयण जाय पडिग्गाहेइ।"

(अष्टमोद्देश)

अर्थ—दूध, दही, मक्खन, गुड, खांड, शक्कर, मिश्री, अथवा अन्य कोई प्रणीत (स्निग्ध) आहार करता है।

सन्निधि (सचित) सचय से दूध, दही, मक्खन, घी, गुड, खांड, शक्कर, मिश्री, अथवा अन्य कोई विशिष्ट भोजन जात ग्रहण करें।

गत दो सूत्रों में से पहला विकृति खाने सम्बन्धी और दूसरा विकृति ग्रहण करने सम्बन्धी है, इन दोनों में मांस शब्द न हो कर प्रणीत आहार और भोजन जात शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि मांस प्रणीत आहार आदि एक दूसरे के पर्याय नाम हैं। प्राण्यङ्ग मांस हल्के मनुष्यों तथा क्षत्रियादि शिकारी जातियों का खाद्य अवश्य बन गया था, तथापि जैन श्रमण तो क्या जैन उपासक गृहस्थ भी उसका आहार नहीं करते थे। यह सब कुछ होने पर भी जैन तथा वैदिक सम्प्रदायों के अतिरिक्त बौद्ध तथा अन्य क्षुद्र सम्प्रदायों में प्राण्यङ्ग मांस ने अपना अड्डा मजबूत कर लिया था। ईसा की प्रथम शताब्दी के बाद मांस शब्द का पिष्ट जनित मिष्टान्न तथा फल गर्भ के अर्थ में प्रयुक्त होता था, धीरे धीरे भुला जाने लगा, और मांस शब्द से केवल प्राण्यङ्ग मांस का ही अर्थ किया जाने लगा। ईसा की प्रथम शताब्दी के पूर्ववर्ती काल में निर्मित जैन सूत्रों तथा प्रकीर्णकों में मांस शब्द मौलिक अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है, परन्तु इसके बाद के बने हुए निर्युक्ति भाष्यचूर्णी, आदि जैन ग्रन्थों में मांस तथा पुद्गल ये दो शब्द बहुधा प्राण्यङ्ग मांस के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

"आवश्यक निर्युक्ति" में तथा हरिभद्र सूरिकृत 'पंच वस्तुक' ग्रन्थ में रस विकृति की संख्या नव से बढ़कर दश हो गई है। जो नीचे के उद्धरण से ज्ञात होगी।

"पश्चेव य खीराइं चत्तारि दहीणि सप्पि नवणीता।
चत्तारि तिल्लाइं दो वियडे फाणिये दुन्नि ॥१६०६॥

मदु पुग्गलाइ तिन्नि चल चल ओगाहिम तु ज पक्क ।
ए एमिं ममट्ठ वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ १६७ ॥
(आ० नि०)

अर्थ—पाच प्रकार के दूध (गाय भैंस, बकरी, मेंढी और ऊँटनी का दूध। १, चार प्रकार के दही (गाय का, भैंस का, बकरी का मेंढी का) २, चार प्रकार के घी (गाय, भैंस, बकरी और मेंढी के) ३, चार प्रकार के मक्खन (गाय भैंस, बकरी और मेंढी के) ४ चार प्रकार के तैल (तिल्ली, सरसों, अलसी और करडी के) ५, दो प्रकार के रिस्ट (मध्य, काष्ठज और पिष्टज) ६, दो फाणित (गुड़ और खाड क) ७ मधु (शहद) ८, पुद्गल (मास) ९ अवगाहिम (पक्वान्न) १० ।

खीर दहि नवणीय घय तहा तिल्लमव गुडमज्ज ।
मदु मम चेव तहा ओगाहिम च दसमी तु ॥३७१॥
(प० वस्तु०)

अर्थ—दूध, दही, मक्खन घी, तेल, गुड़, मद्य, मधु, मास, और अवगाहिम ये दश विकृतिया मानी गई हैं।

ऊपर के दोनों ग्रन्थों में दश विकृतियां बताई हैं। उसका अर्थ यही है कि इन ग्रन्थों के निर्माण समय में मास और पक्वान्न ये दोनों जुदे माने जाते थे। जैन श्रमणों तथा व्रतधारी जैन उपासकों के लिये प्रायश्चित्त सम्भव मास किसी काम का नहीं था, फिर भी वह एक ^ ^ है यह दिखाने के लिये मास को पक्वान्न से

हुआ बताया है। निशीथाध्ययन म बताये गये विकृति द्रव्यों की सख्या नव से भी कम है, तब चुल्ल कल्प सुत्र में निश्चित रूप से नव विकृतिया कही है। जिनमे अन्तिम विकृति मास नामक बाग पदार्थ है। पिछले ग्रथकारो ने मास का जुदा बताया, उसका कारण यही है कि उनके समय म अधिकाश लोग प्राण्यङ्ग मास मान लग गये थे।

८—यह अवतरण "सूर्य प्रज्ञप्ति" नामक सूत्र का है। पूर्वकाल म जब कि वार राशि, लग्न आदि का व्यवहार ज्योतिष म नहीं था उस समय का यह ग्रथ है। उस काल मे कोई भी काम करते समय नक्षत्र का बल ही कार्यसाधक माना जाता था। प्रत्येक नक्षत्र के भिन्न भोजन के पदार्थ बताये गये थे, जिससे कोई भी विशेष काम करने वाला उस दिन के नक्षत्र से प्रतिबद्ध खाना खाकर अपने उद्दिष्ट कार्य म प्रवृत्त होता था। सूत्रकार ने सब नक्षत्रो से प्रतिबद्ध भोजनों का निर्देश किया है, परन्तु मुद्रित "सूर्य्य प्रज्ञप्ति" के उद्धृत अवतरण म मूल तथा धनिष्ठा इन दो नक्षत्रों के नाम तथा इनसे प्रतिबद्ध भोजनो का निर्देश नहीं है। सम्भव है कि जिस मूलादर्श पुस्तक के आधार पर यह ग्रथ छपा है उसम उक्त दो नक्षत्रों का उल्लेख न होगा, अथवा प्रेस कॉपी म लेखक के दृष्टि दोष से ये दो नक्षत्र रह गये है अस्तु।

इस अवतरण म आठ नक्षत्रों के साथ मास भोजन का प्रयोग हुआ है, और आठ ही स्थानो म हमने इनका वास्तविक अर्थ में खाना बताया है, क्योंकि इस सूत्र की प्ररूपणा भगवान् महावीर

न तत्कालीन विदेह देश की राजधानी मिथिला के बाहर मणि नाग चैत्य में की थी। जब कि वहां उच्च वर्ण के मनुष्यों में कोई मांसयुक्त मांस नहीं खाता था। इसी स्थिति में नक्षत्र भोजनों में बताया गया मांस भोजन विप्रजनित मांस ही सिद्ध होता है।

इस अवतरण में जिन जिन नामों के साथ मांस शब्द आया है वे सभी वृक्षों के नाम हैं, ऐसा हम वैद्यक निघण्टुओं से ज्ञात हुआ। "शालिग्रामौषध शब्द सागर 'निघण्टु भूषण' भाव प्रकाश निघण्टु" तथा 'हेमचन्द्रीय निघण्टु' आदि से इस विषय में हमें बड़ी सहायता मिली है।

६—इस अङ्क के नीचे दिये हुए अध्यापक धर्मानन्द का अर्थ कितना असङ्गत और अघटित है, यह दिखाने के लिये आगे पीछे का पाठ लिखकर विषय को थोड़ा विस्तृत कर दिया है, जो आवश्यक था। उस समय भगवान् महावीर की शारीरिक स्थिति कितनी गम्भीर थी यह दिखाये बिना धर्मानन्द के अभिप्राय को असंगत ठहराना कठिन था। जिनका शरीर छः महीनों से दाह ज्वर ग्रस्त है, बाह्याभ्यन्तर तापमान बहुत बढ़ा हुआ है और खून के दस्त हो रहे हैं, ऐसे महावीर अपने शिष्य के द्वारा मुर्गे का बासी मांस मंगवाकर खाने की इच्छा करें यह बात क्या डाक्टरों के सिद्धान्त से तो एक दम विरुद्ध है ही पर सामान्य बुद्धि के मनुष्य की दृष्टि में भी महावीर की यह प्रवृत्ति आत्मघात ही प्रतीत होगी। यह परिस्थिति होने पर भी पटेल गोपालदास और उनके अग्रगामी अध्यापक कौशाम्बी महावीर की उस प्रवृत्ति को मांस खाने की

जा बताया है। निशीथाध्ययन में बताये गये विकृति द्रव्यों की संख्या नव से भी कम है, तब चुल्ल कप्प सुय में निश्चित रूप से नव विकृतियां कही है। जिनमें अंतिम विकृति मांस नामक बाग पदार्थ है। पिछले ग्रंथकारों ने मांस को जुदा बताया, उसका कारण यही है कि उनके समय में अधिकांश लोग प्राएयङ्ग मांस खाने लग गये थे।

८—यह अवतरण "सूर्य्य प्रज्ञप्ति नामक सूत्र का है। पूर्वकाल में चन्द्र कि वार राशि, लग्न आदि का व्यवहार ज्योतिष में नहीं था उस समय का यह ग्रंथ है। उस काल में कोई भी काम करते समय नक्षत्र का बल ही कार्यसाधक माना जाता था। प्रत्येक नक्षत्र के दिन भोजन के पदार्थ बताये गये थे, जिससे कोई भी विशेष काम करने वाला उस दिन के नक्षत्र से प्रतिबद्ध खाना खाकर अपने उद्दिष्ट कार्य में प्रवृत्त होता था। सूत्रकार ने सब नक्षत्रों से प्रतिबद्ध भोजनों का निर्देश किया है, परन्तु मुद्रित "सूर्य्य प्रज्ञप्ति" के उद्धृत अवतरण में मूल तथा धनिष्ठा इन दो नक्षत्रों के नाम तथा इनसे प्रतिबद्ध भोजनों का निर्देश नहीं है। सम्भव है कि जिस मूलादर्श पुस्तक के आधार पर यह ग्रंथ छपा है उसमें उन दो नक्षत्रों का उल्लेख न होगा, अथवा प्रेस कापी में लेखक के दृष्टि दोष से ये दो नक्षत्र रह गये हैं अस्तु।

इस अवतरण में आठ नक्षत्रों के साथ मांस भोजन का प्रयोग हुआ है, और आठ ही स्थानों में हमने इनका वास्तविक अर्थ में खाना बताया है, क्योंकि इस सूत्र की प्ररूपणा भगवान् महावीर

ने तत्कालीन विदेह देश की राजधानी मिथिला के बाहर मणि नाग चैत्य में की थी। जब कि वहां उस वक्त के मनुष्यों में कोई प्रायः मांस नहीं खाता था। इसी स्थिति में नक्षत्र भोजना में बताया गया मांस भोजन पिष्टजनित मांस ही सिद्ध होता है।

इस अवतरण में जिन जिन नामों के साथ मांस शब्द आया है वे सभी वृक्षों के नाम हैं, ऐसा हम वैद्यक निघण्टुओं से ज्ञात हुआ। "शालिग्रामौषध शब्द सागर" 'निघण्टु भूषण' 'भाव प्रकाश निघण्टु" तथा 'हेमचन्द्रीय निघण्टु' आदि से इस विषय में हमें बड़ी सहायता मिली है।

६—इस अङ्क के नीचे दिये हुए अध्यापक धर्मानन्द का अर्थ कितना असङ्गत और अघटित है, यह दिखाने के लिये आगे पीछे का पाठ लिखकर विषय को थोड़ा विस्तृत कर दिया है जो आवश्यक था। उस समय भगवान् महावीर की शारीरिक स्थिति कितनी गम्भीर थी यह दिखाये बिना धर्मानन्द के अभिप्राय को असंगत ठहराना कठिन था। जिनका शरीर छः महीनों से दाह ज्वर ग्रस्त है, बाह्याभ्यन्तर तापमान बहुत बढ़ा हुआ है और खून के दस्त हो रहे हैं, ऐसे महावीर अपने शिष्य के द्वारा मुर्गे का बासी मांस मंगवाकर खाने की इच्छा करें यह बात वैद्यों, डाक्टरों के सिद्धान्त से तो एक दम विरुद्ध है ही पर सामान्य बुद्धि के मनुष्य की दृष्टि में भी महावीर की यह प्रवृत्ति आत्मघात ही प्रतीत होगी। यह परिस्थिति होने पर भी पटेल गोपालदास और उनके पुरोगामी अध्यापक कौशाम्बी महावीर की उस प्रवृत्ति को मांस खाने का

चातुर्थिक ज्वर को दूर करता है और शीतवीर्य है। इसका स्वरस प्रतिश्याय, श्लेष्म, पित्त, राज्य यक्ष्मानाशक है।

मुनि शिम्बी सरा प्रोक्ता बुद्धिदा रुचिदा लघु. ।
पाक काले तु मधुरा, तिक्ता चैव स्मृति प्रदा ॥
त्रिदोष-शूल-कफहृत्, पाण्डु-रोग-विषापनुत् ।
श्लेष्म गुल्म हरा प्रोक्ता, सा पक्का रूक्ष पित्तला ॥
(शा० ग्राम० नि)

अर्थ—अगस्ति की शिम्बी सारक कही है, बुद्धि देने वाली, भोजन की रुचि उत्पन्न करने वाली, हल्की, पाक काल में मधुर तीखी, स्मरण शक्ति बढ़ाने वाली, त्रिदोष को नाश करने वाली, शूल रोग, कफ रोग, को हटाने वाली, पाण्डु रोग को दूर करने वाली, और श्लेष्म, गुल्म को हटाने वाली होती है परन्तु पकी हुई शिम्बी रूक्ष और पित्तप्रद होती है।

सुनिषण्णो सूचिपत्र स्वस्तिक शिरिवारक ॥३५१॥
श्रीवारक शितिवरो वितुन्न कुक्कुट शिखी ।
(इति निघण्टु शेष)

अर्थ—सूचि पत्र स्वस्तिक, शिरिवारक, श्रीवारक, शितिवर वितुन्न, कुक्कुट और शिखी ये निषण्णक के नाम हैं।

सुनिषण्णो हिमोग्राही, मोह-दोषत्रयापह ।
अविदाही लघु स्वादु कषायो रूक्ष दीपन ॥

वृष्यो ह यो ज्वर-श्वास-मेह कुष्ठ भ्रम प्रणुत् ॥
(भाव प्रकाश)

अर्थ—सुनिषण्ण ठंढा, दस्त रोकने वाला, मोह तथा त्रिदोष का नाशक, दाह को शान्त करने वाला, हलका स्वादिष्ट कषाय रस वाला रूक्ष अग्नि को बढ़ाने वाला, बलकारक रुचिकारक और ज्वर, श्वास, प्रमेह, कुष्ठ और भ्रम का नाशक है।

इस विषय में अन्य निघण्टु कार यह लिखते हैं—

सुनिषण्णो लघुग्राही वृष्योऽग्निकृत्त्रिदोषहा।
मेधारुचिप्रदो दाहज्वरहारी रसायन ॥

अर्थ—सुनिषण्ण, हलका, दस्त बन्द करने वाला, बलकारक, अग्नि बढ़ाने वाला, त्रिदोष का नाश करने वाला, बुद्धिप्रद, रुचि दायक, दाह ज्वर का हटाने वाला और रसायन होता है।

कल्पद्रु म कोश के वनौषधिकाण्ड में भी कुक्कुट नाम सुनिषण्णक का ही पर्याय बताया है। जैसे—

सूच्यां स्यात्तु शितावरः ॥२६८॥
सूचिपत्र शितिवरः स्वस्तिकः पुरुटः शिखी।
मेधाकृद् ग्राहकः सूचि कुक्कुटः सुनिषण्णकः ॥

अर्थ—सूची शितावर, सूचिपत्र, शीतवर, स्वस्तिक, पुरुट, शिखी, सूचि, कुक्कुट, ये सुनिषण्णक के नाम हैं। सुनिषण्णक बुद्धि बढ़ाने वाला और दस्त का रोकने वाला है।

चातुर्थिक ज्वर को दूर करता है और शीतवीर्य है। इसका स्वरस प्रतिश्याय, श्लेष्म, पित्त, राज्यक्ष्मनाशक है।

> मुनि शिम्बी मता प्रोक्ता बुद्धिदा रुचिदा लघु।
> पाक काले तु मधुरा, तिक्ता चैव स्मृति प्रदा ॥
> त्रिदोष-शूल-कफहृद्, पाण्ड-रोग-निपापनुद्।
> श्लेष्म-गुल्म हरा प्रोक्ता, सा पक्वा रूक्ष पित्तला ॥
>
> (शा० ग्राम० नि०)

अर्थ—अगस्ति की शिम्बा सारक कही है, बुद्धि देन वाला, भोजन की रुचि उत्पन्न करने वाली, हल्की, पाक काल म मधुर तीखी, स्मरण शक्ति बढ़ाने वाली, त्रिदोष को नाश करने वाली, शूल राग, कफ रोग, को हटाने वाली, पाण्डु राग का दूर करने वाली, और श्लष्म, गुल्म का हटाने वाली होती है, परन्तु पकी हुई शिम्बा रूक्ष और पित्तप्रद होता है।

> सुनिषण्णो ग्रन्थिपत्र स्वस्तिक, शिरिवारक ॥२५१॥
> श्रीवारक शितिवरो वितुन्न कुक्कुट शिखी।
>
> (इति निघण्टु शेषे)

अथ—सूचि पत्र स्वस्तिक, शिरिवारक, श्रीवारक, शितिवर वितुन्न, कुक्कुट और शिखी य निषण्णक क नाम है।

> सुनिषण्णो हिमोग्राही, मोह-दोषत्रयापह।
> अविदाही लघु स्वादु कषायो रूक्ष दीपन ॥

ऊपर मार्जारापर पर्याय अगस्त्य और कुक्कुट पर पर्याय सुनिपण्णक के जो गुण बताये गये हैं इनसे पाठक गण स्वयं स्वीकार करेंगे कि भगवान् महावीर ने रेवती के घर से जो खाद्य पदार्थ मगवाया था, वह उनकी बीमारी को शान्त करने वाला इन्हीं मार्जार तथा कुक्कुट वनस्पति के उपादानों से बना हुआ वानस्पतिक मास था, पटले गोपालदास और धर्मानन्द कौशाम्बी का बिल्ली द्वारा मारे गये कुक्कुट का बासी मास नहीं। यह पदार्थ रोग तो क्या हटाये ? तन्दुरुस्त आदमी को भी बीमार कर देता है। दूसरी बात यह है कि उस समय वैदिक धर्मशास्त्रानुसार ग्राम्य कुक्कुट अभक्ष्य माना जाता था[1] और मार्जाराघ्रात भोजन भी अभक्ष्य माना जाता था[2]। इस दशा मे बिल्ली से मारे गये कुक्कुट का मास पका कर रेवती अपने लिये तैयार करे, यह केवल असम्भव बात है। उक्त विद्वानो ने उपर्युक्त सभी पहलुओं से विचार किया होता तो वे ऐसी हास्य जनक भूल कभी नहीं करते।

अध्यापक धर्मानन्द के दो कपोतो के शरीरों को इमन वा कूष्माण्ड फल लिखा है। "भगवती सूत्र" के टीकाकारों ने भी

१—पादाभ्यां विकीर्य ये कीटधान्यादि भक्षयन्ति ते विकिरास्तेषां मध्ये कुक्कुटो न भक्ष्य ।

उक्त पंक्ति आपस्तम्बीय धर्म सूत्र की है। इसी प्रकार गौतम धर्मसूत्र आदि म भी कुक्कुट को अभक्ष्य करार दिया है।

२—मनुष्यैरवैर्वा मार्जारादिभिरवघ्रातमन्नमभोज्यम् ।
इदमपि आपस्तम्बीय धर्मसूत्रे एवमन्यत्रापि ।।

कूष्माण्ड फल ही बताये हैं। टीकाकारों तथा हमको शब्द कोशों तथा निघण्टुओं का साथ है। कोश निघण्टुओं में कपोत पक्षी का ही नहीं माना बल्कि सौवीराञ्जन, सज्जीखार और कर्बुर रंग के अनेक पदार्थों का कपोत कह कर वर्णन किया है। कूष्माण्ड फल भी "वर्णतद्वतोरभेद" इस नियमानुसार उस समय कपोत नाम से व्यवहृत होता था। कपोत के साथ आया हुआ शरीर शब्द स्वयं कपोत का फलत्व सिद्ध करता है।

जैन सूत्रों में सजीव पदार्थ के साथ शरीर शब्द का प्रयोग नहीं होता, किन्तु फल के साथ ही होता है। जैसे—'दुवे आमलग सरीरे" (सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्रे नक्षत्र भोजन) इत्यादि।

इसके अतिरिक्त उस समय वैदिक धर्मशास्त्रकार कपोत पक्षी को अभक्ष्य मानते थे। तब रेवती जैसी प्रतिष्ठित महिला महावीर जैसे अहिंसा धर्म के उपदेशक के निमित्त दो कबूतरों को पका कर तैयार करे, यह कितनी अघटित बात है। केवल कूष्माण्ड फल के लिये ही नहीं, निघण्टुओं मे 'श्वेत कापोतिका' "कृष्ण कापोतिका रक्त कापोतिका" नाम से वनस्पतियों का भी वर्णन किया गया है। हम आशा करते हैं कि हमारे संक्षिप्त निरूपण से पाठकगण समझ सकेंगे कि 'दुवे कवोय सरीरा' इन शब्दों का वास्तविक अर्थ क्या है।

१०—इस अवतरण में दिये गये दो पद्यों में से पहला "सम्बोध प्रकरण" का है। सम्बोध प्रकरण प्रसिद्ध आचार्य श्री

हरिप्रभ सूरि कृत माना जाता है, परन्तु वास्तव में यह संग्रह ग्रंथ है। इसमें हरिभद्र सूरि के ग्रन्थों के उद्धरण भी संगृहीत हैं, परन्तु अधिकांश गाथायें बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी की संगृहीत की हैं। 'पुप्फामिस' इत्यादि गाथा हरिभद्रसूरिकृत 'स्तवविधिपञ्चाशक की है।

त्रिविध पूजा का प्रतिपादक श्लोक नवाङ्गी वृत्तिकार आचार्य श्री अभय देव सूरिजी के मुख्य पट्टधर आचार्य श्रीवर्धमान सूरि की कृति "धर्मरत्नकरण्डक" का है। इस ग्रंथ की रचना विक्रम संवत ग्यारह सौ बहत्तर (११७२) में हुई है।

ऊपर के प्रमाणों से यह निश्चित होता है कि आमिष शब्द जैन विद्वानों में विक्रमीय बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक आहार अथवा नैवेद्य के अर्थ में प्रचलित था।

११—इस अवतरण में हमने "कप्पसूय सामाचारी" में आये हुए मद्य शब्द के विषय में कुछ विवेचन किया है। "कल्प सूत्र" का विदेशी भाषाओं में अनुवाद करने वाले विद्वानों ने "मज्ज" इस शब्द के आधार से यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि पूर्वकाल में जैन श्रमण भी कभी कभी मदिरा पान करते थे। उनके इस अज्ञान को प्रगट करने के लिये ही मद्यशब्द पर कुछ लिखने की आवश्यकता उपस्थित हुई है। मद्य अत्यल्प मादकता का गुण रखने वाला भी होता है, और तीव्र मादकता वाला भी। द्राक्षासव आदि औषधीय विधि से बनाये हुए पानक भी एक प्रकार के मद्य ही

माने जाते हैं, फिर भी उनको सुरा, मदिरा अथवा शराब नहीं कह सकते, क्योंकि इन पानकों में सुरा, मदिरा आदि जैसा मादकत्व नहीं होता।

पुलस्त्य ऋषि ने बारह प्रकार के मद्य बताकर केवल सुरा को ही अभक्ष्य बताया है—

> पानसं-द्राक्षं माध्वीकं, खार्जूरं तालमैक्षवम्।
> माध्वीकं टाङ्कमार्द्वीकमैरयं नारिकेलजम्॥
> सामान्यानि द्विजातीनां, मद्यान्येकादशैव तु।
> द्वादशं तु सुरा मद्यं, सर्वेषामधमं स्मृतम्॥

अर्थ—पनस का, द्राक्षा का, महुए का, खजूर का, ताड़ का, गन्ने का, माध्वीक, टङ्क का, मृद्विका का, इरा का, नारिकेर का, ये ग्यारह मद्य द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिये सामान्य हैं, तब सुरा नामक मद्य सब के लिये अधम कहा गया है।

सुरा मद्य को श्रमण सन्यासियों के लिये बहुत ही बुरी चीज मानी जाती थी। भूल से भी श्रमण मदिरा घर में चला न जाय इस के लिये महाराष्ट्र आदि देशों में तो मदिरा घरों के ऊपर अमुक जाति का ध्वज लगाया जाता था, जिससे साधु लोग उसे मदिरा घर जान कर भूल से भी उसमें नहीं जाते। इस विषय की सूचना बृहत्कल्प की निम्नलिखित पंक्तियों से मिलती है—

रमारणो तत्थ दिट्ठतो ॥३५३६॥

अत्र "रसायण" मद्य दृष्टो दृष्टान्त । यथा महाराष्ट्र देशे रसायणे मद्य भवतु वा मा वा तथापि तत्परिज्ञानार्थं तत्र ध्वजो बध्यते ध्वज दृष्ट्वा सर्वे भिक्षाचरादय परिहरन्ति ।

(भाग ८ पृ० ६८७)

अर्थ—यहां रसायण का दृष्टान्त है, रसायण अर्थात् मद्य का हाट । उसमें मद्य हो या न हो परन्तु महाराष्ट्र देश म उस पर ध्वज बांधा जाता है जिसको देख कर सभी भिक्षाचर उस हाट को छोड़ देते ह ।

ऊपर क विवेचन से भली भाति सिद्ध हो जाता है कि जैन श्रमण ही नहीं किन्तु वैदिक स यासी, बौद्ध भिक्षु आदि सभी सम्प्रदायों क भिक्षाचर मद्य पान से दूर रहते थ ।

मेगास्थनीज तथा अ य विद्वानों का यह कथन कि ब्राह्मण यज्ञों म शराब पीते थ । उपर्युक्त पुलस्त्य के मद्य विवरण से इस कथन का यथार्थ उत्तर मिल जाता है । पुलस्त्य न सुरा को ही वास्तविक हेय मद्य माना है । उसकी महापातकों म गणना की है, शेष ग्यारह प्रकार क मद्यों को सामा य मद्य कहा है । इसका तात्पर्य यही है कि रोगादि कारण म इनम से किसी प्रकार के पेय का पान करने पर भी उसे प्रायश्चित्तयोग्य नहीं माना जाता था ।

यज्ञ म ब्राह्मणों को मद्य पान करन की बात कहने वाले भी दिशा भूले हुये हैं । यज्ञ में शराब नहीं, किन्तु सोम रस का पान किया जाता था । सोमवल्ली पवित्र वनस्पति होती थी, उसक पत्तों को

पाट कर रस निकाला जाता था, और दूध में छान कर उबाला जाता था। यह सोम रस शक्ति-स्फूर्ति प्रद होने से देवताओं को चढ़ाकर शेष यज्ञाधिकारी पीते थे। अन्य किसी को पीने अथवा बेचने का अधिकार नहीं था। यही कारण है कि वेद में 'पापो हि सोम विक्रयी' यह वाक्य दृष्टिगोचर होता है। हम आशा करते हैं कि विदेशियों के भ्रमण-वृत्तान्तों के आधार पर भारत का इतिहास लिखने वाले उक्त विवरण से कुछ बोध पाठ लेंगे।

३—वैदिक तथा बौद्ध ग्रन्थों में मांस आमिष शब्दों का प्रयोग

सामान्य रूप से सब से प्राचीन ऋग्वेद संहिता में आमिष शब्द का प्रयोग ही नहीं मिलता, इतना ही नहीं बल्कि प्राचीन वैदिक निघण्टु में भी मांस अथवा इसके किसी पर्याय का नाम नहीं है। इस कारण यह तो नहीं हो सकता कि उस समय मांस पदार्थ ही नहीं था। मनुष्य पशु के शरीर में रहने वाली धातुओं में से तृतीय मांस धातु उस समय भी विद्यमान था। प्राचीन वेद तथा उसके प्राचीन वैदिक कोश में उसका उल्लेख न होने का कारण यही है कि तत्कालीन ऋषि लोग प्रत्यक्ष रूप मांस का किसी भी कार्य में उपयोग नहीं करते थे, अतः इनकी बनाई हुई वैदिक ऋचाओं में मांस शब्द नहीं आता था, और न उनके निघण्टु में उसके लिखने की आवश्यकता थी।

यद्यपि ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में मास शब्द का प्रयोग हुआ है, परन्तु वे सूक्त प्राचीन ऋग्वेद में पीछे से जोड़ दिये गये हैं, ऐसी हमारी तथा अनेक विद्वानों की मान्यता है। शुक्ल यजुर्वेद के अश्वमेध प्रकरण में अनेक पशुओं की हिंसा की चर्चा है जो इस संहिता के रचयिता विद्वान् याज्ञवल्क्य के वाजसनेय होने का परिणाम है। इन्हीं की बदौलत यज्ञों में कुछ समय के लिये हिंसा खूब बढ़ चली थी, परन्तु अथर्ववेद के समय में यह हिंसा का प्रचार रुक पड़ा था। अथर्ववेद में वन्ध्या गौ के वध का प्रसङ्ग आता अवश्य है, पर न्तु इसी वेद में अन्य स्थलों में मांस खाने का निषेध भी किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि भाष्यकार यास्क के समय तक पशु यज्ञ और मांस भक्षण बहुत ही मर्यादित हो गया था। इसी कारण से यास्क ने मांस शब्द की जो व्युत्पत्ति की है उसमें प्राण्यङ्ग मांस को नहीं वरन् फलाङ्ग मांस को ही लागू करना चाहिए। यहां मांस शब्द प्राण्यङ्ग रूप नहीं किन्तु फल मेवों के गर्भ अथवा पिष्टान्न आदि से बनाये गये मिष्टान्न भोजन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मांस शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं—

मांसं माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन् सीदति वा।

अर्थ—मांस कहो, मानन कहो, मानस कहो, ये सब एक ही अर्थ के प्रतिपादक पर्याय नाम हैं, और ये उस भोजन का नाम है, जो आगन्तुक माननीय मेहमान के लिये तैयार किया जाता था जिसे देख कर अतिथि का मन खाने में लग जाता और वह समझता कि मेरा बड़ा मान किया गया।

"मन् ज्ञाने' इस धातु से मास शब्द निष्पन्न हुआ है और इसका अर्थ होता है 'बड़े आदमी के सम्मान का साधन।'

पुरातत्त्व ज्ञाता विद्वानों ने आचार्य यास्क का समय ईसा के पूर्व की नवम शताब्दी निश्चित किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि आज से तीन हजार वर्ष पूर्व के वैदिक साहित्य में मास शब्द वनस्पति निष्पन्न खाद्य के ही अर्थ में प्रयुक्त होता था।

इसके बाद धीरे धीरे ब्राह्मणों में मधुपर्क तथा पितृकर्म में आरण्यक मास का प्रयोग होने लगा "बौधायन गृह्यसूत्र" में जो कि ईसा के पूर्व षष्ठ शताब्दी की कृति मानी जाती है उसमें यह आग्रह किया गया है कि मधुपर्क में मास अवश्य होना चाहिए, यदि पशु मास न मिल सके तो पिष्टान्न का मास तैयार करके काम किया जाय।

'आरण्येन वा मांसेन ॥४२॥ नत्वेवाऽमांसोऽर्घ्यः स्यात् ॥४३॥ अशक्तौ पिष्टान्नं संसिध्येत् ॥४४॥

अर्थ—(गौ के उत्सर्जन कर देने पर अन्य ग्राम्य पशुओं के अलाभ में) आरण्य पशु के मास से अर्घ्य किया जाय क्योंकि मास बिना का अर्घ्य होता ही नहीं, आरण्य मांस भी प्राप्त न कर सके तो पिष्ट से उसे (मास को) तैयार करें।

उपनिषदों में भी मास तथा आमिष शब्द प्रयुक्त हुए दृष्टि गोचर होते हैं, परन्तु वहां सभी जगह ये शब्द वनस्पति खाद्य पदार्थ का अर्थ प्रतिपादन करते हैं। उपनिषद् वाक्य कोश में लिखा है—

मांसमुद्रीय' । यो मध्यमस्तन्मामम् ।

अर्थ—माम के गुण गाओ जो भीतर का सार भाग है, वही मास है।

उक्त उदाहरणों से अच्छी तरह प्रमाणित हो जाता है कि वैदिक प्राचीन साहित्य म अति पूर्वकाल म मास आमिष आदि शब्द वनस्पति खाद्य क अर्थ म प्रयुक्त होत थ, और भोजन म परवर्त्ती मास की प्रवृत्ति बढन के समय इन शब्दों का धातु प्रत्यय से व्यक्त होने वाला अर्थ तिरोहित हो गया और प्रायश्च माम ही माम शब्द का वाच्यार्थ बन गया।

पिछले समय म जब कि मास तथा आमिष शब्द केवल प्रायश्च मास वाचक बन चुके थे, उस समय भी आमिष शब्द कई अर्थों म प्रयुक्त होता था। ऐसा धर्मसिन्धुमन्थ में दिये गये निम्नलिखित प्राचीन श्लोकों से ज्ञात होता है—

प्राण्यङ्गचूर्णं चर्मस्थोदक जम्बीर बीजपूर यज्ञशेषभिन्न विष्णवे ऽनिवेदितान्न दग्धान्न मसूर माम चेत्यष्ट विधमामिष वर्जयेत।

अन्यत्र तु गोच्छागी महिष्यन्न दुग्ध पर्युषितान्न द्विजेभ्य क्रीता रसा भूमिलवण ताम्रपात्रस्थ गव्य पल्वलजल सार्धपक्वमन्नमित्या मिष गण नक्त।

अर्थ—प्राणधारी के किसी अङ्ग का चूर्ण, चमडे की दृति में भरा हुआ पानी, जम्बीर फल, बिजोरा, यज्ञ शेष के अतिरिक्त विष्णु को निवेदित नहीं किया हुआ अन्न, जला हुआ अन्न, मसूर

गाय और मास इन आठ पदार्थों का समुदाय आमिष गण कहलाता है।

मतान्तर से आमिष गण—

गाय बकरी, भैंसके दूध को छोड़ शेष जानवरों का दूध, बासी अन्न, ब्राह्मण से खरीदे हुए रस, जमीन पर के खार से तैयार किया हुआ नमक, ताम्रपात्र में रक्खा हुआ पंच गव्य, छोटे गड्ढे में रहा हुआ जल, आत्मार्थ पकाया हुआ भोजन ये दूसरे प्रकार का आमिष गण है।

उपर्युक्त दोनों आमिष गणों में आमिष शब्द अभक्ष्य अथवा अपेय पदार्थों में प्रयुक्त हुआ है। इससे ज्ञात होता है, धर्मसिन्धुगत उपर्युक्त दो श्लोकों के निर्माण समय के पहले ही वैदिक साहित्य में आमिष शब्द का "अच्छा भोजन" यह अर्थ भूला जा चुका था। यही कारण है कि उक्त पदार्थों को आमिष का नाम देकर वर्जित बताया है।

बौद्ध साहित्य में भिक्षान्न के अर्थ में मांस आमिष शब्द का प्रयोग

बौद्ध साहित्य में आमिष मांस इत्यादि के भोजन करने सम्बन्धी अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलते हैं। इससे पाली साहित्य के अभ्यासी मान लेते हैं, कि बौद्ध धर्म में मांस खाने में दोष नहीं माना गया है। बौद्ध भिक्षुओं में [illegible] का प्रचार होने

मांसमुद्दीय । यो मध्यमस्तन्मामम् ।

अर्थ—मास के गुण गाओ जो भीतर का सार भाग है, वही माम है।

उक्त उदाहरणों से अच्छी तरह प्रमाणित हो जाता है कि वैदिक प्राचीन साहित्य में अति पूर्वकाल में माम आमिष आदि शब्द वनस्पति खाद्य के अर्थ में प्रयुक्त होते थे, और भोजन में परयत्न मास की प्रवृत्ति बढ़ने के समय इन शब्दों का धातु प्रत्यय से व्यक्त होने वाला अर्थ तिरोहित हो गया और प्राण्यङ्ग माम ही माम शब्द का वाच्यार्थ बन गया।

पिछले समय में जब कि मास तथा आमिष शब्द केवल प्राण्यङ्ग मास वाचक बन चुके थे, उस समय भी आमिष शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता था। ऐसा धर्मसिन्धु ४ में दिये गये निम्नलिखित प्राचीन श्लोकों से ज्ञात होता है—

प्राण्यङ्गचूर्णं चर्मस्थाम्बु जम्बीरं बीजपूरं यज्ञशेषभिन्नं विष्णवे ऽनिवेदितान्नं दग्धान्नं मसूरं मासं चेत्यष्ट विधमामिषं त्यजेत्।

अन्यत्र तु गोछागी महिष्यन्य दुग्धं पर्यु षितान्नं द्विजेभ्य क्रीता रसा भूमिलवणं ताम्रपात्रस्थं गव्यं पल्वलजलं सार्थपक्वमन्नमित्यामिष गणं उक्तं ।

अर्थ—प्राणधारी के किसी अङ्ग का चूर्ण, चमड़े की दृति में भरा हुआ पानी, जम्बीर फल, बिजोरा, यज्ञ शेष के अतिरिक्त विष्णु को निवेदित नहीं किया हुआ अन्न, जला हुआ अन्न, मसूर

देवदत्त क्या चाहता था

बौद्ध सूत्रों में देवदत्त के सम्बन्ध में अनेक झूठी बातें उड़ा कर उसकी बुराइयाँ लिखी गई हैं। कहा गया है देवदत्त ने बुद्ध के पास अपने को भिक्षु संघ का नेता बनाने की माँग की थी, परन्तु बुद्ध ने अस्वीकृत कर दिया। इससे देवदत्त बुद्ध का विरोधी हो गया और उन्हें मरवाने तक की प्रवृत्तियाँ कर डालीं पर बुद्ध भगवान का वह कुछ भी नहीं बिगाड़ सका। बौद्ध लेखकों की इन बातों में सत्यांश कितना होगा, यह कहना तो कठिन है पर जहाँ तक हम समझ पाये हैं, देवदत्त के सम्बन्ध में बौद्ध लेखकों ने बहुत ही कुरुचिपूर्ण काम किया है। देवदत्त यदि ऐसा होता जैसा कि लेखक कहते हैं तो उसके पास पाँच सौ भिक्षुओं का समुदाय न होता।

बुद्ध देवदत्त के झगड़े का कारण तो जुदा ही है। राजगृह के राजा बिम्बसार के राज्य शासन काल में बुद्ध ने राजगृह में अपने धर्म का प्रचार किया था, इतना ही नहीं बल्कि राजा बिम्बसार को भी अपना अनुयायी बना डाला था। जिसके परिणाम स्वरूप राजा ने राजगृह के पास का एक उद्यान बुद्ध और उनके भिक्षुओं के रहने के लिये अर्पण कर दिया था, और उसमें अनेक भक्तों ने एक के बाद एक करके अनेक विहार भी बना डाले थे, जिनकी संख्या अठारह तक पहुँची थी। मगध में बुद्ध का धर्म-प्रचार महावीर के छद्मस्थ काल में हुआ था। जिस प्रकार बुद्ध राजगृह

गा भी या कारण माना जाता है, परन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। बुद्ध ने तैयार मास लेने का भिक्षुओं के लिये निषेध नहीं किया था, फिर भी भिक्षुओं को यह सावधानी रखने की चेतावनी अवश्य दी थी कि यह मास मत्स्य आदि पदार्थ उनके उद्देश्य से तो तैयार नहीं करवाये गये हैं, इस बात का पूरा ध्यान रखना। यदि जान कर मन से भिक्षु को यह पता लग जाये कि यह पदार्थ भिक्षु के लिये बनाया गया है, अथवा वह किसी से सुन ले, अथवा अपनी आँखों देख ले कि यह भिक्षु के निमित्त ही बना है, तो उसे मास मत्स्य नहीं लेना चाहिए। जाच पडताल की खट पट मे पड़ने के बजाय अनेक भिक्षु तो मास मत्स्य लेने से ही दूर रहते थे।

कई भिक्षु उद्दिष्टकृत मासा य आहार तक को न लेकर माधु करी वृत्ति से ही अपना निर्वाह करते थे, तब कोई कोई भिक्षु मास मत्स्य का लेते भी थे, परन्तु उनकी सख्या सीमित रहती थी। यही कारण है कि देवदत्त ने थोड़े से भिक्षु भी मास मत्स्य ग्रहण न करने के लिये नियम बनाने का बुद्ध से अनुरोध किया था, परन्तु बुद्ध ने उसको स्वीकार नहीं किया और मास ग्रहण के हिमायती भिक्षुओं ने देवदत्त के सम्बन्ध में झूठी झूठी बातें बुद्ध के कानों पहुँचा कर बुद्ध और देवदत्त के बीच विरोध की गहरी खाई बना डाली, जिसके परिणाम स्वरूप देवदत्त का प्रयत्न सफल न हो सका।

उनका मित्र था। जैन उपासक होने पर भी अजातशत्रु देवदत्त के सुख साधनों की तरफ ध्यान रखता था, इतना ही नहीं प्रसङ्ग पाकर राजा उनसे मिलता और उपयोगी साधन सामग्री भी भेजता रहता था। राजगृह में जैन श्रमणों के संसर्ग से और राजा अजातशत्रु के परिचय से देवदत्त के मन पर जैन श्रमणों की आचार की अमिट छाप पड़ गई थी और वह बौद्ध संघ की कतिपय शिथिलताओं को मिटाकर उसे उच्च कोटि का बौद्ध संघ बनवाना चाहता था। इस कारण देवदत्त ने बुद्ध के आगे यह प्रस्ताव उपस्थित किया—

१ भिक्षु जिन्दगी भर आरण्यक रहें, जो गांव में रहें, उसे दोष हो।

२ जिन्दगी भर पिण्डपातिक (भिक्षा मांग कर खाने वाले) रहें जो निमंत्रण खाय, उसे दोष हो।

३ जिन्दगी भर पांसु कूलिक (फेंके चिथड़े सी कर पहनने वाले) रहें जो गृहस्थ के (दिये) चीवर का उपभोग करे, उसे दोष हो।

४ जिन्दगी भर वृक्ष मूलिक (वृक्ष के नीचे रहने वाले) रहें, जो छाया के नीचे जाय, वह दोषी हो।

५ जिन्दगी भर मांस मछली न खावें, जो मछली मांस खाय उसे दोष हो।

मे श्रेणिक (बिम्बसार) क श्रद्धास्पद बन थे, उसी प्रकार बुद्ध का शिष्य देवदत्त राजकुमार अजात शत्रु (कुणिक) का आदर पात्र बना था।

भगवान् महावीर को केवल ज्ञान प्राप्त होने के बाद वे मगध तथा उसके आस पास के देशो मे विशेष विचरे और राजगृह को अपना केन्द्र बना लिया।

राजा बिम्बसार की अन्तिम रानी और अजात शत्रु की माता चेलना महावीर की मातुलपुत्री बहन होती थी, और वह जन्म से जैन धर्म की उपासिका थी। जैन श्रमणों की उपदेश धारा और रानी चेलना की प्रेरणा से राजा बिम्बसार पिछले समय म महावीर का परमभक्त बन गया था, इतना ही नहीं उन्होने अपने कुटुम्ब के सभी मनुष्यों को यह आज्ञा दे दी थी कि जो भी व्यक्ति जैन धर्म की दीक्षा लेना चाहे, उसे मेरी तरफ से आज्ञा और सहानुभूति है। राजा की इस सद्भावनामय अनुमति से प्रभावित हो कर कोई तेरह राजकुमारों ने श्रमण धर्म की दीक्षा लेकर, श्रमण सघ म प्रवेश किया था। बिम्बसार की मृत्यु के बाद उनकी अनेक विधवा रानिया भी गृहवास छोडकर महावीर की श्रमणी समुदाय मे दाखिल हुई थीं। बिम्बसार की मृत्यु के बाद अजातशत्रु (कुणिक) मगध का राजा बना। इस प्रकार मगध और खास कर राजगृह मे जैनधर्म का प्राबल्य बढ जाने के बाद बुद्ध का विहार क्षेत्र राजगृह से मिट कर श्रावस्ती बना था। तथापि देवदत्त उस समय भी राजगृह मे विशेष रहता था, कारण यह था कि राजा अजातशत्रु,

मोपमादमनुचिन्नो, आपज्ज न तथा गत।
अवीचि निरय पत्तो, चतुद्वार भयानकम्॥

(इति वुत्तक पृ० ७८-७९)

अर्थ—त्वन्त विघ्न रूप, नरक गामी, नादान अप्रतिराय इन तीन कारणों से, हे भिक्षुओं पाप मित्र से पराभूत तथा परवश चित्त वाला होकर देवदत्त विघ्न रूप, नरकगामी नादान, अप्रतिराय (बना)। इससे करणीय (सामान्य साधन) विद्यमान होने पर भी अपर ओपन के विशेष लाभ के कारण से सब के बीच भद डाला। हे भिक्षुओ! इन तीन असद्धर्मों से पराभूत तथा परवश चित्त वाला होकर देवदत्त विघ्नरूप नरकगामी नादान अप्रतिराय (बना)।

लोक में पाप इच्छा वाला कोई उत्पन्न मत हो और पाप इच्छा वाला की जो गति होती है वह इस से जान लो।

जो पण्डित नाम से अति प्रसिद्ध हुआ तत्पश्च के नाते अति सम्मानित हुआ और उज्वल जलापम यश से देवदत्त यशस्वी बना ऐसा मैंने सुना था।

वह देवदत्त प्रमाद के वश होकर तथागत के शरण में न रह कर भयानक चार द्वार वाले अवीचि नरक को पहुँचा।

भोजनार्थ में आमिषशब्द का प्रयोग-

"द्वे मानि भिक्खवे दानानि आमिस दानञ्च धम्मदानञ्च, एतदग्गभिक्खवे इमेस द्विन्न दानान यदिद धम्मदान।"

परन्तु बुद्ध ने यह कह कर प्रस्ताव को ठुकरा दिया कि मैं किसी को इन नियमों के लिये बाध्य नहीं कर सकता। कोई इन नियमों के अनुसार चलना चाहे तो चल सकता है, मैं उससे विरुद्ध नहीं हूँ। पर ऐसा न करने वालों को मैं दूषित नहीं मानूँगा। बुद्ध के इस उत्तर से निराश हो देवदत्त अपने साथ पाँच सौ भिक्षुओं को लेकर उनसे जुदा हो गया। बुद्ध तथा देवदत्त के बीच उक्त प्रकार से उत्पन्न हुए विरोध को तूल देकर बौद्ध लोगों ने कितना भयङ्कर बना दिया है, इसका समाल नीचे लिखे उद्धरणों के शब्दों से आयेगा —

देवदत्तो आपायिको नरयिको कप्पट्ठो अतेकिच्छो। कतमेहि तीहि पापिच्छताय भिक्खवे अभिभूतो परियादिन्नचित्तो देवदत्तो आपायिको नरयिको कप्पट्ठो अतेकिच्छो। पापमित्ताय भिक्खवे अभिभूतो परियादिन्नचित्तो देवदत्तो आपायिको नरयिको कप्पट्ठो अतेकिच्छो। सति खो पन उत्तरिकरणीये ओरमत्तकेन विसेसाधिगमेन च अन्तरा वोसानं आपादि। इमेहि खो भिक्खवे तीहि असद्धम्मेहि अभिभूतो परियादिन्नचित्तो देवदत्तो आपायिको नरयिको कप्पट्ठो अतेकिच्छोति।

मा जातु कोचिलोकस्मिं, पापिच्छो उपपज्जथ।
तदमिनापि जानाथ, पापिच्छानं यथागति ॥
पण्डितोऽपि समञ्ञातो, भावितत्तोऽति सम्मतो।
जलं वा यससा अट्ठा, देवदत्तोति मे सुतं ॥

'इतिवुत्तक' की उपर्युक्त चार पंक्तियों में दान संविभाग अनुग्रह और याग में आमिष और धम्मदान आदि का तारतम्य बताकर आमिष की अपेक्षा से धर्म का प्रधानता की है। यहां प्रयोग में लाया गया आमिष शब्द भोजन वाचक है, इसमें कोई शङ्का नहीं हो सकती। अन्न अथवा भक्त शब्द का प्रयोग न कर आमिष शब्द का पसंद किया इसका कारण इतना ही है कि उस समय आमिष प्रणीत भोजन (खाद्य) मिष्टान्न के अर्थ में व्यवहृत होता था। भगवान् बुद्ध के कहने का आशय यह है कि मिष्टान्न के दान, संविभाग, अनुग्रह और याग से भी धर्म का दान, संविभाग, अनुग्रह और याग करना श्रेष्ठ है।

इसी प्रकार "मज्झिम निकाय' के 'धम्मदायाद सुत्त' में भी भगवान् बुद्ध ने भोजन के अर्थ में आमिष शब्द का प्रयोग करके भिक्षुओं को उपदेश दिया है। जो निम्नलिखित उद्धरण से ज्ञात होगा —

'धम्मदायाद मे भिक्खवे भवथ, मा आमिस दायाद अपि मे तुम्हेसु-अनुकम्पा-किंति मे सावका धम्म दायाद भवेय्यु नो आमिस दायादाति। तुम्हे च भिक्खवे आमिस दायादा भवेय्याथनो धम्म दायादा। तुम्हे पि तेन आदिस्सा भवेय्य आमिस दायादा सत्थु सावका विहरन्ति नो धम्मदायादाति। अहं पि तेन आदिस्सो भवेय्य आमिस दायाद सत्थु सावका विहरन्ति नो धम्म दायादाति तुम्हे च भिक्खवे धम्मदायादा भवेय्याथ नो आमिसदायादा, अहंऽपि आदिस्सा भवेय्याथ—धम्मदायादा सत्थु सावका

अर्थ —हे भिक्षुओ ! लोक में ये दो दान हैं–आमिषदान और धर्मदान, हे भिक्षुओ ! इन दो दानों में जो धर्म दान है, वह श्रेष्ठ है।

'द्वे मे भिक्खवे संविभागा आमिस संविभागो च धम्म संविभागो च एतदग्ग भिक्खवे इमेसं द्विन्नं संविभागानं यदिदं धम्म संविभागो।

अर्थ—हे भिक्षुओ ! दाय विभाग दो प्रकार के हैं आमिष संविभाग और धर्म संविभाग, हे भिक्षुओ ! इन दो संविभागों में जो धर्म संविभाग है, वह प्रधान है।

द्वे मे भिक्खवे अनुग्गहा आमिसानुग्गहो च धम्मानुग्गहो च एतदग्ग भिक्खवे इमेसं द्विन्नं अनुग्गहानं यदिदं धम्मानुग्गहो।

अर्थ—भिक्षुओ ! ये दो प्रकार के अनुग्रह (उपकार) हैं, आमिष अनुग्रह और धर्मानुग्रह, हे भिक्षुओ ! इन दो अनुग्रहों में से जो धर्मानुग्रह है वह अग्रगामी है।

द्वे मे भिक्खवे यागा आमिस यागो च धम्म यागो च, एतदग्गं भिक्खवे इमेसं द्विन्नं यागानं यदिदं धम्मयागोति एतमत्थं भगवा अवोच तत्थे तं इति वुच्चति। (इतिवुत्तक पृ० ८९)

अर्थ—हे भिक्षुओ ! दो याग पूजा होते हैं आमिष याग और धर्म याग इन दो यागों में जो धर्मयाग है, हे भिक्षुओ वह सब में अग्रेसर होता है। यह अर्थ भगवान् ने कहा है, उसी प्रकार कहा जाता है।

"मज्झिम निकाय' के धम्मदायाद सुत्त के निम्नलिखित पाठ में यह भी स्पष्ट बता दिया गया है कि आमिष, पिण्डपात (भिक्षान्न भोजन) का नाम है। देखिये—

१—"इधाहं खो भिक्खवे भुत्तावी अस्सं पवारितो परिपुण्णो परियोसितो सुहितो यावदत्थ सिया च मे पिण्डपातो अतिरेक धम्मो छड्डिय धम्मो। अथ द्वे भिक्खू आगच्छेय्युं जिघच्छा दुब्बल्य परेता। त्याहं एवं वदेय्य—अहं खो हि भिक्खवे भुत्तावी पवारितो यावदत्थो अत्थि च मे अयं पिण्डपातो अतिरेकधम्मो स चे आकङ्खथ भुञ्जथ स चे तुम्हे न भुञ्जिस्सथ इदानाहं अप्पहरित्ते वा छड्डेस्सामि अप्पाणके वा उदके ओपिलापेस्सामीति। तत्रेकस्स भिक्खुनो एवं अस्स-भगवा खो भुत्तावी पवारितो यावदत्थो अत्थि चायं पिण्डपातो अतिरेकधम्मो छड्डिय धम्मो। सचे मयं न भुञ्जिस्साम इदानि भगवा अप्पहरिते वा छड्डेस्सति अप्पाणके वा उदके ओपिलापेस्सति। वुत्तं खो पनेतं भगवता—धम्मदायादा मे भिक्खवे भवथ मा आमिस दायादाति। आमिसञ्ञतरं खो पनेतं यदिदं पिण्डपातो। यन्नूनाहं इमं पिण्डपातं अभुञ्जित्वा इमिना जिघच्छा दुब्बल्येन एवं इमं रत्तिं दिवं वीतिनामेय्यति सो तं पिण्डपातं अभुञ्जित्वा तेनेव जिघच्छा दुब्बल्येन एवं तं रत्तिं दिवं वीति नामय्य। अथ दुतियस्स भिक्खुनो एवं अस्स भगवा खो भुत्तावी पे ... ओपिला पेस्सति। यन्नूनाहं इमं पिण्डपातं भुञ्जित्वा जिघच्छा दुब्बल्यं पटिविनेत्वा एवं इमं रत्तिं दिवं वीतिनामेय्यति। सो तं पिण्डपातं

विहरथ मा आमिस दायादाति । अहंपि तेन न आदिस्सो भवेय्य धम्मदायादा सत्थु सावका विहरन्ति नो आमिस दायादाति तस्मातिह मे भिक्खवे धम्मदायादा भवथ मा आमिसदायादा अथि मे तुम्हेसु अनुकम्पा किंति मे सावका धम्मदायादा भवेय्य नो आमिसदायादाति । "धम्मदायाद सुत्त" पृ० ८

अर्थ—हे भिक्षुओ ! तुम मेरे धर्म के दायाद (हिस्सेदार) बनो आमिष भोजन के दायाद न बनो, हे भिक्षुओ मेरी तुम्हारे ऊपर अनुकम्पा (दया) है, वह क्या ? कि, मेरे श्रावक (भिक्षु) धर्म के दायाद हों न कि आमिष के दायाद, हे भिक्षुओ यदि तुम आमिष-दायाद बनोगे तो तुम भी उसमें लोकादेश (लोक गर्हा) के विषय बनोगे कि शास्ता के श्रावक आमिष के दायाद बन कर विचरते हैं,न कि धर्म के दायाद, और हे भिक्षुओ ! इससे मैं लोगों का देश का विषय बनूँगा कि शास्ता के श्रावक धर्म के दायाद बनकर विचरते हैं, न कि धर्म के दायाद बन कर। और हे भिक्षुओ ! तुम अगर आमिष के दायाद न बन कर धर्म के दायाद बन कर विचरोगे तो हे भिक्षुओ ! इससे तुम खुद लोकों के आदेश (प्रशंसा) के विषय बनोगे कि शास्ता के श्रावक धर्म के दायाद बन कर विचरते हैं न कि आमिष के दायाद बन कर। और हे भिक्षुओ ! इससे मैं भी लोकादेश लोकस्तुति का पात्र बनूँगा कि धर्म के दायाद बन कर शास्ता के श्रावक विचरते हैं, आमिष के दायाद नहीं। इस वास्ते हे भिक्षुओ ! तुम मेरे धर्म दायाद बनो न कि आमिष दायाद। मेरी तुम पर अनुकम्पा है, मैं चाहता हूँ कि मेरे श्रावक धर्म के दायाद बनें, न कि आमिष के दायाद।

और यह पिण्डपात (भिक्षान्न) आमिष का ही एक प्रकार है। इसलिये मैं इस भिक्षान्न को न खाकर क्षुधा के दौर्बल्य में दिन रात पूरा करूँगा। इस प्रकार उस भिक्षु ने उस भिक्षान्न को न खाकर क्षुधा दौर्बल्य को सहन करते हुए दिन-रात्रि व्यतीत की। अब दूसरे भिक्षु के मन में ऐसा विचार आया, भगवान् भोजन कर चुके हैं और यह शेष भिक्षान्न अहरित भूमि में फेंका देंगे अथवा प्राणि रहित जल में डुबवा देंगे। इस वास्ते मैं इस पिण्डपात को खाकर क्षुधा दौर्बल्य दूर कर रात्रि को सुख से व्यतीत करूँ। यह सोचकर द्वितीय भिक्षु ने उस पिण्डपात को खा लिया और क्षुधा दौर्बल्य को दूर कर रात दिन बिताया।

हे भिक्षुओ! जिस भिक्षु ने यह पिण्डपात खाकर क्षुधा दौर्बल्य को दूर कर के रात्रि दिन बिताया उससे मेरी दृष्टि में पहला भिक्षु विशेष पूज्य और विशेष प्रशंसनीय है। यह इस लिये कि हे भिक्षुओ! यह लम्बी रात उस भिक्षु ने सन्तोष से बितायी यह उत्तम अध्यवसाय शुभ ध्यान-तत्परता और आत्मीय वीर्या-चार में बसेगा। इस वास्ते कहता हूं, हे भिक्षुओ तुम मेरे धर्म के दायाद बनो, आमिष के नहीं।

एक उद्धरण में आये हुए "आमिसदायादा मे भवथ मा धम्मदायादा" इन शब्दों से यह निश्चित है कि बुद्ध के आमिष शब्द के दो अर्थ होते थे। एक तो प्रत्यक्ष भूत मांस और दूसरा प्रणीत भोजन। भिक्षुओं को वे आमिष दायाद न बनने की बार बार शिक्षा देते हैं। इस कारण यही हो सकता है कि बुद्ध के

भुञ्जित्वा जिघिच्छाः दुब्बल्य पटिविनेत्वा एव त रत्तिं भुञ्जित्वा पे रत्तिं दिव वीतिनामेय्य अथ खो असु येव मे पुरिमो भिक्खु पुज्जतरो च पासतरो च त किस्स हेतु । तं हि तस्स भिक्खवे भिक्खुनो दीघरत्त मतुट्ठिया सल्लेख तया सुभरताय विरिया रम्भाय सवत्तिस्सति । तस्मातिह म भिक्खव धम्म–दायाद भवथ मा आमिस दायाद ।

अथ —(बुद्ध कहते हैं) हे भिक्षुओ । यहा मैं भोजन कर निपट चुका था, मैंने ले लिया था, और सुख से बैठा था, मर भिक्षान्न म से कुछ बचा था वह छोड़ देने योग्य था । उस समय दो भिक्षु आये क्षुधाक्रान्त और दुर्बल बने हुए । उनसे मैंने कहा हे भिक्षुओ । मैं भोजन कर चुका हू, जितना प्रयोजन था उतना आहार मैंने ले लिया अब भिक्षान्न जो बचा हुआ है, यह फेंक देने योग्य है । अगर तुम्हारी इच्छा हो तो इसे तुम खा लो, अगर तुम न खाओगे तो मैं इसे बिना हरियाली के भूमि भाग म छुड़वा दूगा, अथवा निर्जीव पानी मे घुलवा दूगा । बुद्ध की यह बात सुन कर उनमें–से एक भिक्षु के मन में यह विचार आया यद्यपि भगवान् भोजन कर चुके हैं इनको जितने की आवश्यकता थी उतना आहार ले लिया है अब जो आहार शेष बचा है वह फेंक देने योग्य है । इस आहार का हम भोजन न करेंगे तो भगवान् इस अल्प हरित भूमि मे छुड़वा देंगे अथवा जन्तु रहित जल में घुलवा देंगे । परन्तु भगवान् ने यह कहा है कि हे भिक्षुओ । तुम मेरे धर्म के दायाद बनो आमिष के दायाद न बनो ।

कोशो, वद्‌ा जैन सूत्रा और बौद्ध ग्रन्थो के उद्धरणों के आधार पर मास मत्स्य आदि शब्दो के अर्थ विवेचन में हमें कचित्‌ पुनरुक्ति करनी पडी है, इसका कारण मात्र शब्दो के मूल हुए अर्थों का समझाना है।

इस मास विषयक विवेचना से विद्वान पाठक गण समझ सकेंगे कि मास आदि शब्दो का वर्तमान कालीन अर्थ करके डा० हर्मन जैकोबी, पटल गोपाल दास और अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बी ने कैसा अक्षम्य भूल की है। हमने इन विद्वानों के विचारों का इस अध्याय में प्रतिवाद किया है। फिर भी इसके सम्बन्ध में कहने की बहुत सी बातें इस अध्याय में नहीं आ सकी हैं। अत इस विषय में रस रखने वाले पाठकों से हमारा अनुरोध है कि "मानव भोज्य मीमांसा" के प्रथम चतुर्थ, पञ्चम, और षष्ठ इन अध्यायों का पढ़ना से ही इस तृतीय अध्याय का उद्देश्य पूरा हो सकेगा।

× इति तृतीयोऽध्याय ×

लिए आने वाला भिक्षा भोजन होता था। उस भोजन के दाय
करने वाले भिक्षु चटोरे बन जायेंगे और आयाम जैसा साधार
भोजन छोड़ कर वे प्रणीत भोजन के पीछे पड़ेंगे। इसलिये बु
उन्हें बार २ कहते थे कि तुम मेरा भोजन खाने की आदत
रक्खो, अगर तुम्हें मेरी बराबरी करना है तो धर्म-प्रचार म
करो। भोजन में नहीं। धम्मदायाद सुत्त का यही तात्पर्य है।

पालीकोश "अभिधानप्पदीपिका" ने अन्नाद (अन्न से बना
हुआ खाद्य पदार्थ) और आमिष ये दोनों नाम मास के पर्याय
बताये हैं। इससे भी अन्नाद और आमिष दोनों परस्पर
एक दूसरे के पर्याय हैं और इन दोनों का पर्याय मास है। इस
लिये जहां आमिष और मास शब्द के प्रयोग आते हैं, वहां
प्रकरणानुसार अन्नमय खाद्य और तृतीय धातु प्राणि मास ये
दोनों अर्थ किये जा सकते हैं परन्तु बुद्ध के निर्वाणान्तर यह
तात्पर्य धीरे धीरे भूला जाने लगा और सैकड़ों वर्षों के बाद
आमिष का अर्थ प्राण्यङ्ग मात्र रह जाने से बौद्ध धर्मियों में मास
भक्षण का प्रचार बहुत बढ़ गया। केवल बौद्धों में ही नहीं जैन
और वैदिक प्रचार सम्प्रदायों में भी मास, आमिष आदि प्राण्यङ्ग
मास का सूचन करने वाले शब्द पूर्वकाल में फलों मेवा और
पिष्ट से बनाये हुए प्रणीत भोजनों को भी सूचित करते थे। इस
विषय की यथास्थान विचारणा हो चुकी है, अतः यहां अधिक
लिखना पुनरुक्ति मात्र होगा।

मानव भोज्य मीमांसायाम्

चतुर्थोऽध्यायः

प्रासुक भोजी जैन श्रमण

अकृताकारितान्नादि माधुकर्या प्रजीविन ।
महर्षेश्चरितं वक्ष्ये, निर्ग्रन्थस्य महात्मनः ॥१॥

अर्थ—अकृत, अकारित, अन्न, पानी आदि की माधुकरी वृत्ति करने वाले महात्मा निर्ग्रन्थ महर्षि का चरित्र कहूँगा।

१ जैन श्रमण की जीवन चर्या

पूर्व अध्यायों में मनुष्य का भोजन और यज्ञादि प्रसङ्गों पर किया जाने वाला आपवादिक भोजन आदि का निरूपण किया गया है। इस अध्याय में हम जैन सम्प्रदाय के श्रमणों (साधुओं) की जीवनचर्या का संक्षेप से निरूपण करेंगे।

(तृतीयोऽध्याय समाप्त)

करन्तमपि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि' ।

इस प्रकार सर्व सावद्य निवृत्ति रूप सर्व विरति सामायिक का स्वीकार करने के बाद नूतन श्रमण दैनिक रात्रिक, पाक्षिक, वार्षिक कृत्यों के निरूपक 'आवश्यक सूत्र" तथा आहार विहार सम्बन्धी ज्ञान कराने वाले 'दशवैकालिक' सूत्र के आदिम चार अध्यायों का कण्ठस्थ करते हैं। फिर उन्हें छेदोपस्थापनीय नामक द्वितीय चारित्र दिया जाता है, जिसको आम लोक भाषा में बड़ी दीक्षा कहते हैं।

छेदोपस्थापना

छेदोपस्थापनीय चारित्र देते समय गुरु नूतन श्रमण को पञ्च महाव्रत तथा रात्रि भोजन विरति के प्रतिज्ञा पाठ सुनाते हैं। उन पूरे पाठों को यहां न देकर उनका सारांश मात्र नीचे देते हैं।

१—सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं।

२—सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं।

३—सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं।

४—सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं।

---

१ संस्कृतच्छाया—करोमि भदन्त। सामायिकं सर्वं सावद्यं प्रत्याख्यामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं नानुजानामि तस्य (तस्मात्) भदन्त। प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि।

योग्यता

गृहस्थाश्रम से निकल कर जैन श्रमण बनने की इच्छा वाले मनुष्य में अनेक प्रकार की योग्यताएं होनी चाहिए-ऐसा जैन शास्त्रकारों ने प्रतिपादित किया है। जिसका संक्षिप्त सार यह है।

दीक्षार्थी की उम्र आठ वर्ष के ऊपर और साठ के नीचे की होनी चाहिए।

वह पञ्चेन्द्रिय सम्पन्न और शरीर में अविकल होना चाहिए।
वह जाति अथवा कुल से निन्दित (अस्पृश्य) न होना चाहिए।
वह किसी का क्रीत दास न होना चाहिए।
वह किसी का कर्जदार न होना चाहिए।
वह क्लीव (नपुंसक) न होना चाहिए।

इत्यादि शास्त्रोक्त अयोग्यताओं का विचार कर संसार से विरक्त योग्य मनुष्य को जैन श्रमण की प्रव्रज्या दी जाती है। दीक्षार्थी को कम से कम छः मास तक श्रमणों के संसर्ग में रक्खा जाता है। इस समय के बीच वह योग्य शास्त्र का अध्ययन करता है, और श्रमणों की दिनचर्या आदि का भी मनन किया करता है। छः मास के बाद जब प्रव्रज्या देने का शुभ समय निकट आता है उस समय अनेक प्रश्नों द्वारा उसके वैराग्य की परीक्षा करके उसे सामायिक चारित्र प्रदान किया जाता है।

सामायिक चारित्र का प्रतिज्ञा पाठ

करेमिभन्ते। सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि

करन्तमपि अन्य न समनुजाणामि तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि' ।

इस प्रकार सर्व सावद्य निवृत्ति रूप सर्व विरति सामायिक का स्वीकार करने के बाद नूतन श्रमण दैनिक रात्रिक, पाक्षिक, वार्षिक कृत्यों के निरूपक 'आवश्यक सूत्र" तथा आहार विहार सम्बन्धी ज्ञान कराने वाले 'दशवैकालिक' सूत्र के आदिम चार अध्यायों को कण्ठस्थ करते हैं। फिर उन्हें छेदोपस्थानीय नामक द्वितीय चारित्र दिया जाता है, जिसको आम की भाषा में बड़ी दीक्षा कहते हैं।

छेदोपस्थापना

छेदोपस्थापनीय चारित्र देते समय गुरु नूतन श्रमण को पञ्च महाव्रत तथा रात्रि भोजन विरति के प्रतिज्ञा पाठ सुनाते हैं। इन पूरे पाठों को यहां न देकर उनका सारांश मात्र नीचे देते हैं।

१—सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं ।

२—सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं ।

३—सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं ।

४—सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ।

---

१ संस्कृतच्छाया—करोमि भदन्त । सामायिक सर्व सावद्यं प्रत्याख्यामि यावज्जीव त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्य नानुजानामि तस्य (तस्मात्) भन्ते । प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

५—सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमण ।
६—सव्वाओ राइ भोयणाओ वेरमण ।

अर्थ—१ मैं सर्व प्राणियों की हिंसा से निवृत्त हुआ हूँ।
२ मैं सर्व प्रकार के असत्य वचन बोलने से निवृत्त हुआ हूँ।
३ मैं सब प्रकार के अदत्तादान (चौर्य) से निवृत्त हुआ हूँ।
४ मैं सब प्रकार के मैथुन (स्त्री संग) से निवृत्त हुआ हूँ।
५ मैं सर्व प्रकार के परिग्रह से निवृत्त हुआ हूँ।
६ मैं सब प्रकार के रात्रि भोजन से निवृत्त हुआ हूँ।

उपर्युक्त छह व्रत प्रतिज्ञाओं में से पहली पाँच प्रतिज्ञायें महाव्रत नाम से प्रख्यात हैं। अंतिम प्रतिज्ञा का विषय रात्रि भोजन है, इसकी गणना महाव्रतों में नहीं है। वह व्रतमात्र कहलाता है।

नूतन श्रमण का मण्डली प्रवेश

उपस्थापना प्राप्त करने के बाद नूतन श्रमण सात दिन तक एक बार रूक्ष भोजन करता है, तब वह श्रमणों की प्रत्येक मण्डली में प्रवेश कर सकता है। वे मण्डलियां सात हैं जो नीचे की गाथा में निर्दिष्ट की गई हैं।

सुत्ते १, अत्थे २ भोयण ३, काल ४, आवस्सगए ५, सज्झाए।
६, संथारे ७, चेव तहा सत्तेया मंडली जइणो ॥६१॥

अर्थ—सूत्र मण्डली १, अर्थ मण्डली २, भोजन मण्डली ३, काल मण्डली ४ आवश्यक मण्डली ५, स्वाध्याय मण्डली ६, और

मण्डलिक मण्डली ७, साधु के प्रवेश योग्य ये सात मण्डलिया होती हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि जब तक नव्य श्रमण उपस्थापना प्राप्त करके सात आयंबिल नहीं करता, तब तक यह सूत्र पढ़ने वाले श्रमणों और सुनने वाले श्रमणों के साथ बैठकर सूत्र नहीं पढ़ सकता, अथ नहीं सुन सकता। इसी प्रकार अन्य मण्डलियों के विषय में भी जान लेना चाहिए।

बाल श्रमणों को उपदेश

दशवैकालिक सूत्र के कर्ता श्री शय्यम्भव सूरिजी ने अपने पुत्र और शिष्य बालमुनि मनक को प्रव्रज्या देकर निम्न प्रकार से उपदेश दिया था।—

> धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
> देवावि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥१॥
> जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं।
> ण य पुप्फं किलामेइ, सो अ पीणेइ अप्पयं ॥२॥
> एमए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो।
> विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्ते सणेरया ॥३॥
> वयं च वित्तिं लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ।
> अहा गडेसु रीयन्ते, पुप्फेसु भमरा जहा ॥४॥
> महुगार समा बुद्धा जे भवन्ति अणिस्सिया।
> नाणा पिंडरया दन्ता, तेण वुच्चन्ति साहुणोत्ति बेमि ॥५॥

अर्थ—अहिंसा, सयम, और तप यह धर्म है, और उत्कृष्ट मङ्गल है, जिसके मन म धम रमता है उसको देव भी नमस्कार करते हैं ॥१॥

जैसे वृक्ष लताओं के पुष्पों पर बैठ कर भौरा उनका मकरन्द रस पीता है, पुष्पो को पीड़ित नहीं करता, और रस-पान से अपनी आत्मा को सन्तुष्ट करता है। इसी प्रकार लोक म जो विगत तृष्ण श्रमण है जो साधु कहलाते हैं, पुष्पो पर भौरों की तरह गृहस्थों द्वारा दिये जाने वाले भोजन की तलाश में तत्पर रहते हैं। ॥ २-३ ॥

हम भी गृहस्थो द्वारा अपने लिये बनाये हुए भोजन पानी म से थोड़ा थोड़ा प्राप्त कर अपनी जीविका प्राप्त करते हैं, हमारी इस वृत्ति से किसी का दुःख नहीं होता, जैसे भौरों से पुष्पों को नहीं होता ॥४॥

जो ज्ञानी हैं निश्रा हीन हैं, मधुकर समान अनेक घर के अन्न पिण्ड की खोज म रहते हैं, और इन्द्रियों का वश म रखते हैं, इसी कारण वह साधु कहलाते हैं ॥५॥

जैन निर्ग्रन्थो का सामान्य आचार

यो तो सारे "दशवैकालिक सूत्र" तथा "आचाराङ्ग सूत्र" निर्ग्रन्थ श्रमणों के आचार विधान से ही भरे पड़े हैं। उन सबका साराश भी इस इस स्थल पर लिखना अशक्य है, तथापि यहा पर "दशवैकालिक" के तृतीय अध्ययन की गाथाओं से जैन श्रमण

के सामान्य आचार का दिग्दर्शन कराना प्रासङ्गिक होगा। वे गाथायें क्रमश नीचे दी जाती है।

> संजम सुठियप्पाणं, विप्पमुक्काण ताइण ।
> तेसिमेय मणाइन्न, निग्गन्थाण महेसिणं ॥१॥

अर्थ—जो संयम मार्ग में सुस्थित है संसार के प्रलोभनो से मुक्त है, सभी त्रस स्थावर प्राणियो के रक्षक हैं, उन निर्ग्रन्थ महर्षियो के लिये नीचे के कार्य अनाचीर्ण (अकर्तव्य) है।

> उद्देसिय कीयगड, नियागमभिहडाणिय ।
> राइभत्ते सिणाणेय, गध मल्लेय वीयणे ॥२॥
> सनिहि गिहि मत्तेय, रायपिंड किमिच्छए ।
> संवाहणा दंत पहोयणाय, संपुच्छणे देहपलोयणाय ॥३॥
> अट्ठावएयनालीए, छत्तस्सय धारणाट्ठाए ।
> ते गिच्छ पाहणाप्पाए, समारम्भ च जोइणो ॥४॥
> सिज्जायर पिंड च, आसं दीपलिय कर ।
> गिहितर निसिज्जा य, गायस्सु वट्टणाणिय ॥५॥
> गिहिणो वेआवडिय, जाय आजीव वत्तिया ।
> तत्ता निव्वुड भोइत्त, आउरस्सरणाणिय ॥६॥
> मूलए सिंगवेरय, इच्छुखड अनिव्वुडे ।
> कद मूले य सचित्ते, फले बीए य आमए ॥७॥
> सोवचले सिंधवे लोणे, रोमालोणेय आमए
> काला लोणेय आमए

अभिहडाणि य, राइभत्ते सिणाणे य। गंधमल्ले य वीयणे॥
सन्निही गिहिमत्ते य, रायपिंडे किमिच्छए।
संवाहणा दंतपहोयणा य, संपुच्छणा देहपलोयणा य॥

उद्देसियं कीयगडं, नियागमभिहडाणि य।
...

अर्थ—औद्देशिक (साधु के निमित्त बनाया हुआ) क्रीत कृत (उनके निमित्त खरीदा हुआ) नियाग (आमंत्रित) पिण्ड अभिहृत (सामने लाया हुआ और रात्रि भक्त (रात्रि भोजन) इत्यादि प्रकार के आहार निर्ग्रन्थ श्रमणों को अग्राह्य हैं। तथा स्नान गन्ध पुष्पमाला वायु वीजन (पंखा) सन्निधि (पास में बासी रखना) गृहस्थामत्र (गृहस्थ के बर्तन में भोजन) राज पिण्ड (अभिषिक्त राजा के घर का आहार) किमिच्छक (क्या चाहते हो यह कह कर दिया जाने वाला) संवाहन (शरीर मर्दन) दन्त प्रधावन, सांसारिक कार्य सम्बन्धी प्रश्न देह प्रलोकना (काच आदि में मुख शरीर आदि का देखना) अष्टापद (जुआ) खेलना नालिका (द्यूत क्रीड़ा विशेष) छत्रधारण (निरर्थक शिर पर छत्र धारण करना) चिकित्सा (रोग की दवा करना) उपानह (पैरों में जूता पहनना) ज्योति समारम्भ (अग्नि जलाना) शैय्यातर पिण्ड (उपाश्रय के मालिक के घर का आहार) आसन्दीय (सूत की रस्सी से अथवा बेत की छाल से बनी हुई कुर्सी पर बैठना) पर्यङ्क (पलंग पर बैठना सोना) गृहान्तर निषद्या (दो घरों के बीच अथवा बस्ती वाले गृहस्थ के घर में आसन लगाना) गात्रोद्वर्तन (शरीर पर से मैल हटाना अथवा सुगन्धित पदार्थ

से उत्पन्न) गृहस्थ वैयावृत्य (गृहस्थ के कार्यों में मदद करना) आजीववृत्तिता (जाति कुल शिल्पादि द्वारा आजीविका) तथा निर्वृत्त भोजित्व (तप हुए अर्द्धनिष्पन्न आहार पानी का भोजन) आतुर शरण (रोग में गृहस्थ का आश्रय लेना) अप्रासुक मूली अदरक गन्ना का टुकड़ा और सचित्त कन्द मूल और कच्चे फल तथा जीव सौवर्चल सैन्धव लवण तथा रोम लवण, तथा समुद्र क्षार, पांशु क्षार और कृष्ण काला नमक, ये सब श्रमण के अग्राह्य हैं।

धूपन (वस्त्र आदि का सुगन्ध धूप से धुपाना) वमन (दवा के प्रयोग से उल्टी करना) वस्ती कर्म (नालिकादि द्वारा वस्ती भाग में तैलादि स्नेह चढ़ाना) विरेचन (रेचक द्रव्य द्वारा दस्त लगाना) अञ्जन (नेत्रों में काजल लगाना) दन्तवन (दातुन करना) गात्राभ्यङ्ग (तैलादि से शरीर के मालिश करना) विभूषण (शोभा निमित्त किसी भी प्रकार के शारीरिक संस्कार) संयम से संयुक्त और निष्परिग्रह होकर विचरने वाले निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिये ये सभी बातें अनाचीर्ण (अनुपादेय) हैं।

पञ्चासव परिण्णाया, तिगुत्ता छ सुसंजया।
पंच निग्गहणा धीरा, निग्गंथा उज्जुदंसिणो॥११॥
आयावयंति गिम्हेसु, हेमन्तेसु अवाउडा।
वासासु पडि संलीणा, संजया सुसमाहिया॥१२॥
परीसह रिउदन्ता, धुयमोहा जिइन्दिया।

मव्वदुक्ख पहीणट्ठा, पक्कमन्ति महेसिणो ॥१३॥
दुक्कराइं करित्ताणं, दुस्सहाइं सहेत्तु य ।
केइत्थ देवलोएसु, केइ सिज्झन्ति नीरया ॥१४॥
खवित्ता पुव्व कम्माइं, सजमेण तवेण य ।
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता, ताइणो परिनिव्वुडेत्तिबेमि ॥१५॥

अर्थ—पञ्चास्रव परिज्ञाता (पाच आस्रवो को जिन्होंने छोड़ दिया है) त्रिगुप्त (मन वचन काय का गोपन वाले) षट् सयम (षट जीव निकायों का रक्षण करने वाले) पञ्च निग्रहण (पाच इन्द्रियों का निग्रह करने वाले) धीर (धैर्यवान्) निर्ग्रन्थ (बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त) ऋजुदर्शी (सब प्राणियों को सरल भाव से देखने वाले) ऐसे निर्ग्रन्थ श्रमण ग्रीष्म ऋतुओं में सूर्य का ताप सहन करते हैं शीत ऋतुओं में खुले शरीर और वर्षा ऋतुओं में मकानों अथवा गुफाओं में आश्रय लेकर सयम रखते हुए समाधि पूर्वक रहते हैं ।

परिषह—रूप शत्रुओं को दमन करने वाले, मोह को जीतने वाले और जो जितेन्द्रिय हैं, वे महर्षि सब दुःखों का क्षय करने के लिये पुरुषार्थ करते हैं । दुष्कर कामों को करके दुस्सह परिषहों को सह कर कई देव लोकों में उत्पन्न होते हैं । तथा कई कर्म रूपी रजों को दूर करके सिद्धि को प्राप्त होते हैं सयम और तपों द्वारा पूर्व भवोपार्जित कर्मों का क्षय कर सर्व जीवों के रक्षक कर्ममुक्त होकर मोक्ष मार्ग को प्राप्त हुए ।

जैन श्रमणों की ओघ (सामाचारी)

जैन श्रमणों के नित्य तथा नैमित्तिक आचार मार्गों में की जाने वाली प्रवृत्ति को सामाचारी कहते हैं। यों तो अनेक विध सामाचारियां हैं यहां हम उन सामाचारियों का निरूपण करते हैं कि जो दिन में बार बार करने का प्रसंग आता है। इसी लिये इस सामाचारी को चक्रवाल सामाचारी कहते हैं। चक्रवाल सामाचारी नीचे लिखे मुजब दश प्रकार की होती हैं—

इच्छा१, मिच्छा२, तहक्कारो३, आवस्सियाय४, निसीहिया।५।
आपुच्छणाय६, पडिपुच्छा७, छन्दणाय८, निमंतणा९ ॥४६॥
उवसंपयाय १०, काले, सामाचारी भवे दस विहाउ।
एमाइ साहु किंच, कुज्जा समयाणु सारेण ॥५०॥

अर्थ—इच्छाकार १ मिथ्याकार २ तथाकार ३, आवश्यकी ४ नैषधिकी ५, आपृच्छा ६, प्रतिपृच्छा ७, छन्दना ८, निमन्त्रणा ९, उपसम्पदा १०, यह दस प्रकार की सामाचारी होती है यह सामाचारी रूपकृत्य, साधु को समय के अनुसार करना चाहिए।

१ इच्छाकार

जैन श्रमण को किसी भी काम में प्रवृत्ति कराने में उसकी इच्छा का अनुसरण किया जाता है। शिष्य तो क्या गुरु भी अपने शिष्य से कोई काम लेते समय उसे कहते हैं- 'इच्छाकारेण (इच्छया) अमुक श्रमण" तुम अमुक कार्य कराग इस पर उसके स्वीकार के रूप में शिष्य कहता है-"तथेति"।

२ मिथ्याकार—

साधु से कोई भी मानसिक, वाचिक, कायिक, अपराध हो जाने पर उसे तुरन्त 'मिच्छा मी दुक्कड' (मिथ्या मे दुष्कृतम्) अर्थात् मेरा यह अपराध मिथ्या हो, इस प्रकार उसे भूल का पश्चाताप करना होता है।

३ तहत्ति (तथाकार)

गुरु अथवा अपने से किसी बड़े श्रमण के कार्य विषयक सूचना करने पर उसका स्वीकार करता हुआ साधु कहता है तहत्ति (तथेति) अर्थात् वैसा ही करूंगा।

४ आवस्सिही (आवश्यकी)

श्रमण किसी जरूरी कार्य के लिये अपने स्थान से बाहर निकलता है, तब वह "आवस्सिही" (आवश्यकी) कहकर निकलता है क्योंकि श्रमण को निष्कारण भ्रमण निषिद्ध होने से वह इससे सूचित करता है कि मैं आवश्यक कार्य के लिये जा रहा हूँ।

५ निस्सिही (नैषधिकी)

साधु आवश्यक कार्य से लौटकर अपने उपाश्रय मे आता है तब "निस्सिही" (नैषधिकी) कहकर स्थान में प्रवेश करता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह जिस आवश्यक कार्य से बाहर गया था, उसको करके अब वह भ्रमण से निवृत्त हो गया।

६—आपुच्छणा (आपृच्छा)

जैन श्रमण कोई भी खास कार्य अपने नायक को पूछे बिना नहीं करता। इसलिए जो काम उसको करना आवश्यक है उसको करने से पहले वह अपने नेता को पूछता है कि भगवन्! मैं अमुक काम करूँ? गुरु की आज्ञा प्राप्त होने पर वह उस कार्य की प्रवृत्ति में लगता है।

७—पडिपुच्छा (प्रतिपृच्छा)

जिस काम के करने के लिए श्रमण ने अपने बड़े से प्रथम पूछ कर आज्ञा प्राप्त करली होती है उसी काम का प्रारम्भ करने के समय फिर पूछना उसका नाम प्रतिपृच्छा है, क्योंकि गुरु की आज्ञा प्राप्त करने के बाद कुछ समय तो निकल ही जाता है और कोई अन्य जरूरी कार्य भी उपस्थित हो सकता है, इस कारण तात्कालिक पृच्छा से आवश्यक नए काम से गुरु उसे रोक सके।

८—छन्दणा (छन्दना)

भिक्षाचर्या में जाते समय श्रमण अन्य श्रमणों को पूछता है आपकी इच्छा हो कुछ भगवान की हो तो वहां से लेता आऊंगा, इसका नाम छन्दना है।

९—"निमंतणा" (निमन्त्रणा)

भिक्षान्न लेकर आने के बाद आलोचना आदि कर के आहार लाने वाला साधु अपने गुरु अथवा अन्य साधुओं को आहार

पाकर निम प्रश्न करना है कि इसमें से कुन लीजिये, इससे निम प्रश्न समाचारी पड़ती है।

१०—"उपसंपया" (उपसंपदा)

उपसम्पदा अनेक प्रकार की होती है, ज्ञानोपसम्पदा, दर्शनोपसम्पदा चारित्रोपसम्पदा, मार्गोपसम्पदा। ज्ञानविशेष पढ़ने के निमित्त दर्शन प्रभावक शास्त्रों के पढ़ने के निमित्त, चारित्र (विशेष शुद्ध चारित्र पालने किसी किसी तपस्वी की सेवा करने आदि के) निमित्त, और लम्बे विहार के निमित्त इनके जानने वाला के आश्रय में रहना इसका नाम उपसम्पदा सामाचारी है।

जैन श्रमणों का विहार क्षेत्र

जैन सूत्रों के निर्माण काल में नीचे लिखे देशों का भूमि आर्य क्षेत्र माना जाता था, और जैन श्रमण श्रमणियों का उसी आर्यक्षेत्र में विहार करने की आज्ञा थी। इन देशों के बाहर के चारों तरफ की भूमि को जैनशास्त्रों में अनार्य भूमि माना है और वहां जैन श्रमणों का विहार निषिद्ध किया है। कल्प में आर्य देशों तथा उनकी राजधानियों का सूचन करने वाली निम्नलिखित गाथायें उपलब्ध होती हैं।

> रायगिह मगहचम्पा, अगा तह तामलित्ति वगाय।
> कंचणपुर कलिगा, वाराणसि चेव कासीये ॥
> साकेत कोसला गय, पुरं च कुरु सोरिय कुसट्टाय।
> कम्पिल पंचाला, अहिछत्ता जंगला चेव ॥

रायगिह मगह, चम्पा अंगा तह तामलित्ति वंगा य।
कंचणपुरं कलिंगा, वाणारसी चेव कासी य॥
साएय कोसला, गयपुरं च कुरु सोरियं कुसट्टा य।
कम्पिल्लं पंचाला, अहिछत्ता जंगला चेव॥
वारवई य सुरट्ठा, विदेह मिहिलाय वच्छ कोसंबी।
नंदिपुरं संडिल्ला, भद्दिल पुरमेव मलयाय॥
वराड मच्छवरणा, अच्छा तह मत्तिया वइ दसन्ना।
सुत्ती वइय चेदी, वीय भय सिन्धु सोवीरा॥
महुराय सूरसेणा, पावा भंगीय मास पुरिवट्टा।
सावत्थीय कुणाला, कोडी वरिसं च लाढाय॥
सेयं विया वियं नगरी, कगइ अद्धं च आरियं भणियं।
जत्थ पत्ति जिणाणं, चक्कीणं रामकण्हाणं॥ ३२६३॥

(भाग ३, प्र० उद्दे० प०-६१३)

अर्थ—इन गाथाओं के आधार से आर्य देश तथा नगरी राजधानियों के नामों की सूची मात्र दे रहे हैं :—

मगध-राजगृह अङ्ग-चम्पा, वङ्ग-ताम्रलिप्ति, कलिङ्ग-काञ्चनपुर काशी-वाराणसी, कोशल-साकेत, कुरु-गजपुर, कुशार्त्त सौर्यपुर, पाञ्चाल-काम्पिल्य, जाङ्गल-अहिछत्रा, सौराष्ट्र-द्वारवती विदेह-मिथिला, वत्स-कौशाम्बी, शाण्डिल्य-नन्दिपुर, मलय-भद्दिलपुर, मत्स्य-वैराट अच्छ-वरणा, दशार्ण-मृत्तिकावती, चेदी-शुक्तिमती सिन्धु सौवीर-वीतभय, शूरसेन-मथुरा भंगी-पावा वट्ट-मासपुरी, कुणाल-श्रावस्ती, लाट-कोटिवर्ष, केकयार्द्ध-श्वेतविका।

उपर्युक्त पचीस देश पूरे और आधा कैकय देश आर्य क्षेत्र कहा गया है, जहां पर जिना, चक्रवर्तियों बलदेवों और वासुदेवों का जन्म होता है।

नन श्रमणों के विहार क्षेत्र की जो यह मर्यादा बांधी है, उसका मुख्य कारण उन्हें मांस मत्स्य आदि अभक्ष्य भोजन से बचाना है, क्योंकि आर्यभूमि के बाहर अनार्य लोग बसते थे, उन में मांस मत्स्य खान का अनिवारित प्रचार था। यद्यपि बौद्ध भिक्षु उन अनार्य भूमि में भी अपने धर्म का प्रचार करते थे परन्तु उन्हें भोजन पानी की इतनी कठिनाइयां नहीं पड़ती थी जितनी जैन श्रमणों को।

व्यवहार सूत्र के भाष्य में यह उल्लेख मिलता है कि जैन श्रमण को किसी कारण से अनार्य देश में जाना पड़े तो उसे बौद्ध भिक्षु का वेष पहन कर बौद्ध भिक्षु का साथ करना चाहिए और अपने लिए आहार पानी स्वयं लाना चाहिए। यदि उसे दुर्भिक्षादि के कारण से आहार न मिले तो बौद्ध भिक्षुओं के साथ भोजन शालाओं में जाकर भोजन करना चाहिए। कन्द मूल मेरे शरीर के लिये अहित कर है, इस लिये ह ह न परोसे यह कहने पर भी अगर आहार देने वाला मांस आदि उसके पात्र में डाल दे तो पात्र लेकर वहां से दूसरे स्थान पर चला जाय और अभक्ष्य द्रव्य को पात्र से निकाल कर निर्जीव स्थान में रख दे और शुद्ध द्रव्य का आहार करे। इस वस्तु का सूचन करने वाली भाष्य की वह गाथा तथा उसकी टीका नीचे दी जाती है।—

दगतर मक्कमणे, भिक्खुगमाटी युलिंगेण।
भावेति पिंडमाति तणेणं, छेत्त् चदनड अपणो॥
कन्दादि पुग्गलाणय असारग एय पडि सेहो।

विहार चर्या

षट् निकाय—

पुढवी जीवा पुढो सत्ता, आउ जीवा तहा गणी,
वाउ जीवा पुढो सत्ता, तण रुक्खा सबीयगा ॥७॥
अहावरा तसा पाणा, एव छक्काय आहिया।
एतावए जीवकाए, णावरे कोइ विज्जई ॥८॥
सव्वाहि अणुजुत्तीहिं, मतिम पडिले हिया।
सव्वे अक्कत दुक्खाो, अतो सव्वे न हिंसया ॥९॥

अर्थ—पृथ्वीकाय के जीव पृथ्वी पर रहते हुए जीवों से पृथक है, अप्काय और अग्निकाय के जीव भी इन पर चलने फिरने वाले चलते फिरते जीवों से भिन्न होते हैं। इसी प्रकार वायु तथा हरियाली वनस्पतियों के जीव उन पर रेंगने वाले कीट पतङ्गों से भिन्न होते हैं।

इनके अतिरिक्त छठा त्रस (चलने फिरने वाले) जीवों का निकाय है। इन छः निकायों के अतिरिक्त और कोई जीव निकाय नहीं है ॥ ८ ॥

बुद्धिमान निर्ग्रन्थ भिक्षु सब उपायों से इनको दृष्टि में रक्खे, क्योंकि सब निकाय के प्राणी दुःख को नहीं चाहते और सब मरण से डरते हैं अतः किसी को पीड़ित न करे, न उनकी हिंसा करे ॥९॥

प्रतिस्रोत गमन

अणुसो असुओ लोओ पडिसोओ आसवो सुवि हि आए।
अणुसो ओ ससारो पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥३॥

तम्हा आयार परक्कमेण संवरसमाहिबहुलेण ।
चरिआ गुणा य नियमा य, हुन्ति साहूण दट्ठव्वा ॥४॥

अनिए य वासो समुयाण, चरिआ अन्नाय उंछ पयरिक्कया य ।
अप्पो वही कलह विवज्जणा य विहार चरिआ इसिण पसत्था॥५

आइन्नओ माण विवज्जणा य, ओसन्न दिट्ठाहड भत्तपाणे
स सट्ठकप्पेण चरिज्ज भिक्खू, तज्जाय ससट्ठ जइ जइज्जा ॥६

अमज्जमसासि अमच्छरीया, अभिक्खणं निव्विगइं गयाय ।
अभिक्खण काउसग्गकारी, सज्झाय जोग पयओ हविज्जा॥७

ण पडिन्न विज्जा सयणा सणाइ, सिज्ज निसिज्ज तहभत्तपाण।
गामे कुले वा नगरे व देसे, ममत्तभाव न कहिं पि कुज्जा ॥८॥

गिहिणो वेया वडिय न कुज्जा, अभिवायणवन्दण पूयणवा ।
असंकिलिट्ठे हि सम वसिज्जा, मुणी चरित्तस्स जओ न हाणी॥

णया लभेज्जा निउण सहाय, गुणाहिय वा गुण ओ सम वा ।
इक्कोवि पावाइ विवज्जयंतो, विहरिज्ज कामेसु असज्जमाणो॥१०

अर्थ—सुखात्मक लोक अनुस्रोत होता है, तथ आस्रव त्यागादि
इसके विपरीत सुविहितों के लिये प्रतिस्रोत होता है।
ससार है तथा [illegible] संसार का पार उतरना है।

ज्ञानादि आचारों के आराधन में पराक्रम करने और संवर समाधि में विशेष लीन रहने से साधुओं की चर्या गुण और नियम देखने योग्य बनते हैं ॥ ३-४ ॥

अनियत स्थान में वास, सामुदायिक भिक्षाचर्या, शिलोञ्छवृत्ति अतिरिक्तता, (निर्जनता), अल्पोपधि (जरूरत के अतिरिक्त धार्मिक उपकरणों का भी न रखना) कलह का त्याग, इस प्रकार की श्रमणों की विहारचर्या प्रशंसनीय होती है ॥५॥

जो स्थान जनसमुदायादि से आकीर्ण हो, न हो जहां जाने से श्रमण की लघुता हो, उन स्थानों को वर्जित करना चाहिए। प्रायः दृष्ट स्थान से लाये हुए भात पानी को संसृष्टकल्प से अर्थात् पहले ही से भोजन पानी से खरंटित वर्त्तन से तथा उसी पदार्थ से खरंटित दायक के हाथ से लेने का साधु यत्न करे ॥६॥

साधु को अमद्यपायी अमांसाहारी, और अमत्सरी होना चाहिए, बार बार विकृति त्यागी, कायोत्सर्गकारी, और स्वाध्याय ध्यान में प्रयत्नवान होना चाहिए ॥७॥

साधु मासकल्पादि की समाप्ति में विहार करते समय शयन, आसन, शय्या, निषद्या और भक्त पान को अपने लिये रख छोड़ने की गृहस्थ से प्रतिज्ञा न कराये और न ग्राम, कुल, नगर तथा देश पर अपना ममत्व रक्खे ॥८॥

मुनि गृहस्थ के कामों में सहायक न बने, न गृहस्थ का अभिवादन वन्दन और पूजन करे, साधु को असंक्लिष्ट परिणामी अर्थात्

शुभ परिणाम वाले मनुष्यों के साथ रहना चाहिए, जिससे कि उसके चारित्र की हानि न हो ॥६॥

जैन श्रमण को अपने से अधिक गुणवान अथवा समान गुणवान योग्य सहायक न मिले तो पापों से दूर रहता और काम विषयों में आसक्त न होता हुआ वह अकेला भी विचरे ॥१०॥

संवच्छरं वावि परं पमाणं बीयं च वासं न तहिं वसिज्जा।
सुत्तस्स मग्गेण चरिज्ज भिक्खू सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ॥११

अर्थ—जिस क्षेत्र में वर्षा चातुर्मास बिताया हो तथा जिस क्षेत्र में मास कल्प किया हो उसी क्षेत्र में भिक्षु को दूसरा वर्षा चातुर्मास तथा दूसरा मास कल्प नहीं करना चाहिए यदि खास कारण से वहां रहना पड़े तो स्थानादि परिवर्त्तन करके सूत्र के आदेशानुसार रहे ॥११॥

जैन श्रमण की उपधि

जिन काल में चतुर्दश पूर्वधरों के समय में जैन साधु का वेष जैसा होता था वैसा आज नहीं रहा। उस काल में दाण्डा के समय रजोहरण मुखवस्त्रिका, और चोलपट्टक (कटिपट्टक) ये उपकरण विशेष जाते थे, और इनमें से भी कटिपट्टक हर समय बंधा नहीं रहता था, जब कोई उनके स्थान पर गृहस्थ आता तब चोलपट्टक बांध लिया जाता था, बाकी नग्नभाग ढकने के लिये अगले भाग में एक वस्त्र खण्ड बांध लिया जाता था, जिसको अग्रावतार कहते थे। भिक्षा के लिये बस्ती में जाते समय भी चोलपट्टक कटि भाग

म नाध लते थे। इस प्रकार का वष विक्रम की प्रथम शताब्दी तक चला आया होगा, एसा मथुरा के जैन स्तूप में से निकली हुई आचार्य कृष्ण (कृष्ण) की प्रस्तर मूर्ति से ज्ञात होता है, यह मूर्ति अमावतार युक्त जाकी सारा शरीर खुला है। इसके अतिरिक्त शीतकाल में एक दो अथवा तीन ओढ़न योग्य वस्त्र भी रख जाते थे। जो श्रमण एक से निर्वाह कर सकता था, वह एक सूती पछेडी रखता था। जो एक से निर्वाह नहीं कर सकता था, वह दूसरा ऊनी कम्बल रखता था, और इन दो से भी जो अपने शरीर का शीतकाल में रक्षण नहीं कर पाता, वह दो सूती ओढ़ने योग्य वस्त्र और एक कम्बल इन तीन वस्त्रों को रख सकता था, और शीत काल के बीतने पर उन वस्त्रों का वे प्रायः त्याग देते थे। साधु के वष विषयक यह स्थिति विक्रम की प्रथम शताब्दी तक चलती रही, परन्तु बाद में धीरे धीरे जैन श्रमणों का निवास ग्राम नगरों में होने लगा और उनके मौलिक वेष ने भी पलटा खाया। प्रथम उन प्रत्येक श्रमणों के पास एक एक पात्र रहता था, शीतकालोपयोगी वस्त्र पास में रखने पर भी उष्ण तथा वर्षाऋतु में उन वस्त्रों से अपने शरीर को ढकते नहीं थे। विहार में वे कन्धे पर रहते रात को वे घास की पथारी पर सोते थे, परन्तु ग्रामवास होने और गृहस्थों का संसर्ग बढ़ने पर उनके उपकरणों में अनेक गुनी वृद्धि हो गई। पात्र जो पहिले प्रत्येक व्यक्ति के पास एक ही रहता था, अब एक मात्रक के नाम से अन्य पात्र भी आचार्य आर्य रक्षित सूरिजी ने बढ़ा दिया, झोली में पात्र रख कर भिक्षा लाने की प्रथा प्रचलित हुई और इस कारण पात्रक सम्बन्धी उपकरणों

म पथात् वृद्धि हुई । पच्छा जो पहले कन्धे पर पड़ा रहता था उसे छोड़ कर चलने का रिवाज चला गुरु भाग लाने के लिये अभावतार नामक रक्खा जाता था, उसको सदा के लिए हटाकर चोलपट्टक निरन्तर बांध रखने की पद्धति चली । अधिक उपधि के अतिरिक्त औपग्रहिक इस नाम से अन्य कितने ही उपकरण और बढ़ा दिये गये । इन सभी बातों का पता हमें निम्नाङ्कित गाथाओं से लगता है—

> दो पाया गुणराणा अतिरेग तइय च मात्थायों ।
> धारते पाणस्सडढण भार पडिलेह पडिमधों ॥२१३॥
> दिसज्जराम्मि णहिं दसपुर नयरमि उच्छु घर नाम ।
> गामागामठि गहि गुण निप्पाद बहु नाउ ॥२२२॥
> (व्यवहार भाष्य)

अर्थ—श्रमण को पात्र रखने की आज्ञा दी गई है इस मान से अधिक तीसरा पात्र रखने पर त्रस जीव विराधना भार, प्रतिलेखना, में काल व्यय आदि अनेक दोष होते हैं, द्वितीय पात्र की आज्ञा देने वाले आचार्य रक्षित का परिचय देते हुए भाष्यकार कहते हैं, दसपुर नगर के बाहर इक्षु घर नामक वाटिका में वर्षावासस्थित आर्य रक्षित सूरिजी ने अधिक गुण की प्राप्ति जानकर श्रमणों का द्वितीय पात्र रखने की आज्ञा दी ।

> अवहट भणिय पिसुए, किंची कालाइ कारणा विसय ।
> आइन ~~~, दीसइ सविग्ग गीयहि ॥१॥

म नाथ लेते थ। इस प्रकार का वेष विक्रम की प्रथम शताब्दी तक चला आया होगा, ऐसा मथुरा के जैन स्तूप में से निकली हुई आचार्य कृष्ण (कृष्ण) की प्रस्तर मूर्त्ति से ज्ञात होता है, वह मूर्त्ति अभावतार युक्त वाली सारा शरीर खुला है। इसके अतिरिक्त शीतकाल में एक दो अथवा तीन ओढ़न योग्य वस्त्र भी रख जाते थ। जो श्रमण एक से निर्वाह कर सकता था, वह एक सूती पछेड़ी रखता था। जो एक से निर्वाह नहीं कर सकता था, वह दूसरा ऊनी कम्बल रखता था, और इन दो से भी जो अपने शरीर का शीतकाल में रक्षण नहीं कर पाता, वह दो सूती ओढ़ने योग्य वस्त्र और एक कम्बल इन तीन वस्त्रों को रख सकता था, और शीत काल के बीतने पर उन वस्त्रों को वे प्राय त्याग देते थ। साधु के वेष विषयक यह स्थिति विक्रम की प्रथम शताब्दी तक चलती रही, पर तु बाद म धीरे धीरे जैन श्रमणों का निवास ग्राम नगरों में होने लगा और उनके मौलिक वेष न भी पलटा खाया। प्रथम उन प्रत्येक श्रमणों के पास एक एक पात्र रहता था, शीतकालोपयोगी वस्त्र पास म रखने पर भी उष्ण तथा वर्षाऋतु म उन वस्त्रों से वे शरीर को ढकते नहीं थे। विहार म व वृक्षों पर रहते रात को व घास की पथारी पर सोते थ, परन्तु ग्रामवास होने और गृहस्थों का समर्ग बढ़ने पर उनके उपकरणों म अनेक गुनी वृद्धि हो गई। पात्र जो पहिले प्रत्येक व्यक्ति के पास एक ही रहता था, अब एक मात्रक के नाम से अन्य पात्र भी आचार्य आर्य रक्षित सूरिजी ने बढ़ा दिया झोली म पात्र रख कर भिक्षा लाने की प्रथा प्रचलित हुई और इस कारण पात्रक सम्बन्धी उपकरणों

र्न पर्याप्त वृद्धि हुई। इपका जो पहले कन्धे पर पड़ा रहता था उसे ओढ़ कर चलने का रिवाज चला, गुह्य भाग ढकने के लिए अग्रावतार वस्त्र रक्खा जाता था उसकी सदा के लिए हटाकर चोलपट्टक निरन्तर बांध रखने की पद्धति चली। औधिक उपधि के अतिरिक्त औपग्रहिक नाम से अन्य कितने ही उपकरण और बढ़ा दिये गये। इन सभी बातों का पता हमें निम्नोक्त गाथाओं से लगता है—

> दो पाया गुरुणाया अतिरेग तइय न माणाओ।
> वारेत पाणकड्डण मार पडिलेह पडिमथो ॥२१२॥
> दिवज्जरक्खिय एहि दसपुर नयरमि उच्छु घर नाम।
> वासावासठि एहि गुण निप्पाम नइ नाउ ॥२२२॥
> (व्यवहार भाष्य)

अर्थ—श्रमण को पात्र रखने की आज्ञा नहीं है इस मान से अधिक तीसरा पात्र रखने पर त्रस जीव विराधना भार, प्रति लेखना, म काल व्यय आदि अनेक दोष होते हैं द्वितीय पात्र की आज्ञा इन बाते आचार्य रक्षित का परिचय देते हुए भाष्यकार कहते हैं, दसपुर नगर के बाहर इक्षु घर नामक वाटिका में वर्षा वासस्थित आर्य रक्षित सूरिजी ने अधिक गुणों की प्राप्ति जानकर श्रमणों का द्वितीय पात्र रखने की आज्ञा दी।

> अवग्गह भणिय विसुए, किची रालाइ कारणा निस्स।
> आइग्ग मवग्गह थिय, दीसइ सविग्ग गीरहि ॥१॥

म बाँध लेते थे। इस प्रकार का वेष विक्रम की प्रथम शताब्दी तक चला आया होगा, ऐसा मथुरा के जैन स्तूप में से निकली हुई आचार्य कृष्ण (कृष्ण) की प्रस्तर मूर्त्ति से ज्ञात होता है, वह मूर्त्ति अग्रावतार युक्त बाकी सारा शरीर खुला है। इसके अतिरिक्त शीतकाल में एक दो अथवा तीन ओढ़न योग्य वस्त्र भी रख जाते थे। जो श्रमण एक से निर्वाह कर सकता था, वह एक सूती पछेड़ी रखता था। जो एक से निर्वाह नहीं कर सकता था, वह दूसरा ऊनी कम्बल रखता था, और इन दो से भी जो अपने शरीर का शीतकाल में रक्षण नहीं कर पाता, वह दो सूती ओढ़ने योग्य वस्त्र और एक कम्बल इन तीन वस्त्रों को रख सकता था, और शीत काल के बीतने पर उन वस्त्रों का वे प्रायः त्याग देते थे। साधु के वेष विषयक यह स्थिति विक्रम की प्रथम शताब्दी तक चलती रही, परन्तु बाद में धीरे धीरे जैन श्रमणों का निवास ग्राम नगरों में होने लगा और उनके मौलिक वेष में भी पलटा आया। प्रथम उन प्रत्येक श्रमणों के पास एक एक पात्र रहता था, शीतकालोपयोगी वस्त्र पास में रखने पर भी उष्ण तथा वर्षाऋतु में उन वस्त्रों से वे शरीर को ढकते नहीं थे। विहार में वे कन्धे पर रहते रात को वे घास की पथारी पर सोते थे, परन्तु ग्रामवास होने और गृहस्थों का संसर्ग बढ़ने पर उनके उपकरणों में अनेक गुनी वृद्धि हो गई। पात्र जो पहिले प्रत्येक व्यक्ति के पास एक ही रहता था, अब एक मात्रक के नाम से अन्य पात्र भी आचार्य आर्य रक्षित सूरिजी ने बढ़ा दिया झोली में पात्र रख कर भिक्षा लाने की प्रथा प्रचलित हुई और इस कारण पात्रक सम्बन्धी उपकरणों

में पर्याप्त वृद्धि हुई। इसका जो पहले कन्धे पर पड़ा रहता था उसे ओढ़ कर चलने का रिवाज चला। गुह्य भाग ढांकने के लिये अग्रावतार वस्त्र रक्खा जाता था, उसका स्थान ले लिया और चोलपट्टक निरन्तर साथ रखने की पद्धति चली। औधिक उपधि के अतिरिक्त औपग्रहिक इस नाम से अन्य कितने ही उपकरण और बढ़ा दिये गये। इन सभी बातों का पता हमें निम्नाङ्कित गाथाओं से लगता है—

> दो पाया णुण्णाया अतिरेग तइय च माणायें।
> वारत पाणस्स डढण भार पडिलेह पडिमंथो ॥२१३॥
> दिब्वज्जरक्खि एहिं दसपुर नयरम्मि उच्छु घर नाम।
> गमागमठि एहिं गुण निप्फत्ति बहु नाउ ॥२२२॥
>
> (व्यवहार भाष्य)

अर्थ—श्रमण को पात्र रखने की आज्ञा दी गई है उस मान से अधिक तीसरा पात्र रखने पर त्रस जीव विराधना, भार, प्रतिलेखना, सूत्र काल व्यय आदि अनेक दोष होते हैं, द्वितीय पात्र की आज्ञा देने वाले आचार्य रक्षित का परिचय देते हुए भाष्यकार कहते हैं, दशपुर नगर के बाहर इक्षु घर नामक वाटिका में वर्षावासस्थित आर्य रक्षित सूरिजी ने अधिक गुणों की प्राप्ति जानकर श्रमणों को द्वितीय पात्र रखने की आज्ञा दी।

[1] अनह भणिय पिसुए, किंची गलाइ कारणा विक्स्स।
आइन्न मन्नइ चिय, दीसइ संविग्ग गीएहिं ॥१॥

कप्पाण पावरण अग्गो अर, चाओ भोलिया भिक्खा ।
उवग्गहिय कडाहय, तुम्बय मुह दाण दोगाई ॥२॥

अर्थ—सूत्र अन्य प्रकार से कथन करने पर भी संविग्न गीतार्थों ने काल आदि की अपेक्षा से कुछ बातों का अन्य प्रकार से आचरण की है। जैसे वस्त्रों का आवरण ओढना, अग्रावतार (गुह्य भाग पर रहने वाला वस्त्र खण्ड) का त्याग झोली में पात्र रखकर भिक्षा लाना, औपग्रहिक उपकरणों का रखना, कटाहक (भिक्षक) में बचा हुआ भोजन रखना, तुम्बक अगर लकड़े के द्रव्य ग्रहण योग्य भाजन (तर्पणी घड़ा आदि) के मुख भाग में डोरा देना इत्यादि अनेक आचरणाय संविग्न गीतार्थों ने देश काल का लक्ष्य में लेकर की है।

ओघोपधि

मौलिक उपकरणों में वृद्धि होते होते अन्त में जो ओघोपधि निश्चित हुई थी। उसका वर्णन इस प्रकार है—

पत्त पत्ताबंधो पायट्ठवण, च पाय केसरिया ।
पडलाइ रयत्ताण, गुच्छओ पाय निज्जोगो ॥४६२॥
तिन्नेव य पच्छागा, रयहरण चेव होइ मुहपत्ती ।
एसो दुवालस विहो उवहि जिनकप्पियाण तु ॥४६३॥

अर्थ—पात्र १, पात्रब ध २, पात्रस्थापनक ३, पात्रकेसरिया ४, (पात्र प्रमार्जनी) पटलेह ५, रजस्त्राण ६, गुच्छक ७, (गुच्छा)

यह पात्र सम्बन्धी उपकरण समुदाय है। तीन ओढ़ने के वस्त्र ८, ९, १०, दो सूती, एक ऊनी, रजोहरण ११, और मुखवस्त्रिका १२ यह उपधि पात्र भोजी और तीन वस्त्रधारी जिन कल्पिक श्रमणों का है।

जिन कल्पिक श्रमणों का द्वैविध्य

जिण कप्पिया वि दुविहा, पाणिपाया पडिग्गहधराय।
पाउरण मपाउरणा, एक्कका ते भवे दुविहा ॥४६४॥
दुग तिग चउक्क पणग, दस एक्कारसेव बारसग।
ए ए अट्ठ वियप्पा, जिण कप्प हुति उवहिस्स ॥४६५॥

अर्थ—जिन कल्पिक श्रमण दो प्रकार के होते हैं। एक हस्त भोजी दूसर पात्रधारी, इन प्रत्येक के दो दो भेद होते हैं प्रावरक (वस्त्र ओढ़ने वाले) दूसरे वस्त्र हीन। जिन-कल्पियों के पाणिपात्रादि भेद से उनकी उपधि के कुल आठ भेद पड़ते हैं। दो प्रकार की, तीन प्रकार की, चार प्रकार की, और पांच प्रकार की, ऐसे पाणिपात्र जिन कल्पिक श्रमणों की उपधि के चार भेद होते हैं। इसी प्रकार पात्रधारी जिन कल्पिकों की उपधि भी चार प्रकार की होती है नवविध, दशविध, एकादश विध और द्वादश विध जिसका वर्णन नीचे की गाथाओं में दिया जाता है।

पुत्तियरयहरणेहिं, दुविहो तिविहो य एक्ककप्पजुओ।
चउहा कप्प दुगेण, कप्पतिगेण तु पंचविहो ॥४६६॥
दुविहो तिविहो ... पच विहोऽविदूस पाय निज्जोगो।

नायइ नग्ग्हा दमहा, एक्कारसहा न्गालसहा ॥४९७॥

अथ —जो जिन कल्पिक हस्त भोजी और वस्त्रहीन होता है, उसकी उपधि रजोहरण, मुख वस्त्रिका रूप द्विविध होती है। जो जिन कल्पिक पाणिपात्र होते हुए भी एक प्रावरण रखता है, उसकी उपधि त्रिविध होती है। जो पाणिपात्र श्रमण दो प्रावरण रखता है उसकी उपधि चतुर्विध, और जो पाणिपात्र श्रमण तीन कल्प (प्रावरण) रखता है, उसकी उपधि पंचविध होती है। इसी प्रकार पात्रधारी जिन कल्पिक की पात्र सम्बन्धी उपधि के सात प्रकार तथा रजोहरण मुख वस्त्रिका मिलने से पात्रधारी की उपधि के नव प्रकार होते हैं। और तीन प्रावरण रखने से ग्यारह और तीन प्रावरणों के रखने से पात्रधारी जिन कल्पिक की उपधि बारह प्रकार की बनती है।

स्थविर कल्पिक की उपधि

एए चेव दुवालस मत्तग, अइरेग चोल पट्टो उ।
एसो चउदस रूवो उवही पुण थेर कप्पंमि ॥४००॥

अथ —उपर्युक्त जिन कल्पिकों के बारह प्रकार की उपधि में चोलपट्टक और मात्रक (द्वितीय पात्र) दो उपकरण मिलने से स्थविर कल्पिकों की चौदह प्रकार की उपधि बनती है। इन चौदह उपकरणों के उपरान्त सस्तारक, उत्तर पट्टक आदि अन्य उपकरणों को भी जैन श्रमण आजकल काम लेते हैं, जिनको औपग्रहिक उपकरण कहा जाता है।

औधिक औपग्रहिक उपधि का लक्षण

ओहेण जस्स गहण, भोगो पुण कारणा स ओ होहि ।
जस्स उ दुगपि निअमा कारणओ सो उग्गहिओ ।८३८।

अर्थ—जिसका ग्रहण सामान्य रूप से होता है, और कारण आने पर उपभोग होता है, उसको ओघोपधि कहते है, और जिन उपकरणों का ग्रहण तथा उपभोग कारण-सद्भाव में होता है, उनका नाम औपग्रहिक है।

दशविध श्रमण धर्म

समवायाङ्ग सूत्र में श्रमण धर्म के नीचे लिखे अनुसार दश प्रकार बताये हैं।

"दस विहे समण धम्म पन्नत्ते त जहा-खत्ती मुत्ती अज्जव, मद्दवे लाघव, सच्चे, सजमे, तवे, चियाए बभचेरवासे।

'समवायाङ्ग सूत्र' ० २२

अर्थ—दश प्रकार का श्रमण धर्म कहा है। वह इस प्रकार—

क्षान्ति १ (क्षमा) मुक्ति २, (निर्लोभता) आर्जव ३, सरलता मार्दव ४ (कोमलता) लाघव ५, (अकिंचनता) सत्य ६, सयम ७, तप ८, त्याग ९, ब्रह्मचर्य १०।

प्रत्येक जैन श्रमण को जीवन पर्यन्त उपर्युक्त दशविध श्रमण धर्म का पालन करना होता है। इसके उपरान्त श्रमण को निम्न लिखित सत्ताइस [illegible] होते हैं।

सत्ताईस श्रमणगुण

सत्तावीस अणगार गुणा पन्नत्ता, त जहा —

पाणाई वायाओ वेरमण १। मुसा वायाओ वेरमण २। अदिन्ना दाणाओ वेरमण ३। मेहुणाओ वेरमण ४। परिग्गहाओ वेरमण ५। सोइंदिय निग्गह ६। चक्खिंदिय निग्गहे ७। घाणिंदिय निग्गहे ८। जिब्भिदिय निग्गहे ९। फासिंदिय निग्गहे १०। कोह विवेगे ११। माण विवेगे १२। माया विवेगे १३। लोभ विवेगे १४। भाव सच्चे १५। करण सच्चे १६। जोग सच्चे १७। खमा १८। विरागया १९। मण समाहरणया २०। वय समाहरणया २१। काय समाहरणया २२। णाण सपण्णया २३। दसण सपण्णया २४। चरित्त सपण्णया २५। वेयण अहियासणया २६। मारणतिय अहियासणया २७।

"समवायाङ्ग सूत्र" पृ ११७

अर्थ —सत्ताईस गृहत्यागी साधु के गुण कहे हैं। वे इस प्रकार हैं —

जीवों के प्राण लेने से दूर रहना। झूठ बोलने से दूर रहना। अदत्तादान (न दिये हुये अन्य स्वामिक पदार्थ का लेने से दूर रहना) मैथुन भाव (विषयासक्ति) से दूर रहना। परिग्रह (सयम के उपकरणों के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का सग्रह करने) से दूर रहना। श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह (कर्णेन्द्रिय के विषयों का जीतना) चक्षु रिन्द्रिय निग्रह (आखों के विषयों का जीतना। घ्राणेन्द्रिय

(नासिका इन्द्रिय) के विषयों का निग्रह करना। जिह्वेन्द्रिय (जीभ) के विषयों को जीतना। स्पर्शेन्द्रिय (त्वगिन्द्रिय) के विषयों का निग्रह करना। क्रोध का त्याग करना। मान का त्याग करना। कपट का त्याग करना। लोभ का त्याग करना। भाव सत्य (सच्चे भाव से विधयानुष्ठान करना) करण सत्य (करने कराने अनुमोदन करने में सचाई का आश्रय लेना) योग सत्य (मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्ति सचाई से करना) क्षमा (क्रोध को दबाने वाला परिणाम) विरागता (वैराग्य) मन समाहरणता (मनको अपने काबू में रखना) वच समाहरणता (वचन को काबू में रखना) काय समाहरणता (शरीर को काबू में रखना) ज्ञान सम्पन्नता (ज्ञानवान् बनना) दर्शन सम्पन्नता (श्रद्धावान् बनना) चारित्र सम्पन्नता (शुभात्म परिणामवान बनना) वेदना ध्यानता (शारीरिक मानसिक पीड़ाओं को सहन करने की क्षमता रखना) मारणान्तिकाध्यानता (मरणान्त तक कष्ट को समभाव से सहन करना)

जैन श्रमणों की भिक्षाचर्या

पिण्डैषणा

जैन श्रमणों की भिक्षाचर्या माधुकरी वृत्ति से होती है। वे भोजन पानी वस्त्र पात्र आदि अपने उपभोग की चीज यदि अपने उद्देश्य से बनाई गई हो तो उसे ग्रहण नहीं करते, मकान तक उनके उद्देश्य से बनाया गया हो तो उसमें वे कभी नहीं ठहरेंगे। निमन्त्रित भो ... अथवा एकान्त या व स्वीकार नहीं करते।

""मत्त्र से जाइय हीइ नत्थि किंचि अनाइय"

इस नियमानुसार अपने काम की कोई भी चीज गृहस्थों से मांग कर ही प्राप्त करते हैं।

भिक्षाकुल

निर्ग्रन्थ श्रमणों की भिक्षा के लिये भी कुल नियत किये गये हैं। वे उ ही कुलों मे भिक्षा ग्रहण करते है, जो व्यवहार दृष्टि से शुद्ध माने जाते हैं। चाण्डालादि पञ्चम जाति के लोगों के घर भिक्षा ग्रहण करना प्रतिषिद्ध है। किन किन जाति तथा कुलों के यहाँ भिक्षा के लिये जाना चाहिये। इसकी नामावली आचाराङ्ग सूत्र म निम्न प्रकार से सूचित की है।

"से भिक्खू वा भिक्खूणी वा गाहावइ कुलाइ पिण्डवाय पडियाये अणुपविट्टे समाणे सेज्जाइ जाणिज्जा, तं जहा—उग्ग कुलाणि वा, भोग कुलाणि वा, राइनकुलाणि वा, खत्तिय कुलाणि वा, इक्खाग कुलाणि वा, हरिवंस कुलाणि वा, एसियकुलाणि वा, वेसिय कुलाणि वा, गड कुलाणि वा, कुट्टागकुलाणि वा, गाम-रक्खकुलाणि वा, सोकसालिय कुलाणि वा, अन्नतरसु वा तहप्प गारसु कुलसु अदगु च्छियसु, अगरहेसु असण वा, पाण वा, खाइमवा, साइमवा फासुए जाव पडिगाहेज्जा।

पिण्डैपणाध्याय द्वितीय उद्देश०"

अर्थ—वह निर्ग्रन्थ भिक्षु अथवा निर्ग्रन्थ भिक्षुणी भिक्षान्न के लिये गृहस्थ कुलों में प्रवेश करते हुए इन कुलों की जाच कर।

वे ये हैं—उग्रकुल, भोगकुल, राजन्य कुल, क्षत्रियकुल, इक्ष्वाकुकुल, हरिवंशकुल, ऐसिक (गोप) कुल, वैश्यकुल गंड (नापित) कुल, (सुथार) कुल, ग्रामरक्ष (कोतवाल) कुल शौल्कशाला शालिक (आयात निर्यातमाल पर राजकोष नियत कर लेने वाले का) कुल, इसी प्रकार के अन्य या ये अनिन्दनीय अगर्हणीय कुलों में अशन (खाद्य) पान (जल) खादिम-फल मेवादि स्वादिम (चूर्ण मुखवास आदि स्वादिष्ट द्रव्य) जो प्रासुक कल्पनीय मिलें उसे ग्रहण करें।

भिक्षा में अग्राह्य पदार्थ

यों तो गृहस्थ लोग अपने लिये अनेक खाद्य पदार्थ तैयार करते हैं, परन्तु वे सभी श्रमणों के लिये ग्राह्य नहीं होते। श्रमण प्रासुक एषणीय और कल्पनीय को ही स्वीकार करते हैं। बहुतेरे ऐसे खाद्य पदार्थ गृहस्थों के यहां तैयार होते हैं और उन्हें ग्रहण करने के लिये प्रार्थना भी करते हैं परन्तु जैन श्रमण अपने आचार से विरुद्ध किसी चीज का स्वीकार नहीं करते। इस बात के समर्थन में हम नीचे दशवैकालिक की कुछ गाथायें उद्धृत करते हैं।

> कन्द मूलं पलंबं वा, आमं छिन्नं व सन्निरम् ।
> तुंबागं सिंगबेरं च, आमगं परिवज्जए ॥ ७० ॥
> तहेव सत्तुचुन्नाइं, कोलचुन्नाइं आवणे ।
> सक्कुलिं फाणियं पूयं, अन्नं वा वि तहाविहं ॥ ७१ ॥
> विक्कायमाणं पसढं, रएण परिफासियं ।
> दितियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७२ ॥

नहु अट्ठिय पुग्गल अणिमिस वा बहु कंटयं ।
अच्छिय तिंदुय बिल्लं उच्छु खंडव सिंबलि ॥ ७३ ॥
अप्प सिया भोयणज्जाए, बहु उज्झय धम्मियं ।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७४ ॥

"दशवै० पिण्डै० प० १६४ पृ – प्रमोदेश"

अर्थ — काटा हुआ सचित्त कन्द, मूल फल और पत्र शाक तुम्बाक, छिलका तथा मन्ना के भीतर का सचित्त गूदा और सचित्त अदरख इन सबको वर्जित करें। इसी प्रकार सत्तु का चूर्ण, बेर का चूर्ण, शष्कुली (रसभरी पूड़ी) राब, अपूप, अथवा उस प्रकार का कोई भी अन्न जो हाथ में लेने से बिखरता हो, शिथिल बन गया हो तथा धूल से मिला हुआ खाद्य इस प्रकार के भोज्य पदार्थों को देती हुई गृह स्वामिनी को श्रमण कहे कि, इस प्रकार का भोजन मुझे नहीं कल्पता। प्रचुर बीज-गुठली वाला फल मेवा का गूदा अनेक काटों से भरा बसन का मत्स्य, अस्थिक तिन्दुक, बिल्व आदि फल, गन्ने का खण्ड और अप्रासुक कच्ची फलियां और ऐसा पदार्थ जिस में भोजन का अंश कम और फेंक देने का कचरा बहुत हो तथा जो पदार्थ फेंक देने योग्य हो उसे देती हुई गृहस्वामिनी को साधु कहे इस प्रकार का भोजन मुझे नहीं चाहिए।

तत्थ से भुंजमाणस्स, अट्ठिय कंटओ सिया ।
तण कट्ठ सक्करं वा वि अन्नं वा वि तहा विहं ॥ ८४ ॥

नहु यट्ठिय पुग्गल अणिमिम वा बहु कटय ।
अन्थिय तिंदुय बिल्ल उच्छु खडब सिंबलि ॥ ७३ ॥
अप्पे सिया भोयणजाए, बहु उज्भुय धम्मिय ।
दितियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७४ ॥

"दशवै० पिण्डै० प० १५५ प्र ७ प्रमोद्देश"

अर्थ — काटा हुआ सचित्त क न्, मूल फल और पत्र शाक तुम्बाक, छिलका त था मज्जा के भीतर का सचित्त गूदा और सचित्त अदरख इन सबका वर्जित करें । इसी प्रकार सक्तु का चूर्ण, बेर का चूर्ण, शष्कुली (रसभरी पूड़ी) राब, अपूप, अथवा इस प्रकार का कोई भी अन्न जो हाथ में लेने से, बिखरता हो, शिथिल बन गया हो तथा धूल से मिला हुआ खाद्य इस प्रकार के भोज्य पदार्थों को देती हुई गृह स्वामिनी को श्रमण कहे कि, इस प्रकार का भोजन मुझे नहीं कल्पता । प्रचुर बीज-गुठली वाला फल मेवा का गूदा अनेक काटो से भरा बसन का मत्स्य, अस्थिक तिन्दुक, बिल्व आदि फल, गन्ने का खण्ड और अप्रासुक कच्ची फलिया और ऐसा पदार्थ जिस में भोजन का अश कम और फेंक देने का कचरा बहुत हो तथा जो पदार्थ फेंक देने योग्य हो उसे देती हुई गृहस्वामिनी को साधु कहे इस प्रकार का भोजन मुझे नहीं चाहिए ।

तत्थ से भुजमाणस्स, अट्ठिय कटओ सिया ।
तण कट्ठ सक्कर वा वि अन्न वा वि तहा विह ॥ ८४ ॥

अरस विरस वावि, सुइय वा असुइय।
उल्ल वा जइ वा सुक, मथु कुम्मास भोयण ॥८५॥
उप्पएणं नाइ हिलिज्जा, अप्प वा बहु फासुय।
मुहा लद्ध मुहाजीवी, भु जिज्जा, दोस वज्जिय ॥८६॥

अर्थ—अपने स्थान पर निमक भोजन करते हुए श्रमण के उस भिक्षा भोजन मे से अस्थि (फल की गुठली) काँटा, तिनका छिलका शकरा (रता) अथवा इसी प्रकार का अन्य कोई कूड़ा करकट निकले तो उस पात्र से बाहर एकान्त मे रख दे और स्वाद हीन, अथवा अनिष्ट स्वादवाला, शुचि (ताजा) अशुचि (बासी) गीला अथवा सूखा मथु (बेर का चूरा-सत्तू) कुल्माष भोजन (उड़द आदि का भोजन) मिलने पर उसकी निन्दा न करे, चाहे वह प्रमाण मे थोड़ा ही हो, परन्तु जो प्रासुक और अनायास मिला है, उस सुधालब्ध आहार को सुधाजीवी (किसी का भार रूप न बनकर अपना जीवन निर्वाह करने वाला) साधु अपने भोजन के काम में ले।

भिक्षा मे ग्राह्य द्रव्य

जैन श्रमण गृहस्थों के यहाँ स्वाभाविक रूप से बने हुए शुद्ध निरामिष खाद्य पदार्थों को अपने योग्य होने पर ही स्वय अथवा गृहस्वामिनी के हाथ मे ले लेते है। इन स्वाभाविक निर्दोष मे भी जघन्य, मध्यम, और उत्कृष्ट एक अन्य विभाग किये जाते थे। जघन्य भिक्षान्न मे अन्नमूल द्रव्य होते थे, जो

अन्त प्रान्त आहार कहलाता था। इस का निर्देश निम्नोद्धृत रूप भाष्य की गाथा में किया है।

निप्फाव-चणक माई अंत पंत तु वावएण।
नेह रहिय तु लूह, ज वा अवल समावेण ॥ १३६३ ॥

पृ० ११४

अर्थ—वाल और चना आदि अन्ताहार कहलाता है, और बिल्कुल रस हीन आहार प्रान्त नाम से व्यवहृत है। जो बिल्कुल स्नेह हीन हो उसे रूक्षाहार कहते हैं अथवा जो द्रव्य स्वभाव से ही निर्बल होता है उसे भी अन्त प्रान्ताहार कहते हैं। यह जघन्य प्रकार का आहार तरुण साधुओं के लिये खास हित कर माना है, और कहा गया है जहाँ तक हो सके युवक श्रमण इसी प्रकार के आहार से अपना निर्वाह करें।

मध्यमान्न—शाक, रोटी, पूड़ी, दाल, भात, आदि जो हमेशा का खाना है उसे सामान्य रूप में सर्व श्रमणों के लिये उपादेय माना है।

उत्कृष्टाहार—जो प्रणीताहार के नाम से प्रसिद्ध है इसमें दूध, दही, घी, गुड़ तेल और सभी प्रकार के पक्वान्न आदि विकृतियों का समावेश होता है। यह विकृत्यात्मक भोजन सामान्य रूप से जैन श्रमणों के लिये वर्जित किया है, फिर भी देश काल अधिकारी विशेष का विचार करके इस प्रणीत आहार को ग्रहण करने का विधान भी किया गया है। जो नीचे के विवेचन से स्पष्ट होगा।

श्रावक दूध, दही, घृत आदि प्रशस्त विकृतिया ग्रहण करने के लिये आग्रह पूर्वक निमन्त्रण करते हो तो प्रशस्त विकृतियों का ग्रहण करे।

साधु को कारण विशेष से शुभ विकृतिया ग्रहण करने की आज्ञा है, परन्तु निन्दित विकृतिया (मधु मास मदिरा) खास कारण से ही ग्रहण की जाय। जो शारीरिक बाह्य रोगों पर औषध के रूप मे बरती जाती हो।

तब गृहस्थों के आग्रह से भी जो विकृतिया दूध, दही और पकान्न आदि असचयिक है, उन्हे ग्रहण करें, परन्तु सचयिक विकृतिया को न लें। घृत तेल मक्खन आदि पथ्य विकृतिया हैं, उनको न ले, क्योंकि उनका क्षय हो जाने पर आवश्यकता के समय इनकी प्राप्ति दुर्लभ हो जायगी, इस कारण से उक्त सचयिक विकृतिया को न लेना चाहिए। यदि श्रद्धावान् गृहस्थ उनके लिये बहुत ही आग्रह करें, तो उनको कहना चाहिए कि जब इन विकृति द्रव्यों की आवश्यकता होगी तब इन्हे लेंगे। बाल, ग्लान, (बीमार) वृद्ध और शैक्ष (ज्ञानाभ्यासी तथा आचार मार्ग की शिक्षा प्राप्त करने वाला साधु) आदि के लिये इन विकृतियों की बहुत आवश्यकता होती रहती है, और अभी समय बहुत पड़ा है। उस समय श्रावक उसे कहे आप चारों महीना इन्हे ग्रहण करेंगे, तब भी ये समाप्त न होगी, तब विकृतिया की बहुलता और देने वाले का आग्रह जानकर इन द्रव्यों को ग्रहण करे। इस प्रकार सचयिक विकृतिया भी यतना से ग्रहण की जाती है। जिस प्रकार उन

श्रावक की भावना बने, उस प्रकार उनके परिणाम की धारा पूरी होने के पहले ही साधु कह दें बस रक्खो। बहुत हो गया। इस प्रकार यतना पूर्वक लाया हुआ विकृत्यात्मक भाजन वृद्ध बाल और रुग्णादि साधुओं को दिया जाता है, युवान साधुओं को नहीं दिया जाता, परन्तु कारण विशेष की उपस्थिति में उनको भी दिया जाता है। इस प्रकार प्रशस्त विकृति ग्रहण की जाती है।

विकृति ग्रहण और उसके विभाजन के सम्बन्ध में निशीथ चूर्णी में नीचे मुजब व्यवस्था दी गई है—

तथा संचइयमसंचय नाउण असंचय तु गिरहति ।
संचइय पुण कज्जे निब्बन्ध चेव संचइम ॥१॥
घयगुलमोदगा दिज्जे, अविणासी त संचइया ।
खीर दहि माइया, विणासी जेत असंचइया ।
अहवन सड्ढा विभव काल भाव च बाल वुड्ढाओ ।
नाओ निरन्तर गहण अछिन्नभावय ठायति ॥२॥

सावयाण सड्ढ नाउण विउल च विहव नाउ काल च दुब्भिक्खादि इय भाव च बाल वुड्ढाणय अप्पायणट्ठा एव माइक जे नाउण निरन्तर गएहति। जावय तस्स दायगस्स भावा नवोच्छिज्जइ, ताव दिज्जमाण धारयति। (नि० चू० उ० ४)

अर्थ—विकृति दो प्रकार की होती है—१ संचयिक, २ असंचयिक, इन दो प्रकारों को समझ कर असंचयिक को ग्रहण करते हैं, और संचयिक को कार्य उपस्थित होने पर ग्रहण करते हैं।

यदि श्रावकों का अत्याग्रह हो तो एकादि दिन के अन्तर से सचयिक का भी ग्रहण कर सकते हैं।

घृत गुड, लड्डू आदि द्रव्य जो जल्दी नहीं बिगडते हैं, उन्हें सचयिक विकृति कहते हैं, और दूध दही आदि जो जल्दी बिगड़ जाने वाले द्रव्य हैं वे असचयिक कहलाते हैं।

अथवा श्रद्धा तथा विभव और काल, भाव, वृद्ध आदि का विचार कर सचयिक विकृति को भी निरंतर ग्रहण कर सकते हैं, परन्तु देने वाले की परिणामधारा खण्डित होने से पहले ही लेना स्थगित कर दे।

श्रावकों की श्रद्धा तथा विभव को जान कर दुर्भिक्षादि काल, बाल, वृद्ध आदि भाव विचार कर उनके तृप्त्यर्थ इत्यादि कार्यों को जानकर सचयिक विकृति को भी निरन्तर ग्रहण करते हैं, दायक के परिणाम की धारा विच्छिन्न न हो, उससे पहले ही देने से रोक दे।

श्रमणों के लिए विकृति ग्रहण के विषय में व्यवस्था

वासावास पज्जोस वियाण नो कप्पइ निग्ग थाण वा निग्गथीण वा हट्ठाण तुट्ठाण आरोगाण बलिय सरीराण इमाओ नव रस विगईओ अभिक्खण आहारित्तए। त जहा—खीर १, दहिं २, नवणीय ३, सप्पि ४, तिल्ल ५, गुड ६ महु ७, मज्ज ८, मस ९, ॥ १७ ॥

(चुल्लकप्प सूत्रे पृ० ७०)

अथ—वर्षावास की स्थिरता किये हुए निग्रन्थ और निर्ग्रन्थ
निया जिनके मन प्रसन्न हैं, शरीर तन्दुरुस्त तथा बलिष्ठ हैं, उनको
ये नव रस विकृतियां बार बार खाना नहीं कल्पता। जैसे—दूध,
दही, मक्खन, घी, तेल, गुड, मधु, मद्य, मास।

साधु अपने आज्ञाकारक के आज्ञा के बिना विकृति भोजन
नहीं कर सकता।

वासावास पज्जोस विये भिक्खू इच्छिज्जा अण्णयरिं विग
आहारित्तए नो से कप्प स अणा पुच्छित्ता आयरिय वा उवज्झाय
वा थर पवित्ति गणि गणहर गणावच्छेयय वा अयण वा जपुरओ
कट्टु विहरइ कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरिय वा उवज्झाय वा थेर
पवित्ति गणि गणहर गणावच्छेय या जवा पुरओ काउ विहरइ
आहारित्तए इच्छामिण भत। तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे
अन्नयरिं विगइ आहारित्तए त एव इय वा एव इक्खुत्तो तेय से
वियरिज्जा एव से कप्पइ अण्णयरिं विगइ आहारित्तए तेय से ना
वियरिज्जा एव सेनो कप्पइ अण्णयरिं विगइ आहारित्तए से
किमाहु भते। आयरिया पच्चाय जाणति।

(कल्प सूत्र पृ० ७८)

अर्थ—वर्षावास स्थित भिक्षु किसी विकृति विशेष को भोजना
क साथ लेना चाहे तो वह आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक
गणी, गणधर, गणावच्छेदक, अथवा जिसको वह अपना नायक
बना कर विचरता है, उसको पूछे बिना विकृति नहीं खा सकता,
पहले वह अपने नेता की इस प्रकार आज्ञा ले—हे भगवान्।

आपकी आज्ञा प्राप्त करके मैं अमुक प्रकार का विकृति भोजन करना चाहता हूँ इतने प्रमाण मे और इतनी बार। इस पर यदि उसका नायक आज्ञा दे तो वह विकृति का आहार कर सकता है। इस पर शिष्य पूछता है। भगवन ! इसका क्या कारण है कि आचार्य की आज्ञा से ही विकृति ली जाय। गुरु कहते हैं, आचार्य हानि जानने वाले होते हैं।

जैन श्रमणों का भोजन प्रकार

जैन श्रमण यथालब्ध शुद्ध आहार को लेकर एकान्त में बैठ कर भोजन करते हैं। भोजन करते समय आहार करने के छः कारणों का विचार करते हैं। मैं किस कारण से भोजन करता हूं, छः कारणों में से किस कारण से मैं तप न कर भोजन करने के लिये बाध्य हो रहा हूँ। यदि छः कारणों में से कोई भी कारण न हो तो साधु को उस दिन भोजन के लिये प्रवृत्ति ही न करना चाहिए, अथवा आहार लाने के बाद भी कारणाभाव में आहार अन्य साधुओं को देकर स्वयं उपवास करले।

जैन श्रमणों का आहार करने के छः कारण नीचे मुजब बताये हैं।

वेअण वेया वच्चे, इरि अट्ठाए अ संयमट्ठाए।
तह पाणवत्तिआए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए ॥३६५॥

अर्थ—आहार के बिना जो शारीरिक कष्ट उत्पन्न होता है उसको रोकने के लिये साधु आहार करता है। आचार्य, बाल,

ज नाणेज्ज चिराधोय मईए दसणेण वा।
पडि पुच्छि उण सुचावा, ज च निस्स कि भव ॥७६॥
अजीव परिणय नचा, पडिगाहिज्ज सजए।
अह सकिय भविज्जाहि, आसा इत्ताण रोयए ॥७७॥
थोव मासाय णट्ठाए, हत्थगमि दलाहि म।
मामे अच तिल पूय, नाल तण्ह विणिचए ॥७८॥

अर्थ—तथा अधिर और अल्प द्रव्यान्तर सयुक्त पानी अथवा वारक (गुड़ का घड़ा) धोकर वर्तन म रक्खा हुआ, जल, पिष्ट से लिप्त वर्त्तन धावन जल, और चावल धावन जल, य सभी प्रकार के पानी यदि तत्काल तैयार किय हुए हो ता साधु को न लेना चाहिए। अपनी बुद्धि से अथवा उसके दर्शन से यदि मालुम हो कि यह पानी बहुत समय पहल वर्त्तनादि धोकर रक्खा हुआ है, तथा पूछने और देने वाल क मुख से सुनने से नि शकित हो गया हो कि यह निर्जीव और परिणत हो गया है, तब सयत उसे ग्रहण करे। यदि धावन जल में किसी प्रकार की शङ्का रहती हो, तो उसे चख कर निर्णय करे, दायक को कहे थोड़ा सा जल मेरे हाथ मे दो, मैं चख कर लेने का निर्णय करूगा। ऐसा न हो कि जल अतिखट्टा, दुर्गन्ध और तृष्णा को दूर करने में समर्थ न हो।

आचाराङ्ग सूत्र म श्रमणो के लेने योग्य धावन जलों की तीन सूचियां दी गई हैं। जो क्रमश नीचे दी जाती हैं—

१ से भिक्खू वा २ से जपुण पाणगजाय जाणिज्जा। त जहा—उस्सेइम १ वा, ससे इम २ वा, चाउलोदग ३ वा, अन्नयर वा

समणा ! तुम चरय पाएगनाय पडिग्गहण वा उसिंम विचात उपत्तियाण गिरहाहि, तहप्पगार पाण गजाय सय वा गिरिहज्जा परो वा से दिज्जा, फासुय लाभे सत पडिगाहिज्जा (सूत्र ४१)

(आचाराङ्ग श्रुत स्कन्ध २ अ० ३६)

अर्थ—वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी पानी के इन भेदों को जाने, वह इस प्रकार तिलोदक (तिलों का सन्धान जल) तुषोदक[१] (तुषा का सन्धान जल) यवोदक[२] (यवों का सन्धान जल) आयाम (अन्न स्रावण जल) सौवीर[३] (कञ्जी यव तथा गेहूँ के सन्धान से बनाया गया जल) शुद्ध गरम जल, इस प्रकार का अथवा अन्य प्रकार का सन्धान जल देखकर दायक को कहे, आयुष्मन् ! अथवा बहिन ! इनमें से अमुक प्रकार का पानी हमें दोगे ? इस प्रकार कहते हुए श्रमण को यह उत्तर दे कि हे आयुष्मन् श्रमण ! तुम खुद ही अपने पात्र द्वारा इस जल को उलीच कर भर लो, इस पर श्रमण स्वयं उस प्रकार के जल को अपने पात्र में ले अथवा अन्य गृहस्थ द्वारा ग्रहण करे, प्रासुक मिलता हो तब तक उसी को ग्रहण करे।

टिप्पणी—१ २ ३

सौवीरक सुवीराम्ल, यवो च गोधूम सम्भवम् ।
यवाम्लन्त तुषोत्थ च, तुषोदकञ्चापि कीर्तितम् ॥

अर्थ—सौवीर अथवा सुवीराम्ल यवों के अथवा गेहूओं के सन्धान से बनाया जाता है और यवोदक तथा तुषाम्ल क्रमश यवों के और उनके छिलके के सन्धान से बनाया जाता है।

१ ऊपर लिखे अनुसार शालिग्राम निघण्टु भूषण म सौवार यवाम्ल और गोधूमाम्ल का वर्णन बताया है।

भाव प्रकाश निघण्टु म सौवार का बनावट और उसके गुणों का निरूपण कराया गया है—

> सौवीर तु यवैरामै पक्वैर्वा निस्तुषै कृतं ।
> गोधूमैरपि सौवीरमाचार्याः कथिदूचिरे ॥८॥
> सौवीर तु ग्रहण्यर्शः कफघ्नं भेदि दीपनम् ।
> उदावर्ताङ्गमर्दास्थिशूलानाहेषु शस्यते ॥ ६ ॥

अर्थ—सौवार छील हुए कच्चे अथवा पक्के यवा स बनाया जाता है, कितने आचार्य गोधूमा स भी सौवीर बनाने की बात कहते हैं।

सौवार सग्रहणी अर्श और कफ का नाश करने वाला है, दस्तावर और जठराग्नि को दीप्त करने वाला है उदावर्त (आतों की वायु का ऊपर चढ़ना) अंगमर्द (शरीर का टूटना) अस्थि शूल (हड्डियों म तीव्र पीडा) होना और आनाह (अफरा चढ़ना) इन रोगों में लाभ कारक है।

वृहत्कल्प की टीका म सुरा और सौवार का लक्षण नीचे अनुसार लिखा है

टीका—व्रीह्यादि सम्बन्धिना पिष्टेन यद् विकटं भवति सा सुरा, यत्तु पिष्टवर्जितम् ... खर्जूरादिभिर्निष्पाद्यते तन्मद्य सौवीरक मर्दवीकम्।

---

३ से भिक्खू वा से ... पाण गजाय आढ़िज्जा, त जहा अंबपाण १० वा अंबाडग पाण ११ वा, कविट्ठपाण १२, माउ

लिंग पाण० १३, मुद्दिया पाण १४, दालिम पाण० १८, खज्जूर पाण० १, नारियर पाण० १७, करीर पाण० १८, कोल पाण० १६, आमलय पाण० २०, चिंचा पाण० २१, अन्नयर वा तहप्पगार पाणग त त म अट्ठिय सकणुय मबीयग असजए भिक्खू पडि याए, छब्बए वा दूसए वा वालगए ण आविलियाण परिवालियाण परिसावियाण आहट्टु दलइज्जा तहप्पगार पाणगजाय अफा० लाभे सत तो पडिगाहिज्जा ॥ सू० ४२ ॥

(आचाराग द्वितीय श्रत स्कन्ध पृ० २४७)

अर्थ—वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी उस पानक जात का जान जैसे—आम्रपानीय (आम की गुठलियां तथा उसके छिलके को धाकर बनाया हुआ पानी) आम्रातक पानीय,। अमरोर को धाकर अचित्त किया हुआ पानी) कपित्थ पानीय, (कैंथ फल के गूद से अम्ल बना हुआ पानी) मातुलिंग पानीय (बिजोड़ा निम्बू के रस से अम्ल बनाया हुआ पानी) मृद्वीका पानीय (द्राक्षाओं को पानी मे भिगो कर छाना हुआ पानी) दाड़िम पानीय (दाड़िम का रस अगर शरबत मिला कर तैयार किया गया पानी) खजूर पानीय (खजूरा को पानी म धाकर तैयार किया हुआ पाना) नारिकरल पानीय (कच्चे नारियल म से निकाला गया पानी) करीर पानीय (पक्के करों को जल म मसल कर तैयार किया पानी, कोय पानीय (वेरों क चूर्ण स बनाया हुआ अम्ल जल आमलक पानीय (आमले की खटाइ से अम्लता प्राप्त पानी, अम्लिका पानीय (इमली का पानी) इस प्रकार का अन्य भी कोइ पानी

उसिए वियड पडिगाहित्तए, सेऽनियगा असित्थे नो चेवगा ससित्थे से वियगा परिपूए नो चेवगा अपरिपूए सेऽवियगा परिमिए सेऽव यगा बहु सम्पन्ने नो चेवगा अबहु सम्पन्ने ॥२५॥

(कल्प सूत्रे पृ० ७३)

अर्थ—वर्षा वास रहे हुए नित्य भोजी भिक्षु के सर्व प्रकार के पानी ग्रहण करने कल्पते हैं। वर्षावास स्थित चतुर्थ भक्ति (एकान्तर उपवास करने वाले) भिक्षु को तीन प्रकार के पानी ग्रहण करने कल्पते हैं। वे इस प्रकार उत्स्वेदिम, संस्वेदिम तन्दु लोदक। वर्षावास स्थित षष्ठ भक्तिक (दो दो उपवास के बाद भोजन करने वाले) भिक्षु को तीन प्रकार के पानी लेने कल्पते हैं, वे इस प्रकार-तिलोदक, तुषोदक, अथवा यवोदक। वर्षावास स्थित अष्टम भक्तिक (तीन तीन उपवास के उपरान्त आहार लेने वाले) भिक्षु को तीन प्रकार के जल लेने योग्य होते हैं वे य-आयाम सौवीर अथवा शुद्ध गरम जल। वर्षावास स्थित विकृष्ट भक्तिक (तीन से अधिक प्रमाण में उपवास करके भोजन लेने वाले) भिक्षु को एक उष्ण जल ग्रहण करना योग्य होता है। वह भी असिक्थ (जिसमें अन्न का दाना न गिरा हो) ससिक्थ न हो।

वर्षावास स्थित भक्त प्रत्याख्यान (अनशन करने वाले) भिक्षु को एक उष्ण जल ग्रहण करने योग्य होता है, वह भी असिक्थ, ससिक्थ नहीं वह भी छाना हुआ, बगैर छाना नहीं, वह भी परिमित, अपरिमित नहीं, वह भी पूरा उष्ण किया हुआ, साधारण उष्ण नहीं।

१–कुल

एक आचार्य का शिष्य परिवार जिनकी संख्या कम से कम आठ की होती और नवमा उनका गुरु इस प्रकार के एक आचार्य के परिवार को कुल [१] नियत किया।

२–गण

कुल में साधुओं की व्यवस्था उनके पारस्परिक सम्बन्धों को ठीक रखना उनमें स्थविर के स्वाधीन रक्खा गया था।

उपर्युक्त तीन अथवा अधिक एक आचार वाले कुलों का समुदाय गण कहलाता था, और उनके ऊपर एक आचार्य शासक के रूप में नियत रहता था, जो गण स्थविर कहलाता था। गण में कम से कम अट्ठाइस श्रमणों की संख्या होना अनिवार्य था (तीन कुलों की श्रमण संख्या २७ सत्ताईस और एक गण स्थविर कुल २८ अट्ठाइस) यह तो कनिष्ठ प्रकार का गण हुआ परन्तु गणों में श्रमण–संख्या इससे बहुत अधिक हुआ करती थी। इसलिये गण स्थविर अपने गण में से भिन्न २ कार्यों के लिये भिन्न भिन्न पदाधिकारियों को नियुक्त करता था जिन का नाम निर्देश नीचे की गाथा में किया है।

टिप्पणी —१

[१] कुल की यह श्रमण-संख्या सब से कनिष्ठ है, इससे अधिक सैकड़ों श्रमण एक कुल में हो सकते थे। अगर वे एक आचार्य का शिष्य प्रशिष्यादि परिवार होता।

"आयरिए उवज्झाए, पवित्ति थेरे गणी गणधरय ।
गण उच्छेइय णीमा, पविचिणी तत्थ आणेति ॥४१७७॥
"बृहत्कल्प स० भा० ११-८

अर्थ —आचार्य उपाध्याय, प्रवर्त्ती स्थविर, गणी, और गणधर (कुल स्थविर) गणावच्छेदक और प्रवर्तिनी ।

१–आचार्य

गण स्थविर जिनके अनुशासन में सारा गण रहता था वे आचार्य कहलाते थे। विद्यार्थी साधुओं को आचार्य सूत्र का अनुयोग (सूत्र का अर्थ) देते और किसी भी दर्शन के विद्वान् अथवा अन्य किसी महत्त्वपूर्ण कार्यों के सम्बन्ध में कोई भी पूछने वाला आता तो उनसे बात चीत करते, गच्छ के आन्तरिक कार्यों में आचार्य प्रायः हस्तक्षेप नहीं करते थे।

२–उपाध्याय

उपाध्याय का मुख्य कर्त्तव्य साधुओं को सूत्र पढ़ाना था, इसके अतिरिक्त वे आचार्य के प्रत्येक कार्य में सहायक होते थे। इनका दर्जा युवराज जैसा माना गया है।

३–प्रवर्त्ती अथवा प्रवर्त्तक

प्रवर्ती का कर्त्तव्य गण के साधुओं को उनके योग्य कामों में नियुक्त करना, और उनके कार्यों की देख भाल रखना होता था। प्रवर्त्तक का दर्जा गृह-मन्त्री का सा माना गया है।

४—स्थविर

स्थविर का कर्त्तव्य गणस्थित श्रमणों के आपसी मतभेदों तथा झगड़ों तकरारों और अपराधों की जाँच करना और उचित न्याय देना होता था। छेद सूत्रों के ज्ञाता और माध्यस्थ्य परिणामी होते, वे ही स्थविर—पद पर नियुक्त किये जाते थे।

५—गणी

गणी आचार्य तथा उपाध्याय के आगे उनके मंत्री का काम करता था। यही कारण है कि सूत्रों में कहीं आचार्य के अर्थ में और कहीं उपाध्याय के अर्थ में गणी शब्द प्रयुक्त हुआ है।

६—गणधर

कुल के प्रतिनिधि को गणधर कहते थे। कुलों के पारस्परिक मत—भेद गणधर के पास आते और वह उन्हें गण स्थविर के पास उपस्थित करता।

७—गणावच्छेदक

गणावच्छेदक का कार्य गण के साधुओं को कम से कम अथवा अधिक सदस्यक टुकड़ियों में बाँट कर विहार कराना या विहार करते हुए को आचार्य के पास बुलाना, इत्यादि कार्य गणावच्छेदक के सुपुर्द होते थे। श्रमणी समुदाय की व्यवस्था का कार्य प्राय आचार्य उपाध्याय की सूचनानुसार गणावच्छेदक द्वारा होता था। श्रमणी गण की प्रमुख साध्वी को प्रवर्तिनी

कहते थे। इस प्रकार श्रमण तथा श्रमणी-गण का शासन व्यवस्थित रूप से चलता था।

उक्त गाथा में आचार्य आदि सात अधिकारियों का उल्लेख किया गया है पर तु इनमें मुख्य अधिकार सम्पन्न पुरुष पाच ही है। (१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) प्रवर्त्तक, (४) स्थविर, और (५) गणावच्छेदक। गणी और गणधर ये एक अधिकारियों के कार्य को विशेष सरल करने के लिये रक्खे जाते थे।

इस विषय में निशीथ भाष्यकार नीचे के अनुसार लिखते हैं—

तत्थ न कप्पइ वासो, गुणागरा जत्थ नत्थि पञ्च इमे।
आयरिय उवज्झाए, पवित्ति थेरे य गीयत्थे ॥

अर्थ—उस गच्छ में रात भर के लिये भी रहना उचित नहीं जहां गुण के आगर आचार्य १, उपाध्याय २, प्रवर्त्तक ३, स्थविर ४, और गीतार्थ[1] अर्थात् गणावच्छेदक ये पाच नहीं हैं।

संघ

ऊपर कह चुके हैं कि श्रमणों के सम्पूर्ण गणों के समुदाय का नाम संघ था। संघ सम्बन्धी कार्यों की व्यवस्था के लिए भी एक युग प्रधान आचार्य संघ स्थविर के नाम से नियुक्त किए जाते थे। कुल स्थविर के कार्य में हस्तक्षेप करने का और उनके फैसलों का

१—"गीतार्था गणावच्छेदिनः" इस प्रकार निशीथ चूर्णीकार ने गीतार्थ का अर्थ गणावच्छेदक किया है।

चलने का जिस प्रकार गणस्थविर को अधिकार होता था, उसी प्रकार गणस्थविरों के किये हुए फैसलों को बदलने का अधिकार संघ स्थविर को था। यद्यपि संघ स्थविर किसी भी गण के आन्तरिक कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करते थे, फिर भी किसी आचार्य के विरुद्ध दूसरा कोई आचार्य संघ स्थविर के यहां अपील करता था उसे वे सुनते और योग्य निर्णय देते। इसके अतिरिक्त कोई भी आचार्य जैन शासन के विरुद्ध प्ररूपणा करता तो संघस्थविर उसको रोकने की आज्ञा देते थे। यदि संघ स्थविर की आज्ञा को मानकर प्ररूपक आचार्य अपनी अयोग्य प्रवृत्ति से निवृत्त हो जाता तब तो मामला वहीं समाप्त हो जाता। परन्तु यदि कोई ऐसे भी आचार्य होते जो अपने दुराग्रह से पीछे नहीं हटते, तब संघ स्थविर संघ समवाय बुलाने की उद्घोषित करते। जिस पर देश देश से तमाम आचार्य अथवा उनके प्रतिनिधि नियत स्थान पर एकत्र होते, ऐसे संघ सम्मेलन को शास्त्रकारों ने "संघ समवसरण" इस नाम से उल्लिखित किया है। संघ समवसरण में आचार्य अथवा अन्य साधु जिसके विरुद्ध वह समवसरण किया जाता, उन्हें बुलाया जाता था, और तमाम आचार्यों के सामने विवाद विषयक मामले की जांच की जाती थी, अगर उस समय अपराधी अपना अपराध स्वीकार कर उचित दण्ड लेने को तैयार हो जाता तो संघ स्थविर उसको योग्य दण्ड प्रायश्चित देकर मामले को वहीं खत्म कर देते। परन्तु किन्हीं भी कारणों से अपराधी संघ समवसरण में आने से ही हिचकिचाता तो गीतार्थ श्रमण उसको मधुर वचनों से समझाते और संघ की न्याय प्रियता तथा

अर्थात्--आचाराङ्ग १ सूत्रकृताङ्ग २, स्थानाङ्ग ३, समवायाङ्ग ४, व्याख्याप्रज्ञप्ति ५, ज्ञाताधर्म कथाङ्ग ६, उपासक दशाङ्ग ७, अन्तकृद्दशाङ्ग ८ अनुत्तरोपपातिक दशाङ्ग ९, प्रश्न व्याकरण १०, विपाक श्रुत ११, और दृष्टिवाद १२, ये गणि पिटक के बारह अङ्गों के नाम हैं।

अङ्ग शब्द यहां मौलिक श्रुत के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। निर्ग्रन्थ प्रवचन के उपदेशक तीर्थङ्करों ने उक्त गणि पिटक में निर्ग्रन्थ प्रवचन का सम्पूर्ण ज्ञान भर दिया था, जिसे पढ़ कर निर्ग्रन्थ श्रमण त्रिकाल ज्ञानी बन जाते थे।

आर्य भद्रबाहु और स्थूलभद्र तक द्वादशाङ्ग गणि पिटक अविच्छिन्न रहा परन्तु आर्य स्थूल भद्र के बाद उसमें से पूर्वगत श्रुत का कुछ अंश नष्ट हो गया और आर्य स्थूल भद्र के शिष्य आर्य महागिरि तथा आर्य सुहस्ती केवल दश पूर्वधर ही रहे।

अन्तिम दश पूर्वधर आर्यवज्र के बाद दशवां पूर्व भी खण्डित हो गया। उनके पास पढ़ने वाले आर्य रक्षित तथा आर्यवज्र के शिष्य आर्य वज्रसेन प्रमुख के पास साढ़े नव पूर्व से अधिक श्रुत ज्ञान नहीं रहा था।

आर्यरक्षित द्वारा जिन प्रवचन में क्रान्ति

स्थविर आर्य रक्षित विक्रमीय द्वितीय शताब्दी के श्रुतधर थे, दीर्घ जीवी और विपुल श्रमण श्रमणी गण के नेता थे। इनके समय तक देश, काल, पर्याप्त रूप से बदल चुका था। मानव बुद्धि

ं भी पर्याप्त ह्रास हो चुका था। इनके पहले ये श्रमण अविभक्त
प्रनुयोग मय श्रुत पढ़ते थे, और अपनी बुद्धि से उनमें से अनुयोग
गय, निक्षेप विषयक ज्ञान प्राप्त कर लेते थ। परन्तु आर्य रक्षित ने
र वर्त्तमान समय के लिये इस पद्धति को दुरूह समझा और जैन
वचन को चार अनुयोगों में बांट दिया। जिसका सूचक आवश्यक
नियुक्ति की निम्नोद्धृत गाथाओं से मिलता है।

> जावंति अज्जवइरा अपुहुत्त कालियाणुओगस्स ।
> तेणारेणपुहुत्तं कालिय सुअ दिट्ठिवाए य ॥७६३॥
> देविंद वंदिएहिं महाणुभागे हि रक्खि अज्जेहि ।
> जुग मासज्ज विभत्तो अणुओगो तो कओ चउहा ॥७७४
> (आ० नि०)

अर्थ—जब तक आर्य वज्र जीवित रहे, तब तक कालिक श्रुत
का अनुयोग पृथक् नहीं हुआ था। आर्य वज्र के बाद कालिक श्रुत
तथा दृष्टिवाद में अनुयोग पृथक् हुए।

इन्द्रवन्दित महाभाग आर्य रक्षित ने समय की विशेषता पाकर
अनुयोग को चार भागों में बांटा, अर्थात् वर्त्तमान श्रुत को चरण
करणानुयोग, धर्मकथानुयोग गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग
इन चार विभागों में बांट दिया।

मूल भाष्यकार चार अनुयोगों का सूचन नीचे अनुसार करते हैं

> कालिय सुय च इसि भासियाइं तइओ य सूर पण्णत्ति ।
> सव्वोय दिट्ठिवाओ चउत्थओ होइ अणुओगो ॥१२४॥
> (मू० भा०)

सूत्रों में किया गया है परन्तु उसका विवेचन करने के लिये यह स्थल उचित नहीं।

आर्य रक्षितजी के बाद धीरे धीरे सूत्रों का लिखन का प्रचार होता गया। पाच प्रकार के पुस्तक ताड पत्रों पर लिखकर अनुयोग धर आचार्य आवश्यकतानुसार अपने पास रखने लगे, फिर भी सूत्रों का पठन-पाठन मौखिक ही होता था। काल-वशात् अनेक महत्त्व-पूर्ण आगम ग्रन्थ विच्छिन्न हो गये फिर भी जो कुछ शास्त्र श्रमणों का कण्ठस्थ रहा था, उसको आर्य स्कंदिल सूरिजी ने मथुरा में तथा आर्य नागार्जुन वाचक जी ने वलभी पुर में विद्यमान सर्व शास्त्रों को ताड पत्रों पर लिखवा कर सुरक्षित किया, और इन दोनों स्थानों में लिखे गये शास्त्रों का समन्वय वलभी नगरी में विक्रमीय षष्ठी शताब्दी के प्रथम चरण में आचार्य देवर्द्धिगणी जी की प्रमुखता में किया गया जो आज तक चल रहा है।

आर्य भद्र बाहु स्वामी के समय श्रुत ज्ञान अखण्डित था, और उसको पढ़कर सम्पूर्णता प्राप्त करने में श्रमण को बीस वर्ष लगते थे। तब वर्त्तमान जैन श्रुत के पढ़ने में इतना लम्बा समय नहीं लगता क्योंकि सब से विस्तृत अंग सूत्र दृष्टि वाद का अस्तित्व अब नहीं है फिर भी अनेक वर्ष तो लग ही जाते हैं।

कुल गण सघ की व्यवस्था के लिये जैन श्रमण किस प्रकार योग्य अधिकारियों का नियुक्त करते थे, और अपने शिष्यों को किस प्रकार की काल मर्यादा से निर्ग्रन्थ प्रवचन का अध्ययन

कराया करते थे, यह ऊपर कहा जा चुका है। इसके अतिरिक्त श्रमण अपने समुदाय मे से पाच प्रकार की सभाओं का निर्माण करके श्रमणों को सूत्र पाठन के साथ साथ विशेष प्रकार की योग्यता प्राप्त कराया करते थे, जिसका सक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

पाच परिपदे

पठित तथा अभ्यासी श्रमणों में से पाच प्रकार की परिपदें स्थापित की जाती थीं। जिनके नाम तथा कर्त्तव्य निम्नोद्धृत कल्प भाष्य की गाथाओं से ज्ञात होंगे।

आवाम गमादीया सुत्तकड पुरतिया भव परिसा।
दममादि उरग्मि सुया, हवति उच्छत्तलिया परिसा ॥३८४॥
लोग्य-वग्य मभाइमु, म धसु जे ममो गाढा।
म समय-पर ममय निमारया य कुमलाय बुद्धिमती ॥३८५॥
आमन्नपती भत्त मव परिम्मम अतो तहा सत्य।
मह मुत्तत्थ च दाहिमि, अमुगो त्ति आगतो वादा ॥३८६॥
पुव्व पच्छा जहि मिगणादि तनिहा ममगुभूतो।
लोग यद ममण रया गमा मति परिमाउ ॥३८७॥
गिहत्ता स अ य मत्थहि जाविता कड ममण भारम्मि।
कज्ज सु मिह भूय तु मिग नाडि भव कज्ज ॥३८८॥
त पुण चेत्त्य नासे तहव्वविणासणे दुविह भेदे।
मता उद्दिसोच्छद, अभिगायण-नव-वायादी ॥३८९॥

वितह वयहर माण, सत्थेण णियाणतो णिहो डेइ।
अम्ह सपक्ख दण्डो, न चेरिसो दिक्खिएण दडो ॥३६०॥
सच्छु दरणे समणस्स, चाउकण्णा रहस्सिया परिसा।
अज्जाण चउकण्णा छक्कण्णा अट्ठकण्णा वा ॥३६१॥

अर्थ—पहली परिषद् का नाम "सूत्रकृत पूरातिका" है। इस परिषद् में आवश्यक सूत्र से लेकर द्वितीयाङ्ग सूत्र कृतान्त तक पढ़े हुए साधु बैठते और अपना अपना पाठ्य सूत्र पढ़ते, तथा उस पर चर्चा समालोचना करते। इस परिषद् में न्त योग्यता वाला कोइ भी श्रमण पढ़ सकता था।

द्वितीय परिषद् का नाम "छत्रान्तिका है। इस परिषद् मे दशाश्रुत स्कन्ध तथा उसके ऊपर के सूत्रों के अभ्यासी श्रमण बैठते तथा शास्त्र विषयक ऊहापोह करते, परन्तु इस परिषद् में अपरिणामी तथा अतिपरिणामी श्रमण नहीं बैठ सकते थे, भले ही वे उस योग्यता वाले क्यों न हों, इसमें उन्हें बैठने का अधिकार नहीं मिलता था। ॥३८४॥

तीसरी परिषद् "बुद्धिमती' थी। इस परिषद में बैठने वाले श्रमण लौकिक। वैदिक और सामाजिक शास्त्रों मे प्रवीण होते और जैन जैनेतर धार्मिक तथा दार्शनिक शास्त्रों में कुशल होते थे। इस कारण यह परिषद् स्वसमय विशारदा होने से बुद्धिमती कहलाती थी॥ ॥३८५॥

करना आदि कार्य जो "शङ्कनादित" कहलाते है, इन कार्यों के उपस्थित होने पर राजा के व्यवहार को असत्य जानता हुआ इस परिषद् का नेता कायदा शास्त्र से उत्तर देता, और राजा को निरुत्तर करके कहता, अगर हमारे पक्ष वालों का कोई अपराध है तो उन्हें हम दण्ड देंगे। न्यायानुसार दीक्षित को ऐसा दण्ड नहीं दिया जाता, जैसा कि आप देना चाहते हैं।

॥[२]८८-३८६-३६०।

राहसिकी परिषद् श्रमण तथा श्रमणियों के दोषों का उद्धार करने के लिये प्रायश्चित्त देने का काम करती है। यह परिषद् चतुष्कर्णा' 'षट्कर्णा' अथवा 'अष्टकर्णा' होती है। ॥३६१॥

जहां श्रमण प्रायश्चित्त लेने वाला हो, वहां वह आचार्य के पास एकान्त में जाकर विधिपूर्वक अपने अतिचारों-व्रत में लगे हुए दोषों को प्रकट करता है, और आचार्य उसको शुद्धि योग्य प्रायश्चित्त देते हैं। यह 'चतुष्कर्णा' राहसिकी परिषद् कहलाती है।

जहां प्रायश्चित्त लेने वाली श्रमणी होती है, वह अपने साथ एक दूसरी वृद्ध श्रमणी को लेकर स्थविर आचार्य के पास जाती है और अपने दोषों को प्रकट करके आचार्य से प्रायश्चित्त लेती है। 'षट्कर्णा' राहसिकी परिषद् कहलाती है।

जहां श्रमणी द्वितीय के साथ प्रायश्चित्त लेने को आचार्य के पास जाती है, और आचार्य तरुण होने से अपने पास एक

समझदार वृद्ध श्रमण को बैठाकर श्रमणी को प्रायश्चित्त देते हैं। यह दाहसिकी परिषद् 'अग्रकर्णा, कहलाती है।

श्रमणों की दिन चर्या

जैन श्रमणों की दिनचर्या के विषय में जैन सूत्रों में बहुत लिखा हुआ है परन्तु उन सभी का वर्णन करने का यह स्थल नहीं यहां पर हम उन्हीं बातों का संक्षेप में सूचन करेंगे, जो आज तक मौलिक हैं।

१—जैन श्रमण को पिछले पहर रात रहते निद्रा त्याग कर उठ जाने का आदेश है।

२—रात्रि के चौथे प्रहर में उठ कर वह प्रथम स्वाध्याय ध्यान करता है, और रात्रि के अन्तिम मुहूर्त्त में प्रतिक्रमण करके प्रतिलेखना करता है।

३—प्रतिलेखना के अनन्तर सूर्योदय के बाद अपने स्थान को प्रमार्जित कर फिर दिवस के प्रथम प्रहर में वह यदि विद्यार्थी

१—आजकल भिक्षा-चर्या का टाइम मध्याह्न का नहीं रहा। देशानुसार जिस देश में लोगों के भोजन करने का समय होता है लगभग उसी समय में उस देश में विचरने वाले भिक्षा चर्या को चले जाते हैं। पूर्वकाल में प्रत्येक श्रमण नियमतः एक समय ही भोजन करते थे परन्तु आजकल एक भुक्ति का भी नियम नहीं रहा। इसलिये भिक्षाचर्या के जाने के समय में भी परिवर्त्तन हो गया है। आजकल अधिकांश श्रमण दो बार भोजन करते हैं।

हो तो सूत्र का अध्ययन करता है, और अन्य साधु अपने अभ्यस्त शास्त्रों का पारायण करते हैं।

४—दिवस के द्वितीय प्रहर में श्रमण पढ़े हुए सूत्र का आचार्य के पास अर्थ सीखता है।

५—दो प्रहर हो जाने पर वह भिक्षा चर्या में जाने की तैयारी करता है, और गुरु की आज्ञा लेकर बस्ती में से जरूरी आहार पानी लेकर अपने उपाश्रय में आता है।

६—आचार्य के सामने इर्य्या पथ प्रतिक्रमण कर भिक्षान्न गुरु को बताता है, और उस में से कुछ लेने के लिये गुरु का तथा अन्य श्रमणों को प्रार्थना करता है।

७—भोजन करने के बाद भोजन पात्रों को साफ कर योग्य स्थान पर रख के फिर देह चिन्ता निवृत्त्यर्थ स्थण्डिल भूमि को जाता है, अगर उसे विहार कर ग्रामान्तर चला जाना होता है, तो भी दिवस के तीसरे प्रहर में ही विहार करेगा[१]। फिर वह शास्त्राध्ययन करता है।

८—दिवस के चतुर्थ प्रहर में वह प्रतिलेखना कर के स्वाध्याय करता है।

१—तीसरे पहर विहार करने का नियम भी आजकल शिथिल हो गया है। श्रमणों का अधिक भाग आज कल दिनके पहले प्रहर में ही विहार किया करता है।

६ पिछला मुहूर्त भर दिन रहते पानी का त्याग कर के सन्ध्या समय दैवसिक प्रतिक्रमण करता है।

१०—फिर रात्रि के प्रथम प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय ध्यान करके सो जाता है।

११—लग भग छ घंटे तक वह निद्रा लेता है। रात्रि का चतुर्थ प्रहर लगने पर वह उठ जाता है।

१२—कृष्ण तथा शुक्ल चतुर्दशी के दिन क्रमश: उपवास करता है, और पाक्षिक प्रतिक्रमण करता है। आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा, कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा, और फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा को वह चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करता, और चतुर्दशी पूर्णिमा का षष्ठ भक्त (दो दो उपवास) का तप करता है।[1] भाद्रपद शुक्ला पञ्चमी का सांवत्सरिक प्रति क्रमण करता है और तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी का अष्टमभक्त (तीन उपवास) तप करता है।[2]

१—इस नियम में भी परिवर्तन हो चुका है,जब तक सांवत्सरिक-प्रतिक्रमण भाद्रपद शुक्ला पञ्चमी को होता था तब तक चातुर्मासिक प्रतिक्रमण पूर्णिमा को होता रहा परन्तु विक्रम के पूर्व प्रथम शताब्दी में आचार्य आर्यकालक सूरिजी ने कारणिक भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी को सांवत्सरिक पर्व किया, उसके बाद चातुर्मासिक प्रतिक्रमण भी चतुर्दशी में आया।

२—आर्य कालक द्वारा सांवत्सरिक पर्व भाद्र पद शुक्ल चतुर्थी को करने के बाद सर्व जैन संघ ने उसी दिन सांवत्सरिक पर्व करना नियत

श्रमण की जीवन-चर्या

इस शीर्षक के नीचे हम श्रमण के उन नियमों की सूची देंगे, जिन्हें वह जीवन-पर्यन्त पालन करता है।

१—श्रमण किसी भी सचित्त पृथ्वी को नहीं खोदता।

२—वह खेती के लिये हलकृष्टभूमि में नहीं चलता।

३—श्रमण प्रासुक पानी को छोड़कर सचित्त जल को कभी नहीं पीता।

४—वह अपने कपड़े नदी तालाब आदि में न धोकर खास आवश्यकता के समय अचित्त जल "गर्म पानी" से धोता है।

किया, जो विक्रम की बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक चलता रहा। विक्रम सम्वत् ११६९ ग्यारह सौ ऊनहत्तर में अचल गच्छ के प्रवर्तक आचार्य ने चतुर्थी को किये जाने वाले सांवत्सरिक पर्व का विरोध किया। उन्होंने कहा कालकाचार्य ने कारण वश चतुर्थी को पर्वाराधन किया था, परन्तु अब वह कारण नहीं है अतः पर्युषण पर्व पंचमी को ही मनाना चाहिए। पौर्णमिक गच्छ वालों ने भी अचल गच्छ वालों का साथ दिया। आज आंचलिक, पौर्णमिक लोकागच्छ तथा पार्श्वचन्द्र गच्छ के अनुयायी श्रमण तथा श्रावक भाद्रपद शुक्ल पंचमी को सांवत्सरिक पर्व मनाते हैं। तपागच्छ खरतर गच्छ आगमिक आदि जैन संघ का मुख्य भाग आर्य कालक की परम्परानुसार भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी को सांवत्सरिक पर्व का आराधन करता है और आषाढ़ी, कार्तिकी, फाल्गुनी शुक्ल चतुर्दशी को चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करता है।

श्रमण की जीवन-चर्या

इस शीर्षक के नीचे हम श्रमण के उन नियमों की सूची देंगे, जिन्हें वह जीवन-पर्यन्त पालन करता है।

१—श्रमण किसी भी सचित्त पृथ्वी को नहीं खोदता।

२—वह खेतों के लिये हलकृष्टभूमि में नहीं चलता।

३—श्रमण प्रासुक पानी को छोड़कर सचित्त जल को कभी नहीं पीता।

४—वह अपने कपड़े नदी तालाब आदि में न धोकर खास आवश्यकता के समय अचित्त जल "गर्म पानी" से धोता है।

किया, जो विक्रम की बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक चलता रहा। विक्रम सम्वत् ११६६ ग्यारह सौ उनहत्तर में अंचल गच्छ के प्रवर्तक आचार्य ने चतुर्थी को किये जाने वाले सांवत्सरिक पर्व का विरोध किया। उन्होंने कहा कालकाचार्य ने कारण वश चतुर्थी को पर्वाराधन किया था परन्तु अब वह कारण नहीं है, अतः—पर्युषण पर्व पंचमी को ही मनाना चाहिए। पौर्णमिक गच्छ वालों ने भी अंचल गच्छ वालों का साथ दिया। आज आंचलिक, पौर्णमिक आगमगच्छ तथा पार्श्वचन्द्र गच्छ के अनुयायी श्रमण तथा श्रावक भाद्रपद शुक्ल पंचमी को सांवत्सरिक पर्व मनाते हैं। तपागच्छ खरतर गच्छ आगमिक आदि जैन संघ का मुख्य भाग आर्य कालक की परम्परानुसार भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी को सांवत्सरिक पर्व का आराधन करता है और आषाढ़ा, कार्तिकी, फाल्गुनी शुक्ल चतुर्दशी को चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करता है।

५—वह [illegible] के मध्य अपने आश्रय स्थान से बाहर नहीं निकलता।

६—वह स्नान नहीं करता।

७—श्रमण अग्नि को कभी नहीं जलाता, न जलती हुई आग का शीत काल में भी सेवन करता है।

८—श्रमण अपने आश्रय स्थान पर दीपक न रखता, न रखवाता है।

९ श्रमण कितनी भी गर्मी क्यों न हो वस्त्र से तथा पंखा से हवा नहीं लेता।

१० वह रात्रि के समय खुले मैदान में नहीं बैठता और न सोता है।

११ श्रमण हरी वनस्पति को नहीं छूता है।

१२ वह कच्चे नाज नहीं खाता न स्पर्श ही करता है।

१३ श्रमण अपने लिये बनाये गये भोजन पानी ग्रहण नहीं करता न स्वयं कुछ पकाता पकवाता है।

१४ वह प्याज मूली, लहसुन सक्करकन्द, आदि तमाम कन्द मूलों को प्रासुक होने पर भी भिक्षा में नहीं लेता।

१५ श्रमण भोजन पानी दवाई आदि खाद्य पदार्थों को अपने पास बासी नहीं रखता है।

१६ वह मांस तथा किसी भी नशीली चीज का सेवन नहीं करता है।

१७ वह रजोहरण, मुखवस्त्र, कटिपट्ट, दण्ड, तथा अन्य आवश्यक वस्त्र, पात्र, पुस्तक के अतिरिक्त कोई परिग्रह नहीं रखता है।

१८ उस का दण्ड लकड़ी का होता है, जो उसके कानों तक पहुँचे इतना लम्बा होता है।

१९ उसके भोजन पात्र, तथा जल पात्र, तुम्बे लकड़ी अथवा मिट्टी के होते है।

२० वह अपने पास किसी प्रकार का द्रव्य सिक्का नोट धातु आदि नहीं रखता है।

२१ वह भूमि पर सोता है, मात्र वर्षा काल में लकड़ी के पट्टों पर पथारी करता है, चार पाई पलङ्ग, आदि पर नहीं सोता है।

२२ वह सूर्यास्त के बाद अपना स्थान छोड़कर कहीं नहीं जाता है।

२३ वह शीत काल तथा उष्ण काल में एक स्थान में मास से अधिक नहीं रहता है।

२४ वह वर्षा काल में चार मास तक एक स्थान में रहता है।

२५ वह अपने विहार में किसी प्रकार के यान वाहन का उपयोग नहीं करता है।

२६ विहार में वह अपना सामान स्वयं लेकर चलता है।

२७ वह अल्पमूल्यक श्वेतवस्त्रों के सिवाय अन्य रंग के वस्त्र नहीं पहनता है।

२८ विहार के रास्ते में नदी आने पर पानी में होकर नदी पार कर सकता है।

२९. वह गहरी नदी को नौका में बैठकर पार कर सकता है, परन्तु समुद्र यात्रा नहीं कर सकता।

३० वह खुले शिर नङ्गे पैर चलता है।

३१ वह कड़ी धूप में भी शिर पर छाता नहीं रखता है।

३२. श्रमण किसी पदार्थ का क्रय विक्रय नहीं करता है।

३३ वह गृहस्थ धर्मी के सम्पर्क से सदा दूर रहता है।

३४ वह ऐसे स्थान में कभी नहीं ठहरता जिसमे पशु, पंडक स्त्री आदि रहते हों।

३५ वह साल भर में दो बार अपने शिर तथा मुंह के बालों का लुञ्चन करता है।

३६ वह सिले हुए वस्त्र को नहीं पहनता है।

३७ श्रमण पञ्चास्रव से सदा दूर रहता है।

३८ श्रमण अपने गृहीत नियमों को अखण्डित रखता है।

३९ जिन कार्यों का वमन त्याग किया है, उन्हें जीवन पर्यन्त नहीं करता है।

४० श्रमण सर्व जीवों के साथ समदृष्टि रहता है।

४१ वह विग्रह (क्लेश) जनक बात अपने मुख से नहीं निकालता है।

४२ श्रमण सर्व प्रकार के आक्रोश वधादि का पृथ्वी की तरह सहन करता है।

४३ वह निस्नेह और सत्कार पुरस्कार की इच्छा का त्यागी होता है।

४४ वह ऐसा वचन कभी नहीं बोलता जिसके सुनने से दूसरे को दुःख हो।

४५ श्रमण अपनी जाति रूप, ज्ञान, आदि का अहंकार नहीं करता है।

४६ वह श्रामण्य स्वीकार दिन से मनसा, वाचा, कर्मणा, ब्रह्मचारी होता है।

४७ वह स्वयं धर्म में दृढ़ रहता हुआ, आर्य वचनों द्वारा अन्य मनुष्य को धर्म में जोड़ा करता है।

४८ वह अपने इस अशाश्वत जीवन पर आस्थावान् नहीं होता, और मरण के लिये सदा तैयार रहता है।

४९ वह अपने जीवन का अन्त निकट आने पर अन्य प्रवृत्तियों को छोड़कर अनशन करके अर्हद् देव के ध्यान में लीन हो कर शरीर का त्याग करता है।

श्रमण जीवन के अगणित नियमों में से थोड़े से स्थूल नियम ऊपर लिखे हैं, इनके पढ़ने से पाठक गण को यह ज्ञात हो जायगा कि जैन श्रमण का जीवन कितना अहिंसक, निरीह और आत्म लक्षी होता था और होता है।

जैन श्रमण का तप

यों तो जैन वैदिक बौद्ध आदि भारत वर्षीय सभी सम्प्रदायों ने तप का महत्त्व माना गया है। तपस्वी, तापस आदि नाम तपस् शब्द से ही निष्पन्न हुए हैं, फिर भी जैन श्रमणों का तप कुछ विशेषता रखता है। जैन श्रमण पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिकादि नियत तप तो करते ही हैं, पर तु इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार की तपो विधियां जैन सूत्रों में दी गयी हैं। जिनके अनुसार भिन्न भिन्न तपस्या का आराधन करके श्रमण अपने कर्मों की निर्जरा किया करते हैं।

द्वादश विध तप

जैन शास्त्र कारों ने सामा य-रूप से तप के दो प्रकार माने हैं, एक बाह्य दूसरा आभ्यन्तर। इस प्रत्येक प्रकार के छः छः उप भेद बताये गये हैं जो निम्नोद्धत गाथाओं से ज्ञात होंगे।

> अणसणमूणोअरिया, वित्तिसंखेवणं रसच्चाओ ।
> काय किलेसो सलीनया य, वज्झो तवो होइ ॥१॥

अर्थ—अनशन १, ऊनोदरिका २ वृत्ति संक्षेप ३, रसत्याग ४ कायक्लेश ५, और संलीनता ६, इस प्रकार का बाह्य तप होता है।

भावार्थ—इस का तात्पर्य यह है कि भोजन न करना यह अनशन कहलाता है, भूख से इच्छा पूर्वक कम खाना ऊनोदरिका अथवा अवमौदर्य कहलाता है, अनेक खाद्य चीजों में से अमुक

रखकर शेष सभी का त्याग करने का नाम वृत्ति संक्षेप है, दूध, दही, घी, सक्कर, पक्वान्न आदि में से अमुक अथवा सभी त्याग करना इसका नाम रस त्याग है। इच्छा पूर्वक शारीरिक कष्ट केश लोच वीरासन, आदि कष्टकारी क्रियाय करना कायक्लेश तप है, इंद्रियों का वश कर निर्जन स्थानों में निवास करना मलीनता नामक तप है।

पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं उस्सग्गोविय, अब्भितरओ तवो होई ॥२॥

अर्थ—प्रायश्चित्त १, विनय २, वैयावृत्य ३ तथा स्वाध्याय ४, ध्यान ५ और उत्सर्ग ६, यह आभ्यन्तर तप होता है।

भावार्थ—प्रायश्चित का तात्पर्य है, अपना अपराध गुरु के समक्ष प्रगट कर गुरु से उसके शुद्धयर्थ दण्ड लेना, विनय का अर्थ अपने पूजनीय पुरुषों के सामने नम्रभाव से वर्तना, वैयावृत्य का तात्पर्य है सेवा करना बाल, वृद्ध, ग्लान, आचार्य, उपाध्याय आदि के लिये जरूरी कार्यों में प्रवृत्त होने का नाम वैयावृत्य तप है। सूत्रसिद्धान्त का पाठ पारायण करना स्वाध्याय कहलाता है, मानसिक, कायिक वाचिक एकाग्रता पूर्वक आत्मचिंतन को ध्यान कहते हैं। उत्सर्ग का पूरा नाम है कायोत्सर्ग, शरीर का मोह छोड़ कर बैठे बैठे अथवा खड़े खड़े पवित्र नाम का स्मरण करना अथवा मानसिक एकाग्रता साधन का नाम है कायोत्सर्ग। लोकदृष्टि में तपरूप न होने पर भी इन छह ही प्रकारों का जैन श्रमण आभ्य

तर तप मानते हैं, क्योंकि बाह्य तप की ही तरह इनसे भी आत्म विशुद्धि ही होती है।

एक द्वादश विध तप में से अनशन तप की आराधना के अनेक भेद प्रभेद जैन सूत्रकारों ने लिखे हैं। जिनमें से कतिपय तपोविधानों का यहां दिग्दर्शन कराते हैं।

रत्नावली तप

चतुर्थ भक्त-पारणा षष्ठभक्त पारणा अष्टम भक्त पारणा, आठ षष्ठभक्त और आठ पारणे। चतुर्थ भक्त पारणा, षष्ठभक्त-पारणा, अष्टमभक्त और पारणा, दशमभक्त पारणा, द्वादशभक्त पारणा, चतुर्दश भक्त पारणा षोडशभक्त पारणा, अष्टादशभक्त पारणा विंशतिभक्त पारणा, द्वाविंशतिभक्त पारणा, चतुर्विंशतिभक्त पारणा, षड्विंशतिभक्त-पारणा, अष्टाविंशतिभक्त-पारणा, त्रिंशद्भक्त पारणा, द्वात्रिंशद्भक्त-पारणा, चतुस्त्रिंशद्भक्त पारणा चौंतीस षष्ठ भक्त और चौंतीस पारणे। चतुस्त्रिंशद्भक्त, पारणा द्वात्रिंशद्भक्त पारणा, त्रिंशद्भक्त पारणा, अष्टाविंशतिभक्त पारणा, षड्विंशति भक्त पारणा, चतुर्विंशतिभक्त पारणा, द्वाविंशतिभक्त-पारणा, विंशतिभक्त पारणा, अष्टादशभक्त-पारणा, षोडशभक्त पारणा, चतुर्दशभक्त पारणा, द्वादशभक्त-पारणा दशभक्त पारणा, अष्टमभक्त पारणा, षष्ठभक्त-पारणा, चतुर्थभक्त -पारणा, आठ षष्ठ भक्त और आठ पारणे। अष्टमभक्त-पारणा, षष्ठभक्त-पारणा चतुर्थभक्त पारणा।

उक्त प्रकार से रत्नावली तप के कुल दिन तीन सौ चौरासी (३८४) और पारणों के दिन अट्ठासी (८८) होते हैं। इस

प्रकार एक वर्ष तीन मास और बाईस दिन मे रत्नावली की प्रथम परिपाटी पूरी होती है। तथा चार परिपाटियो मे यह तप पूरा होता है। पहली परिपाटी मे पारणा सर्वकामगुणित आहार से होता है दूसरी परिपाटी मे निर्विकृतिक भोजन से होता है। तीसरी परिपाटी मे निर्लेप द्रव्यो से होता है। और चौथी परिपाटी मे पारणा आयम्बिल से होता है। इस प्रकार निरन्तर रत्नावली तप करने से पाच वर्ष दो मास अट्ठाईस दिन मे सम्पूर्ण होता है।

परिभाषाओं की स्पष्टता

यहा पारिभाषिक शब्दों की स्पष्टता करना उचित समझते हैं। सामान्य रूप से मनुष्यो के दैनिक दो भोजन होते हैं, सुबह का और शाम का। जैन श्रमण यों तो एक बार ही भोजन करते हैं, परन्तु अमुक कारणसे दो बार मगर दो से अधिक बार भी भोजन लेने का आदेश मिलता है। परन्तु उपवास से लगा कर कोई भी छोटी बड़ी तपस्या करनी होती है तब वे तप के पूर्व दिन एक ही बार भोजन लेते हैं। इसी प्रकार उपवास के दूसरे दिन भी एक ही बार भोजन लेते है। इस तप को चतुर्थ भक्त प्रत्याख्यान कहते है क्यो कि पूर्व उत्तर के दो दिनो के दो और उपवास के दिन के दो ऐसे चार भोजनों का उसमे त्याग होता है।

इसी प्रकार दो, तीन, चार, पाच, आदि कितने भी दिन के सलग्न उपवास हो, परन्तु तप के पूर्व उत्तर दो दिनो के दो

भोजन करते होने से उसका उल्लेख तप के प्रत्याख्यान में किया जाता है, और दो उपवास को षष्ठ भक्त प्रत्याख्यान चार उपवास को दश भक्त पांच उपवास को द्वादश इत्यादि संज्ञायें प्राप्त होती हैं। यावत् सोलह उपवास को चतुस्त्रिंशत भक्त कहा जाता है। इसी प्रकार सर्वत्र उपवासों के दो दो भक्त और पूर्व उत्तर दिन का एक भक्त छोड़ा जाने के कारण उक्त सर्व संज्ञायें बनती हैं।

उपर्युक्त रत्नावली का विधान परिभाषामय होने के कारण दुर्बोध होने से उसी वस्तु को परिभाषाओं से मुक्त करके सुगमता के निमित्त दुबारा लिखते हैं।

रत्नावली तप करने वाला श्रमण एक उपवास और पारणा, दो उपवास-पारणा, तीन उपवास-पारणा करके दो दो उपवास और पारणा करता हुआ चौबीस दिन में सोलह उपवास और आठ पारणा करेगा। इस के बाद फिर एक उपवास और पारणा दो उपवास और पारणा ऐसे तप में एक एक दिन की वृद्धि करता हुआ सोलह उपवास और पारणा करेगा। इसके बाद फिर वह चौंतीस दो दो उपवास और पारणा करता चला जायगा। फिर सोलह उपवास और पारणा, पन्द्रह उपवास-पारणा ऐसे एक एक उपवास घटाता हुआ एक उपवास और पारणा करेगा। इस के बाद आठ दो दो उपवास और पारणे कर तीन उपवास और पारणा दो उपवास पारणा, और एक उपवास तथा पारणा करके रत्नावली तप की प्रथम परिपाटी को पूरा करेगा। ऐसे ही दूसरी तीसरी और चौथी परिपाटी में भी तपस्या करेगा, केवल पारणा के दिन प्रथम परिपाटी में इच्छित आहार लेगा, दूसरी परिपाटी में [illegible] आदि को छोड़ कर सामान्य आहार

लगा, तीसरी परिपाटी के पारणा में खजूर द्राक्षा आदि का भी त्याग करेगा और चौथी परिपाटी में केवल नीरस और रूक्ष आहार से पारणा करेगा।

कनकावली

कनकावली तप की परिपाटी भी रत्नावली की जैसी है। भेद मात्र इतना ही है कि रत्नावली में दो स्थान पर आठ आठ षष्ठ भक्त प्रत्याख्यान आते हैं, वहां कनकावली में अष्टम भक्त प्रत्याख्यान किया जाता है। ऐसे ही रत्नावली के चौंतीस षष्ठ भक्तों के स्थान पर कनकावली में चौंतीस अष्टम भक्त किये जाते हैं। शेष रत्नावली के दोनों भागों में एक एक की वृद्धि से सोलह पर्यन्त के तपों की परिपाटी कनकावली में भी समझ लेनी चाहिए। इस प्रकार रत्नावली की एक परिपाटी के दिनों से कनकावली में पचास दिन बढ़ते हैं। ऐसे चारों परिपाटियों में पचास पचास दिन बढ़ाने से कनकावली तप पांच वर्ष नवमास अठारह दिन में पूरा होगा। पारणों के विषय में रत्नावली ही की तरह कनकावली में क्रमशः इच्छित १, निर्विकृतिक २, अलेप कृत द्रव्य ३, और आयंबिल ४, से पारणे किये जाते हैं।

मुक्तावली तप

मुक्तावली तप में एक उपवास-पारणा, दो उपवास-पारणा फिर एक उपवास-पारणा, तीन उपवास-पारणा, एक उपवास-पारणा, चार उपवास-पारणा, एक उपवास-पारणा, पांच उपवास

लगा, तीसरी परिपाटी के पारणा मे खजूर द्राक्षा आदि मेवा भी त्याग करेगा और चौथी परिपाटी में केवल नीरस और रूक्ष आहार से पारणा करेगा।

कनकावली

कनकावली तप की परिपाटी भी रत्नावली की जैसी है। भेद मात्र इतना ही है कि रत्नावली म दो स्थान पर आठ आठ षष्ठ भक्त प्रत्याख्यान आते हैं, वहा कनकावली मे अष्टम भक्त प्रत्याख्यान किया जाता है। ऐसे ही रत्नावली के चौंतीस षष्ठ भक्तों के स्थान पर कनकावली म चौतीस अष्टम भक्त किये जाते हैं। शेष रत्नावली के दोनो भागों में एक एक की वृद्धि से सोलह पयन्त के तपों की परिपाटी कनकावली म भी समझ लेनी चाहिए। इस प्रकार रत्नावली की एक परिपाटी के दिनों स कनकावली म पचास दिन बढ़ते हैं। ऐसे चारो परिपाटियों म पचास पचास दिन बढ़ाने से कनकावली तप पाच वर्ष नवमास अठारह दिन में पूरा होगा। पारणा के विषय मे रत्नावली ही की तरह कनकावली म क्रमश इच्छित १, नर्विकृतिक २, अलेप कृत द्रव्य ३, और आगमिल ४, से पारणे किये जाते है।

मुक्तावली तप

मुक्तावली तप मं एक उपवास–पारणा, दो उपवास–पारणा फिर एक उपवास–पारणा, तीन उपवास–पारणा, एक उपवास–पारणा, चार उपवास–पारणा, एक उपवास–पारणा, पाच उपवास

लघु सिंह निष्क्रीडित तप

लघु सिंह निष्क्रीड़ित तप करने वाला एक उपवास और पारणा, दो उपवास-पारणा, एक उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा, दो उपवास पारणा, चार उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा पाच उपवास पारणा चार उपवास पारणा, छह उपवास पारणा, पाच उपवास पारणा सात उपवास पारणा, छह उपवास पारणा, आठ उपवास पारणा, सात उपवास पारणा, नव उपवास पारणा, आठ उपवास पारणा नव उपवास पारणा, सात उपवास पारणा, आठ उपवास पारणा, छह उपवास पारणा, सात उपवास पारणा, पाच उपवास पारणा छह उपवास पारणा, चार उपवास पारणा, पाच उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा, चार उपवास पारणा, दो उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा, एक उपवास पारणा, दो उपवास पारणा एक उपवास पारणा।

लघु सिंह निष्क्रीड़ित तप मे तपोदिन एक सौ चौपन तथा पारणा के दिन तैंतीस कुल दिन एक सौ सत्तासी एक परिपाटी मे होते है, जो छह मास और सात दिन होते है। इसी प्रकार चार परिपाटियो के दो वर्ष अट्ठाइस दिन होते है। लघु सिंह निष्क्रीडित मे पारणा यथेच्छ आहार से किया जाता है।

महा सिंह निष्क्रीडित तप

एक उपवास दो उपवास, एक उपवास, तीन उपवास, दो उपवास चार उपवास तीन उपवास, पाच उपवास, चार उपवास, छह उपवास, पाच उपवास, सात उपवास, छह उपवास, उपवास, आठ

सप्तमी अष्टमी, नवमी और दशमी प्रतिमाओं से सम्बन्ध रखने वाले तपों का ही निरूपण करेंगे।

सप्त सप्तमिका प्रतिमा

सप्तमी प्रतिमा सप्त रात्रि दिन की है, परन्तु इसे सात बार आराधन करने से यह सप्तसप्तमिका कहलाती है। इसमें उपवास कुल ऊनपचास और भोजन दत्तियां एक सौ छयानवें होती हैं।

पहले सप्तक में एक उपवास और पारणे में एक ही भोजन पानी की दत्ति ली जाती है। दूसरे सप्तक में प्रत्येक उपवास के पारणे में दो दो दत्तियां ली जाती हैं। तीसरे सप्तक में प्रत्येक उपवास के पारणे में तीन तीन दत्तियां ली जाती हैं। चौथे सप्तक में प्रत्येक उपवास के पारणे में चार चार दत्तियाँ ली जाती हैं। पाँचवें सप्तक में प्रत्येक उपवास के पारणे में पांच पांच दत्तियां ली जाती हैं। छट्ठे सप्तक में प्रत्येक उपवास के पारणे में छः छः दत्तियां ली जाती हैं। सातवें सप्तक में प्रत्येक उपवास के पारणे में सात सात दत्तियाँ ली जाती हैं। इस प्रकार सप्तसप्तमिका प्रतिमातप में उन-पचास उपवास और उन-पचास ही पारणा के दिन आते हैं। उन-पचास पारणा में कुल भिक्षा दत्तियां एक सौ छयानवें आती हैं, और यह सप्त सप्तमिका तप तीन महीना आठ दिन में सम्पूर्ण होता है।

अष्ट अष्टमिका प्रतिमा तप

सप्त सप्तमिका की ही तरह अष्ट अष्टमिका के पहले अष्टक के प्रत्येक उपवास के पारणे में एक एक दत्ति भोजन पानी की

नवमे म नव-नव, दशवें मे दश-दश भोजन पानी लेने का विधान है। इसमें उपवास के दिन एक सौ और पारणा क दिन एक सौ मिलकर छ मास बीस दिन में वह प्रतिमा तप पूरा होता है।

इन चारों प्रतिमातपों की सलग्न आराधना एक वर्ष, सात मास, अठारह दिन में होती हैं।

लघु सर्वतो भद्र तप[1]

लघु सवतो भद्रतप की एक परिपाटी में तपोदिन पचहत्तर और पारणा पचीस होते है। इसी प्रकार चारों परिपाटियों म समझ लेना चाहिए। एक परिपाटी तीन मास दश दिन म पूरी होता है। सम्पूर्णतप एक वष एक माम दश दिन मे पूरा होता है। इस तप की चारों परिपाटिया मे पारणे क्रमश सर्वकाम गुणित निर्विकृत, निर्लेप और आयविल से किये जाते है।

लघु सर्वतो भद्र करने वाला श्रमण एक एक उपवास पारणा, दो उपवास पारणा, तीन उपवास पारणा, चार उपवास और पारणा, करके फिर ३, ४, ५, १, २, उपवास करके पारणा करेगा। इसी प्रकार ५, १, २, ३, ४, तथा २, ३, ४, ५, १, और ४, ५, १, २, ३, उपवास करके पारणा करेगा।

इस तप की दूसरी परिपाटी में ५, २, ४, १, ३, तथा ४, १,

---

१ ग्रथातर मे इस तप का नाम "भद्रप्रतिमा" भी लिखा है।

३, ५, २, तथा ३, ५, २, ४, १, तथा २, ४, १, ३, ५, और १, ३, ५, २, ४, उपवास और पारणा करना।

इस तप की तीसरी परिपाटी में ३, २, १, ५, ४ तथा १, ५, ४, ३, २, तथा ४, ३, २, १, ५, तथा २, १, ५, ४, ३, और ५, ४, ३, २, १, उपवास और पारणा करना।

इस तप की चौथी परिपाटी में ३, १, ४, २, ५, तथा २, ५, ३, १, ४, तथा १, ४, २, ५, ३ तथा ५, ३, १, ४, २, और ४, २, ५, ३, १, उपवास करके पारणा करना।

महा सर्वतो भद्र तप[1]

महा सर्वतोभद्र तप का भी क्रम लघु सर्वतो भद्र के जैसा ही है। लघु की एक पंक्ति में पांच अङ्क होते हैं, तब इस 'महासर्वतो भद्र" की एक पंक्ति में सात अङ्क रहते हैं। उसमें एक पंक्ति के अङ्कों की जोड़ पन्द्रह है, तब इसकी एक पंक्ति के अङ्कों की जोड़ अठाइस होते हैं। इस कारण इसकी एक परिपाटी के तपो दिन एक सौ छयानवें और पारणा के दिन उनचास मिलकर कुल दिन दो सौ पैंतालीस होते हैं। जो महीनों में आठ महीने पांच दिन के बराबर होते हैं, और चारों परिपाटियों का समय कुल दो वर्ष आठ मास बीस दिन होता है।

महासर्वतोभद्र तप करने वाला प्रथम १, २, ३ [illegible] उपवास करके फिर ४, ५, ६, ७, १, २, ३, फिर ७, १, २, ३ [illegible]

५, ६, फिर ३, ४, ५, ६, ७, १, २, फिर ६, ७, १, २, ३, ४, ५, फिर २, ३, ४, ५, ६, ७, १, फिर ५, ६, ७, १, २, ३, ४, इस क्रम से उपवास करके महासर्वतो भद्र की दक्षिण दिशा तरफ मुड़ेगा और क्रमश ७, ३, ६, २, ५, १, ४, फिर ६, २, ५, १, ४, ७, ३, फिर ५, १ ४, ७, ३, ६, २, फिर ४, ७, ३, ६, २, ५, १, फिर ३, ६, २, ५, १, ४, ७, फिर २ ५, १, ४, ७ ३, ६, फिर १, ४, ७, ३, ६, २, ५, उपवास करके वह सर्वतो भद्र चक्र के पश्चिम तरफ के अङ्का को पकड़ेगा, प्रथम ४, ३ २, १, ७, ६, ५ फिर १, ७, ६, ५, ४, ३, २, फिर ५, ४ ३, २, १, ७, ६, फिर २, १, ७ ६, ५, ४, ३ फिर ६, ५, ४, ३, २, १, ७, फिर ३, २, १, ७, ६, ५, ४, फिर ७, ६, ५, ४, ३, २, १, उपवास करके, वह चक्र की उत्तर दिशा म जायगा और प्रथम ५, ६, ७, १, २, , ४, फिर २, ३, ४, ५, ६, ७, १, फिर ६, ७ १, २, ३, ४, ५, फिर ३, ४, ५, ६, ७, २, १, फिर ७, १, २, ३, ४,५, ६ फिर ४, ५, ६, ७, १, २, ३, फिर १, २, ३, ४, ५, ६, ७, उपवास और पारणें करके चतुर्थ परिपाटी को पूरा करेगा, और इसके साथ महा सर्वतो भद्र तप पूरा होगा।

भद्रोत्तर प्रतिमा तप

इस तप मे सलग ५–६–७–८–९ उपवासों के अन्त मे पारणे आते हैं। पाच से कम और नव से अधिक सलग उपवास नहीं आते। इसकी एक परिपाटी पूरी करने म छ मास बीस दिन

लगते हैं। इन दो सौ दिनों में भोजन के दिन पचीस होते हैं, शेष एक सौ पचहत्तर दिन उपवास के होते हैं। इसी प्रकार चारों परिपाटियों के कुल दिवस आठ सौ होते हैं। जो दो वर्ष, दो मास, बीस दिन के बराबर होते हैं। इस पूरे तप में सात सौ दिन उपवासों के और एक सौ दिन पारणों के होते हैं।

भद्रतपों का कुछ विवरण

लघु सर्वतो भद्र महा सर्वतो भद्र, और भद्रोत्तर तप जो ऊपर लिखे हैं, उनके नामों के विषय में कुछ विवेचन करना आवश्यक प्रतीत होता है।

इनके नामों में आया हुआ भद्र शब्द कल्याण वाचक है और सर्वत यह शब्द दिशाओं की प्रतीति कराता है।

लघु तथा महा सर्वतो भद्र की आराधना करने वाले श्रमण [illegible] की प्रथम परिपाटी में पूर्व दिशा के उत्तर द्वार पर किसी निर्जीव पदार्थ पर दृष्टि स्थिर कर एक एक दिन ध्यान में खड़े रहेंगे। पारणा करके कुछ दाहिनी तरफ हट कर दो दो दिन इसी प्रकार ध्यान करेंगे। दो उपवासों का पारणा करके लघु [illegible] पूर्व दिशा के मध्य भाग में और महा तप वाला पूर्व [illegible] सम्मभाग पर खड़ा रहकर तीन दिन तक [illegible] ध्यान करेंगे लघु वाला मध्य से कुछ दाहिनी तरफ तथा [illegible] के मध्य भाग में खड़ा रह कर चार दिन तक [illegible] करेगा। इन उपवासों के पारणे कर [illegible]

निम्ट पूर्व दिशा के अन्तिम भाग म और महातप वाले पूर्वा के पञ्चम सप्तमाश म खड़ा रह करपाच-पाच दिन तक उक्त प्रकार ध्यान करेंगे। लघुतप वाले की एक पक्ति प द्रह दिन में पूरी होगी, परन्तु महातप वाले की प्रथम पक्ति मे अभी दो स्थान शेप रहते हैं। महातप वाला पाच उपवासों का पारणा कर पूर्वा क षष्ठ सप्तमाश में, और छ उपवासों का पारणा कर पूर्वा के अन्तिम सप्तमाश म खड़ा होकर क्रमश छ तथा सात दिन तक उक्त प्रकार का ध्यान करेगा।

इस प्रकार लघुवाले प्रथम पक्ति म पन्द्रह दिन और महावाले अट्ठाईस दिन तक तप और ध्यान करेंगे।

लघु सर्वतोभद्र वाला और महा सर्वतो भद्र वाला अब उक्त प्रकार से ही पूर्व दिशा के बायें छोर से दाहिने छोर तक नीचे की पक्ति म लिखे अङ्क परिमित दिनों तक तप और ध्यान करेगा।

लघु सर्वतोभद्र की पन्द्रह पन्द्रह की सख्या वाली पाच पक्तिया होने के कारण लघु सर्वतो भद्र तपस्वी पूर्व दिशा म कुल पचहत्तर दिन खड़ा रह कर तप ध्यान करेगा और पच्चीस पारणे करेगा, परन्तु महा सर्वतो भद्र की पक्तिया अट्ठाइस २ सख्या वाली होने से महा भद्र तप का तपस्वी पूर्व दिशा मे खड़ा रह कर एक सौ छयानवें दिन तक तप तथा ध्यान करेगा, और उन पचास पारणे करेगा।

इसी प्रकार दोनों प्रकार क सर्वतो भद्र तप आराधक दक्षिण

पश्चिम और उत्तर दिशा सम्मुख भी, उसी प्रकार दिशाओं के भिन्न भिन्न भागों में खड़े रह कर तप और ध्यान करेंगे।

एक दिशाओं का सूचक सर्वत इस शब्द से मिलता है, तथा प्रत्येक पंक्तियों के अंकों की संख्या एक मिलती है, चाहे किसी भी पंक्ति के अंक पूर्व से पश्चिम तरफ गिनो, दक्षिण से उत्तर तरफ गिनो, एक कोने से दूसरे कोने तक गिना, लघु सर्वतो भद्र के अङ्कों का जोड़ पन्द्रह ही आवेगा। इसी प्रकार महा सर्वतो भद्र के अङ्कों के कोष्ठक किसी भी दिशा से गिनने पर अङ्क संख्या अट्ठाईस ही होगी।

अब रहा भद्र शब्द—भद्र शब्द कल्याण वाचक है यह पहले कहा जा चुका है। इन तपों का आराधक ध्यान में चित्त स्थिर कर प्राणिमात्र के कल्याण की कामना करता है।

वह प्राणिमात्र में समान दृष्टि रखता हुआ "आत्मवत्सर्व भूतेषु" इस वाक्य को चरितार्थ करता है और अपनी राग द्वेष की ग्रन्थियों को विलीन कर देता है। इसी कारण से इन तपों के साथ भद्र शब्द जोड़ा गया है।

भद्रोत्तर इस नाम के साथ यद्यपि सर्वत शब्द नहीं है, तथापि भद्र शब्द का सहचारी होने से सर्वत शब्द का अर्थ अध्याहार से लेकर इस तप में भी लघु, महा सर्वतो भद्रों की तरह पूर्वादि दिशाओं में लिखित संख्या के दिनों तक खड़े खड़े तप और ध्यान किया जाता है।

निकट पूर्व दिशा के अंतिम भाग मे और महातप वाले पूर्वा क पञ्चम सप्तमाश म खड़ा रह करपाच-पाच दिन तक उक्त प्रकार ध्यान करेंगे। लघुतप वाले की एक पक्ति प द्रह दिन मे पूरी होगी, परन्तु महातप वाले की प्रथम पक्ति के अभी दो स्थान शेष रहते हैं। महातप वाला पाच उपवासों का पारणा कर पूर्वा क षष्ठ सप्तमाश म, और छ उपवासों का पारणा कर पूर्वा के अन्तिम सप्तमाश मे खडा होकर क्रमश छ तथा सात दिन तक उक्त प्रकार का ध्यान करेगा।

इस प्रकार लघुवाले प्रथम पक्ति मे प द्रह दिन और महावाले अट्ठाइस दिन तक तप और ध्यान करेंगे।

लघु सर्वतोभद्र वाला और महा सर्वतो भद्र वाला अब उक्त प्रकार से ही पूर्व दिशा के बायें छोर से दाहिने छोर तक नीचे की पक्ति म लिखे अङ्क परिमित दिनों तक तप और ध्यान करगा।

लघु सर्वतोभद्र की प द्रह प द्रह की सख्या वाली, पाच पक्तिया होने के कारण लघु सर्वता भद्र तपस्वी पूर्व दिशा म कुल पचहत्तर दिन खडा रह कर तप ध्यान करगा, और पचीस पारणे करेगा, पर तु महा सर्वता भद्र की पक्तिया अट्ठाईस २ सख्या वाली होने से महा भद्र तप का तपस्वी पूर्व दिशा मे खडा रह कर एक सौ छयानव दिन तक तप तथा ध्यान करेगा, और उन पचास पारणे करेगा।

इसी प्रकार दोनों प्रकार क सर्वतो भद्र तप आराधक दक्षिण

पश्चिम और उत्तर दिशा सम्मुख भी, उसी प्रकार दिशाओं के भिन्न भिन्न भागों में खड़े रह कर तप और ध्यान करेंगे।

एक दिशाओं का सूचन सर्वत इस शब्द से मिलता है, तथा प्रत्येक पंक्तियों के अंकों की संख्या एक मिलती है, चाहे किसी भी पंक्ति के अंक पूर्व से पश्चिम तरफ गिनो, दक्षिण से उत्तर तरफ गिनो, एक कोने से दूसरे कोने तक गिनो, लघु सर्वतो भद्र के अङ्कों का जोड़ पन्द्रह ही आवेगा। इसी प्रकार महा सर्वतो भद्र के अङ्कों के कोष्ठक किसी भी दिशा से गिनने पर अङ्क संख्या अट्ठाईस ही होगी।

अब रहा भद्र शब्द—भद्र शब्द कल्याण वाचक है यह पहले कहा जा चुका है। इन तपों का आराधक ध्यान में चित्त स्थिर कर प्राणिमात्र के कल्याण की कामना करता है।

वह प्राणिमात्र में समान दृष्टि रखता हुआ "आत्मवत्सर्व भूतेषु" इस वाक्य को चरितार्थ करता है और अपनी राग द्वेष की ग्रंथियों को विलीन कर देता है। इसी कारण से इन तपों के साथ भद्र शब्द जोड़ा गया है।

भद्रोत्तर इस नाम के साथ यद्यपि सर्वत शब्द नहीं है, तथापि भद्र शब्द का सहचारी होने से सर्वत शब्द का अध्याहार से लेकर इस तप में भी लघु, महा सर्वतो भद्रों की तरह पूर्वादि दिशाओं में लिखित संख्या के दिनों तक खड़े खड़े तप और ध्यान किया जाता है।

इस तप के नाम के अन्त में प्रयुक्त उत्तर शब्द इसकी उन्नत संख्या का सूचक है। पूर्वोक्त तप एक एक उपवास से शुरू होते हैं, तब भद्रोत्तर की प्रथम पंक्ति पाँच उपवास से शुरू होकर नव पर समाप्त होती है। इस प्रकार सबका अधिक उपवास होने के कारण यह भद्रोत्तर तप कहलाया। बाकी भावना तथा दृष्टि-स्थिरता इसमें भी उक्त दो तपों की ही तरह करनी होती है।

उक्त भद्र तप प्राय उत्कृष्ट शारीरिक बल वाले श्रमण ही पूर्व काल में किया करते थे। वर्तमान समय में ऐसे तप करने की शक्ति तथा संहनन नहीं रहे।

१—लघुसर्वतोभद्र तपो यन्त्रक

१	२	३	४	५
३	४	५	१	२
५	१	२	३	४
२	३	४	५	१
४	५	१	२	३

उप-दिन १० मास, पा-दिन ३ मास, १० दिन

२—महासर्वतोभद्र तपो यन्त्रक

१	२	३	४	५	६	७
४	५	६	७	१	२	३
७	१	२	३	४	५	६
३	४	५	६	७	१	२
६	७	१	२	३	४	५
२	३	४	५	६	७	१
५	६	७	१	२	३	४

उपवास दिन
२ वर्ष, २ मास,
४ दिन पारणा
दिन ६ मास
१६ दिन

३—भद्रोत्तर तपो यन्त्रक

५	६	७	८	९
८	९	५	६	७
६	७	८	९	५
९	५	६	७	८
७	८	९	५	६

उपवास दिन १ वर्ष
११ मास, १० दिन,
पारणा दिन ३ मास,
१० दिन

आयंबिल वर्धमान तप

एक आयंबिल और उपवास, दो आयंबिल और उपवास, तीन आयंबिल और उपवास इस प्रकार एक एक आयंबिल को बढ़ाते बढ़ाते अन्त में उपवास करते करते सौ आयंबिल और उस पर ऊपर एक उपवास करने से यह तप सम्पूर्ण होता है।

आयंबिल वर्धमान तप निरन्तर करते रहने से चौदह वर्ष, तीन मास और बीस दिन में पूरा होता है।

कुल आयंबिल पांच हजार पचास और उपवास एक सौ होते हैं। एकावन सौ पचास दिनों में यह तप पूरा किया जा सकता है।

गुणरत्न संवत्सर तप

गुणरत्न संवत्सर तप सोलह मास अथवा चार सौ अस्सी दिन में पूरा होता है। इस दिन संख्या में चार सौ सात दिन उपवास में जाते हैं, और तिहत्तर दिन पारणों में।

१—प्रथम मास तीस दिन का होता है। इसमें एक एक उपवास के बाद पारणे आते हैं अतः पन्द्रह दिन उपवासों के और पन्द्रह दिन पारणों के होते हैं।

२—दूसरा मास तीस दिन का होता है। इसमें दो दो उपवासों के बाद पारणे आते हैं। इस के बीस दिन उपवासों में और दस दिन पारणों में जाते हैं।

३—तीसरा मास बत्तीस दिन का होता है। इसमें तीन तीन उपवासों के अन्त में पारणा किया जाता है। इसके चौबीस दिन उपवासों में और आठ दिन पारणों में व्यतीत होते हैं।

४—चौथा मास तीस दिन का होता है। इसमें चार चार उपवासों के अन्त में पारणा होता है। चौबीस दिन उपवासों में छः दिन पारणों में पूरे होते हैं।

५—पांचवां मास भी तीस दिन का होता है। इसमें पांच पांच उपवासों के अन्त में पारणा होता है। पच्चीस दिन उपवासों में और पांच दिन पारणों में व्यतीत होते हैं।

६—छठा मास अट्ठाईस दिन का होता है। इसमें छः छः उपवासों के बाद पारणा किया जाता है। चौबीस दिन उपवासों के और चार दिन पारणों के होते हैं।

७—सातवां मास चौबीस दिन का होता है। इसमें सात सात उपवासों के बाद पारणा किया जाता है। इक्कीस दिन उपवासों के और तीन दिन पारणों के होते हैं।

८—आठवां मास सत्ताईस दिन का होता है। इसमें आठ आठ उपवासों के अन्त में पारणे होते हैं। चौबीस दिन उपवासों में और तीन दिन पारणों में जाते हैं।

९—नवमा मास तीस दिन का होता है। इसमें नव नव उपवास और पारणे होते हैं। सत्ताईस दिन उपवासों के और तीन दिन पारणों के होते हैं।

१०—दसवां मास तेंतीस दिन का होता है। इसमें दस दस उपवासों का पारणा होता है। तीस दिन उपवासों के और तीन दिन पारणों में होते हैं।

११ ग्यारहवा मास छत्तीस दिन का होता है। जिसमें ग्यारह ग्यारह उपवासा के बाद पारणें होते हैं। तेतीस दिन उपवासों के और तीन दिन पारणा के होते हैं।

१२ बारहवा मास छब्बीस दिन का होता है। इसमें बारह उपवास के बाद पारणा होता है। चौबीस दिन उपवासों के और दो दिन पारणा के होते हैं।

१३ तेरहवा मास अठाईस दिन का होता है। इसम तेरह तेरह दिन के बाद दो पारणें होते हैं। छब्बीस दिन उपवासों मं और दो दिन पारणा म निकलते हैं।

१४ चौदहवा मास तीस दिन का होता है। इसम चौदह चौदह उपवासों के दो पारणें होते हैं। अट्ठाइस दिन उपवासो क और दो दिन पारणों के होते हैं।

१५ प द्रहवा मास बत्तीस दिन का होता है। इसमे प द्रह प द्रह उपवासा के दो पारणे होते हैं। तीस दिन उपवासों के और दो पारणों के होते हैं।

१६ सालहवा मास चौंतीस दिन का होता है। इसमें सोलह सोलह उपवासों के दो पारणें होते हैं। बत्तीस दिन उपवासों के और दो पारणों के होते हैं।

उपर्युक्त सोलह महीना में १, २, ४, ८, ६, १४। चौदहवा य छ महीने पूरे तीस दिन के होते हैं, तब ६, ७, ८, १२, १३, तेरहवा ये पाच मास तीस स कम दिनों के होते हैं और ३, १०, ११, १५, १६, सोलहवा ये पाच महीने अधिक दिनों वाले होते

है। कम दिन के महीनों में कुल सत्रह दिन घटते हैं, तथ अधिक दिनों वाले पाच महीनों में इतने ही दिन बढ़ जाते हैं। फलस्वरूप सलोह महीने बराबर प्रकर्म मास बन जाते हैं।

गुणरत्नसंवत्सर तप प्राय जैन श्रमण किया करते थे।

चन्द्र प्रतिमा तप

चन्द्र प्रतिमा तप दो प्रकार का होता है। यवमध्य चन्द्र प्रतिमा तप और वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा तप।

यवमध्य चन्द्र प्रतिमा तप

श्रमण शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा के दिन एक दत्ति भोजन की और एक ही दत्ति पानी की लेकर आहार पानी करे। इसी प्रकार शुक्ल द्वितीया को दो आहार की और दो पानी की, तृतीया को तीन आहार की और तीन पानी की, इसी प्रकार क्रमोत्तर वृद्धि से एक एक भिक्षा दत्ति का बढ़ाता हुआ, पूर्णिमा को पन्द्रह आहार की तथा पन्द्रह पानी की दत्तियां ग्रहण करें। कृष्ण प्रतिपदा के दिन पन्द्रह आहार की और पन्द्रह पानी की दत्तियां लेकर एक एक घटाता जाय, कृष्ण द्वितीया को चौदह, तृतीया को तेरह, यावत् अमावस्या को एक दत्ति आहार की और एक पानी की ग्रहण करे। इस प्रकार के तप को यवमध्य चन्द्र प्रतिमा तप कहते हैं।

भिक्षा की दत्ति का तात्पर्य यह है कि निर्दोष कल्पनीय आहार हाथ में लेकर श्रमण के पात्र में गृहस्थ एक बार डाले वह एक दत्ति

११ ग्यारहवा मास छत्तीस दिन का होता है। जिसमे ग्यारह ग्यारह उपवासों के बाद पारणें होते हैं। तेतीस दिन उपवासों के और तीन दिन पारणा के होते हैं।

१२ बारहवा मास छब्बीस दिन का होता है। इसमें बारह उपवास के बाद पारणा होता है। चौबीस दिन उपवासा के और दो दिन पारणा के होते हैं।

१३ तेरहवा मास अठाइस दिन का होता है। इसम तेरह तेरह दिन के बाद दो पारणें होते हैं। छब्बीस दिन उपवासों म और दो दिन पारणा म निकलते हैं।

१४ चौदहवा मास तीस दिन का होता है। इसमे चौदह चौदह उपवासों के दो पारणें होते हैं। अट्ठाईस दिन उपवासों क और दो दिन पारणों के होते हैं।

१५ पन्द्रहवा मास बत्तीस दिन का होता है। इसमे पन्द्रह पन्द्रह उपवासों के दो पारणे होते हैं। तीस दिन उपवासों के और दो पारणों के होते हैं।

१६ सोलहवा मास चौंतीस दिन का होता है। इसमे सोलह सोलह उपवासों के दो पारणें होते हैं। बत्तीस दिन उपवासों के और दो पारणों के होते हैं।

उपर्युक्त सोलह महीनों में १, २, ४, ५, ६, १४। चौदहवा ये छः महीने पूरे तीस दिन के होते हैं, तब ६, ७, ८, १२, १३, तेरहवा ये पाच मास तीस से कम दिनों के होते हैं और ३, १०, ११, १५, १६, सोलहवा ये पाच महीने अधिक दिनों वाले होते

हैं। कम दिन के महीनों में कुल सत्रह दिन घटते हैं; तथ अधिक दिनों वाले पांच महीनों में उतने ही दिन बढ़ जाते हैं। फलस्वरूप सोलह महीने बराबर प्रकर्म मास बन जाते हैं।

गुणरत्नसंवत्सर तप प्रायः जैन श्रमण किया करते थे।

चन्द्र प्रतिमा तप

चन्द्र प्रतिमा तप दो प्रकार का होता है। यवमध्य चन्द्र प्रतिमा तप और वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा तप।

यवमध्य चन्द्र प्रतिमा तप

श्रमण शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा के दिन एक दत्ति भोजन की और एक ही दत्ति पानी की लेकर आहार पानी करे। इसी प्रकार शुक्ल द्वितीया को दो आहार की और दो पानी की, तृतीया को तीन आहार की और तीन पानी की, इसी प्रकार क्रमोत्तर वृद्धि से एक एक भिक्षा दत्ति को बढ़ाता हुआ, पूर्णिमा को पन्द्रह आहार की तथा पन्द्रह पानी की दत्तियां ग्रहण करे। कृष्ण प्रतिपदा के दिन पन्द्रह आहार की और पन्द्रह पानी की दत्तियां लेकर एक एक घटाता जाय, कृष्ण द्वितीया को चौदह, तृतीया को तेरह, यावत् अमावस्या को एक दत्ति आहार की और एक पानी की ग्रहण करे। इस प्रकार के तप को यवमध्य चन्द्र प्रतिमा तप कहते हैं।

भिक्षा की दत्ति का तात्पर्य यह है कि निर्दोष कल्पनीय आहार हाथ में लेकर श्रमण के पात्र में गृहस्थ एक बार डाले वह एक दत्ति

दो वार डाले वह दो दत्ति, इसी प्रकार पानी के सम्बन्ध म भी जानना चाहिए।

दत्ति म कुछ भी खाद्य पदार्थ जो डाल दिया, भले ही वह दो चार रत्ती भर ही क्यों न हो, उसी को दत्ति मान कर उस दिन उसी पर निर्वाह करना होता है। यही बात पानी के सम्बन्ध में भी समझ लेनी चाहिए।

वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा तप

कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा को पन्द्रह दत्तिया भोजन पानी की लेकर आगे एक एक घटाता हुआ, अमावस्या को एक दत्ति पर पहुचे। अमावस्या तथा शुक्ल प्रतिपदा को एक एक दत्ति लेकर द्वितीया से पूर्णिमा तक एक एक दत्ति की वृद्धि करता हुआ पूर्णिमा के दिन पन्द्रह दत्तिया भोजन पानी की ग्रहण करे।

यवमध्या तथा वज्रमध्या प्रतिमा एक एक मास म पूरी होती है।

इन दो तपों को करता हुआ श्रमण अनेक प्रकार के अभिग्रह रखता है। वह दिन रात कायोत्सर्ग म स्थिर रहता है। उस समय के दर्म्यान उत्पन्न होने वाले देवकृत, मानवकृत, तथा तिर्यक योनिकृत उपसर्गों का समभाव सहन करता से है।

भिक्षा को निकलते समय वह अनेक प्रकार के अभिग्रह मन मे धारण करता है। जैसे शुद्ध शिलोञ्छ वृत्ति से प्राप्त किया हुआ भोजन पानी अनेक श्रमण ब्राह्मण लाते है और भोजन करते

ह, उनमें से बचा हुआ आहार पानी कोई देगा तो एक के पास से लूंगा, अन्यथा नहीं' अथवा गृह द्वार के भीतर रह कर या उसके बाहर आकर गृहस्वामिनी देगी तो उसके हाथ से न लूंगा, किन्तु एक पग द्वार के भीतर तथा एक द्वार के बाहर पग रखकर यदी कोई गृहस्वामिनी भिक्षा देगी तो लूंगा इत्यादि।

उक्त तपों के अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के तप श्रमण श्रमणियों के करने योग्य हैं। जो यहां नहीं दिये गये हैं। ये सभी तप जैन सूत्रों में वर्णन किये गये हैं। वसु देव हिंडी आदि पौराणिक ग्रन्थों के तपों विधियों की संख्या तो सैकड़ों ऊपर हैं, परन्तु उनके निरूपण का यह योग्य स्थान नहीं।

एक आगमिक तपों में से वर्त्तमान काल में केवल "वर्धमान आयंबिल तप" श्रमण श्रमणियों तथा जैन उपासक उपासिकाओं द्वारा किया जाता है। शेष आगमिक तपों में से आज कोई प्रच लित नहीं है।

सलेखना और भक्त प्रत्याख्यान

जैन श्रमण या अपने अन्तिम जीवन में अन्य प्रवृत्तियों से निवृत्त होकर विशेष तपस्याओं द्वारा शरीर को कृश बना कर मृत्यु के समीप पहुँचने का शास्त्रादेश है। इस विधान को जैन शास्त्र 'सलेखना' इस नाम से उद्घोषित करते हैं। सलेखना करने वाला सामान्य श्रमण अथवा आचार्य उपाध्याय आदि, कोई भी पदस्थ पुरुष हो ... भावना जब यह हो जाय कि

से ना कार्य करते थे, वे मैंने कर लिये हैं अब आगामी भव की भावना में विशेष उद्यम करूँ—यह कहता है।

निप्फाइयाय सीसा सउणी जह अंडगं पयत्तेणं।
बारस सम्वच्छरिए सो सलेहं अह करेइ ॥२७०॥

अर्थ—मैंने शिष्यों को सब प्रकार से तैयार करदिया है, जैसे चिड़िया यत्नपूर्वक सेवन कर अंडे को तैयार करती है। अब मुझे सलेखना करना चाहिए यह विचार प्रकट कर के वह बारह वर्ष की सलेखना करता है।

सलेखना विधि

चत्तारि विचित्ताइं विगइं निज्जूहियाइं चत्तारि।
संवच्छरे य दुन्निउ एगतरियं तु आयामं ॥२७१॥
नाइ विगिट्ठो उ तवो छम्मासे परिमियं तु आयामं।
अन्ने ऽवि य छम्मासे होइ विगिट्ठं तवोकम्मं॥२७२॥
वास कोडी सहियं आयामं काउ आणुपुव्वीए।
गिरिकंदरंमि गंतु पायव गमणं अह करेइ ॥२७३॥

आचा० सू० विमो० अ० उद्दे० ९
पृ० २६३

अर्थ—सलेखना कारक श्रमण प्रथम चार वर्ष तक अनेक अनेक प्रकार के तप करता है, और पारणे में सविकृतिक आहार लेता है। फिर चार साल तक उसी प्रकार विविध तप करता है,

और निर्विकृतिक (दूध, दही, घृत, तेल पक्वान्न आदि को छोड़ कर अन्य सामान्य) आहार से पारणा करता है, फिर दो वर्ष तक एकान्तरित उपवास और आयंबिल का तप करेगा। इसके बाद छः मास तक षष्ठ अष्टमादि सामान्य तप और आयंबिल से पारणा करता है और उसके बाद के छः मास तक विकृष्ट तप (चार अथवा इससे अधिक उपवास का तप) करता है, और पारणे में आयंबिल करता है। फिर एक वर्ष तक निरन्तर आयंबिल करता है और बारह वर्ष पूर्ण हो जाने के बाद वह किसी पर्वत की गुफा में जाकर 'पादपोपगमन' नामक अनशन करता है।

अनशन के तीन प्रकार

भत्त परिन्ना इंगिणि पायव गमणं च होइ नायव्वं ।
जो मरइ चरिम मरणं भाव विमुक्कं वियाणाहि ॥२६३॥
सपरिक्कमेय अपरिक्कमे य वाघाय आणु पुव्वीए ।
सुत्तत्थ जाणएणं समाहि मरणं तु कायव्वं ॥२६४॥

आचा० सू० विमो० अ० उद्दे० १–पृ २६१

अर्थ—अनशन तीन प्रकार के होते हैं। १–भक्त परिज्ञा–भक्त प्रत्याख्यान, २–इंगिनीमरण, और ३–पादपोपगमन, ये तीन प्रकार जानने चाहिए। जो श्रमण अन्तिम मरण (पादपोपगमन) से मरता है उसको भाव मोक्ष होता है यह समझना चाहिए। इन तीन प्रकार के अनशनों में भक्त परिज्ञा

सपरिकर्म होता है। इस अनशन वाला अपनी शारीरिक शुश्रूषा करा सकता है। इंगिनी मरण अनशन वाला परिकर्म नहीं कराता, शक्ति रहते वह स्वयं करवट बदलना आदि कर सकता है। पादपोपगमन अनशन धारी चरम शरीर धारी होता है। वह जिस आसन से अनशन प्रारम्भ करता है उसी आसन में वृक्ष की तरह स्थिर रहता है। खड़ा हो तो बैठ नहीं सकता, सोया हुआ हो तो करवट नहीं बदल सकता। जैसे वृक्ष पवन के झकझोर से गिर जाने पर फिर स्वयं अपनी स्थिति को बदल नहीं सकता, उसी प्रकार पादपोपगमन मरण करने वाले को देव, मनुष्य, अथवा तिर्यञ्च अनशन स्थान से उठाकर कहीं दूर फेंक देंगे तो उसी स्थिति में पड़ा रहेगा जो उसके गिरने पर हुई हो।

भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर इसी प्रकार का पाद पोप गमन करके राजगृह नगर के गुणशीलक उद्यान में निर्वाण प्राप्त हुए थे, और उनके अन्य सैकड़ों शिष्य राजगृह के वैभार, विपुल आदि पर्वतों पर इस अनशन से मोक्ष प्राप्त हुए थे।

जैन शास्त्रानुसार यह पादपोपगमन अनशन वे ही श्रमण कर सकते हैं, जिनका संहनन वज्रऋषभनाराच हो और जिनका शरीर अंतिम हो।

भक्त परिज्ञा और इंगिनी मरण अनशन करने वाले उस प्रकार के संहनन वाले भी हो सकते हैं, और इससे हीन संहनन वाले भी। इन दो अनशनों से शरीर त्यागने वाले श्रमण प्रायः स्वर्गगामी होते हैं।

अर्थ—आशुकार-अकस्मात् बीमारी से और अनशन से मरे हुए श्रमण के देह की व्युत्सर्जन विधि कहता हूँ।

एत य काल गयमी मुणिणा सुतत्थ गहिय सारेण।
नहु रायव्व विसाओ कायव्व विहीए वोसिरण ॥३२॥

अर्थ—उक्त किसी भी कारण से श्रमण का मरण होने पर सूत्रार्थ के जानकर गीतार्थ साधु को विषाद न कर उसका विधि से व्युत्सर्जन करना चाहिये।

मृतक को विहित दिशाओं में त्यागना शुभ होता है। श्रमण देह के व्युत्सर्जन के लिये सब से उत्तम नैऋती और सब से अनिष्ट ऐशानी दिशा मानी गयी है। नैऋती के अभाव में दक्षिणा, उसके अभाव में पश्चिमा, पश्चिमा के अभाव में आग्नेयी, आग्नेयी के अभाव में वायवी, वायवी के अभाव में पूर्वा, पूर्वा के अभाव में उत्तरा दिशा मृतक के त्याग के लिये लेना चाहिए, ईशान दिशा सब प्रकार से वर्जित मानी गयी है।

"पुव्व दव्वा लोयण पुव्वि गहण च एत कडुस्स।
गच्छमि एस कप्पो अनिमित्ते होउ वक्कमण ॥३६॥
सहसा काल गय मी मुणिणा सुतत्थ गहिय सारेण।
न विसाओ कायव्वो कायव्व विहीए वोसिरण ॥३७॥

अर्थ—गच्छवासी साधुओं का यह आचार है कि, वे प्रथम से ही द्रव्य क्षेत्रादि का निरीक्षण कर रक्खे, तथा बाल, वृद्ध,

आकुल, गच्छ म किसी श्रमण क मर जान पर उसको निकालने क लिये नगन साधु को भी ले रक्खे। उक्त चीजों का आचाधन समह न किया हो और अकस्मात मर जाय तो परिस्थिति देख कर व्यवस्था की जाय। मरन वाला श्रमण आचार्यादि पद-धारी हो तो उसे दिन-विभाग में ही ले जाना चाहिये, परन्तु सामान्य साधु को मरने बाद रात्रि विभाग म भी तुरन्त त्याग देना चाहिए उसको उठाने क लिये निरसरण साधु तैयार न हो तो गृहस्थ से माग कर ले लेना चाहिय।

किसी के अकस्मात् कालधर्म प्राप्त होने पर भी सूत्रार्थ का रहस्य जानन वाले गीतार्थ साधु को उसके सम्बन्ध में खेद न कर उसका विधि पूर्वक व्युत्सर्जन करन के काम मे लगना चाहिये।

ज वल कालगओ निक्कारण कारणे भवे निरोहो।
छेयण बन्धण जग्गण काइय मत्ते य हत्थ उड्ड ॥३८॥
अन्ना विट्ठ शरीरे पता वा दर पाउ उट्ठेज्जा।
काइय डत्त हत्थण मा उट्ठे बुज्झ गुज्झगा ॥३९॥
वित्ता सेज्ज ह सेज्ज व भीम वा अट्टहास मु चेज्जा।
अभी एण तत्थ उ कायव्व विहिए वोसिरण ॥४०॥

अर्थ—श्रमण समुदाय वस्ती में ठहरा हुआ हो और कोई श्रमण काल कर और वहा सकारण या निष्कारण उस समय रात्रि को बाहर ले जाने की आज्ञा न हो अथवा नगर पर-चक्र आदि के

घिरा हुआ हो तो उस स्थिति में मृतक का अंगुष्ठ आदि शस्त्र से चीर दे और उसे स्तम्भ आदि से बाँध ले और साधु उसके पास जागते रहें, एक मात्रक में लघुनीति भर कर हाथ में रक्खे, यदि मृतक शरीर में किसी क्षुद्र दैवत सत्त्व का प्रवेश होकर अथवा विरोधी देवता के प्रयोग से मृतक उठने लगे तो बायें हाथ से लघु नीति लेकर उस पर छिड़के और बोले 'मत उठ यक्ष।' 'मत उठ यक्ष।' अगर शरीर प्रविष्ट क्षुद्र सत्त्व डराये, हँसे, अथवा भयङ्कर अट्टहास करे तो भी न डरता हुआ गीतार्थ श्रमण मृतक का विधि पूर्वक व्युत्सर्जन करे।

दोन्निय दिवड्ढ खेत्ते, दब्भ-मया पुत्तला उ कायव्वा।
सम खेतम्मि उ एक्को अवड्ढऽभीएण कायव्वो ॥४१॥

अर्थ—मृतक यदि द्वितीयार्द्ध क्षेत्रीय नक्षत्रों में मरा हो तो उस के दो, तथा समक्षेत्रीय नक्षत्रों में मरा हो एक, दर्भ का पुत्तलक बना कर उसके साथ देना, और अपार्द्ध क्षेत्रीय नक्षत्रों में पुत्तलक करने की आवश्यकता नहीं।

नयु लिकार न उत्तरा फाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपद पुनर्वसु रोहिणी और विशाखा इन छ नक्षत्रों को द्वितीयार्द्ध क्षेत्रीय, अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा पूर्वाफाल्गुनी, हस्त चित्रा अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वाभाद्रपदा और रेवती इन पन्द्रह, नक्षत्रों का समक्षेत्रीय और शतभिषा, भरणी, आर्द्रा अश्लेषा, स्वाती और ज्येष्ठा इन छ नक्षत्रों को

अपार्द्ध क्षेत्रीय कहा है। नक्षत्रों के तीन विभाग क्रमश पैंतालीस, तीस और पन्द्रह मुहूर्त्त वाले होते हैं।

सुत्तत्थ तदुभय निऊ पुरओ घेत्तूण पाण य कुसे य।
गच्छइ य जउड्ढाहो परिट्ठवेऊण आयमण ॥ ४६ ॥

अर्थ—सूत्र अर्थ और दोनों का जानने वाला श्रमण शुद्ध प्रासुक जल पात्र और कुश लेकर मृतक के आगे चलता हुआ पूर्व प्रेक्षित भूमि मे जाय और मृतक का व्युत्सर्जन करके जल से हाथ पग धोकर आचमन करे। मृतक का उठाने वाले श्रमण भी उसी प्रकार जल का उपयोग करे जिससे कि लोक-गर्हा न हो।

थंडिल वाघाएण अहवावि अणिच्छिए अणाभोगा।
भमिऊण उवागच्छे ते णेव पहेण न नियत्ते ॥ ४७ ॥

अर्थ—मृतक-व्युत्सर्जन के लिये जिस स्थण्डिल भूमि का निरीक्षण किया हो उसमें आकस्मिक बाधा उपस्थित हो जाने पर अथवा प्रथम से ही वह व्युत्सर्जन के योग्य न होने पर भी योग्य मान ली गयी हो, पर गीतार्थ की दृष्टि म वह व्युत्सर्जन करने योग्य न होने से दूसरे स्थण्डिल मे जाना पड़े तो घूमकर जाय परन्तु जिस मार्ग से आया है उसी मार्ग से वापस न लौटे।

कुस मुट्ठी एगाए अव्वोच्छिण्णाइ एत्थ धाराए।
संथार संथरेज्जा सव्वत्थ समो उ कायव्वो ॥४८॥

विसमा जइ होज्ज तणा उवरिं मज्झेव हेट्ठओ वावि।
मरणं गेलण्णं वा तिण्हपि उ निद्दिसे तत्थ ॥४६॥
उवरिं आयरियाणं मज्झे वसहाण हेट्ठि भिक्खूणं।
तिण्हपि रक्खणट्ठा सब्वत्थ समो उ कायव्वो ॥५०॥

अर्थ—मृतक विसर्जन के लिये गीतार्थ श्रमण जो कुश तृण यहा लेकर आया है, उन कुशों से प्रमार्जित स्थण्डिल भूमि पर अविच्छिन्न कुश धारा से सस्तारक करे, कुश तृण समच्छेद होने चाहिए, ताकि ऊपर से नीचे तक सस्तारक समान बन जाय किसी भी भाग में सस्तार मे विषमता न आनी चाहिए।

अगर कुश तृण उपरि भाग में, मध्य भाग मे, अथवा निम्न भाग में विषम होंगे तो क्रमशः तीन का मरण, अथवा मान्द्य होगा, ऐसा कहना चाहिए।

उपरिम भाग तृणों की विषमता से आचार्य का, मध्य भाग की विषमता से वृषभ (गच्छ की व्यवस्था करने वाला वयोवृद्ध समर्थ साधु) का और सस्तारक के निम्नभाग की विषमता से सामान्य श्रमणों का मरण होता है, इस वास्ते तीनों की रक्षा के लिये दर्भ सस्तारक सर्वत्र समान करना चाहिए।

जत्थ नत्थि तणाइं चुण्णेहिं तत्थ केसरेहिं वा।
कायव्वोत्थ ककारो हेट्ठ तकारं च बंधेज्जा ॥ ५१ ॥

अर्थ—जहा कुश तृण न मिले वहा वास चूर्ण अथवा नाग केशर से प्रमार्जित भूमि में "ककार" वर्ण लिख कर उसके नीचे "तकार" को सयुक्त करना चाहिये [१]।

जाए दिसाए गामो तत्तो सीस तु होइ कायव्व ।
उट्ठे तरक्खणट्ठा एस विही से समासेण ॥ ४२ ॥

अर्थ—शव को परिष्ठापन भूमि से जिस दिशा में ग्राम हो उस दिशा में शव का सिर करना चाहिए और विपरीत दिशा में उसके पग । शव की उत्थान की रक्षा के लिये सक्षेप मे यह विधि कही गयी है।

"चिएहट्ठा उवगरण दोसा उ भव असिव करणमि ।
मिच्छत्त सो व राया व कुणइ गामाण वह करण ॥ ४३ ॥

अर्थ—परिष्ठापित श्रमण शरीर के पास उसके उपकरण मुखवस्त्रिका, रजो हरण, चालपट्टक, ये तीन उपकरण स्थापित करने चाहिए। यथाजात उपकरणों के पास में न रखने से अधिक दोषों की आपत्ति हो सकती है। मृतक श्रमण का जीव कलवर के पास उपकरण न देखकर पूर्व भविक श्रद्धान से पतित हो जाता है। अथवा राजा आदि उसके पास साधु के चिह्नों को

---

१ पारिट्ठावणिया निज्जुत्ति' ग्रथ के प्रारम्भकाल की कृति है, उस समय के ककार और तकार को सयुक्त करने मे मनुष्य के पुतले की सी आकृति बनती थी।

न देखकर ग्राम जनों को पीड़ा देता है; इस कारण शव के पास उसके उपकरण रखने आवश्यक हैं।

वसहि निवेसण साही गाम मज्झे य गाम दार य।
अतर उज्जाणतर निसीहिया उट्ठिए वोच्छं ॥५४॥
वसहि निवेसण साही गामद्ध चेव गाम मोत्तव्वो।
मडल कंडुद्देशे निसीहिया चेव रज्ज तु ॥५५॥

अर्थ—वसति (मरण स्थान) वाड़ा, सेरी ग्राम मध्य ग्रामद्वार, ग्रामोद्यान के बीच और निषद्या (परिष्ठापन भूमि) इन स्थानों में से किसी भी एक स्थान में यक्षावेश होकर शव के उठ जाने पर श्रमणों का क्या करना चाहिये, यह आगे की गाथा में बताते हैं। वसति से वसति का, निवेशन से निवेशन का, शाखी (रथ्या) से शाखी का ग्राम मध्य से ग्रामार्द्ध का, ग्राम द्वार से ग्राम का, ग्राम और उद्यान के बीच से मण्डल-खण्ड का (मण्डल से अधिक व्यापक प्रदेश) उद्यान निषद्या के बीच से देश, और निषद्या भूमि से शव के उठने पर राज्य छोड़ कर श्रमणों को अन्य राज्य में चला जाना चाहिए।

असिवाइ कारणेहि तत्थ वसताण जस्स जोउ तवो।
अभिगहियाण भिगहियो सा तस्स उ जोग परिवुड्ढी ॥५६॥

अर्थ—रागोपद्रवादिक कारणों से साधु उस स्थान को छोड़ कर दूर न जा सके तो वहीं रहते हुए तप में योग वृद्धि कर

एकाशन करने वाले आयंबिल, उपवास करने वाले पष्ठ भक्त प्रत्याख्यान इत्यादि अभिग्रहिक अनाभिग्रहिक तप करने वाले अपने नियत तप से अधिक तप करते हुए वहा रह सकते है।

गिएहइ णाम एगस्स दोएहमहवावि होज्ज सव्वसि ।
खिप्पं तु लोयकरणं परिएणगणं भेय बारसमं ॥५७॥

अर्थ—ग्रथित शव पर दो अथवा सर्व श्रमणों का नाम पुकारे तो तत्काल उनका लोच करके शक्त्यनुसार चार, तीन दो और एक उपवास का तप कराय, और जिनके नाम वाले गये हों उनको समुदाय से जुदा कर दे।

जो जहियं सो तत्तो नियत्तइ पयाहिणं न कायव्वं ।
उट्ठाणाई दोसा विराहणा बाल वुड्ढाई ॥५८॥

अर्थ—मृतक का व्युत्सर्जन करने वाले श्रमण-जो जहा खडे हो व्युत्सर्जन विधि पूरी करने बाद वहीं से अपने स्थान की तरफ लौट जाय, शव को भूल चूक से भी प्रदक्षिणा न करे, क्योंकि ऐसा करने से उत्थानादि का दोष सम्भावित होने से बाल, वृद्ध, आकुल श्रमण समुदाय को हानि पहुंचने का भय रहता है।

उट्ठाइ दोसा उ होंति तत्थेव काउसग्गमि ।
आगमणुवस्सय गुरु सगासे विहिए उस्सग्गो

शरीर व्युत्सर्जन स्थान से जिस दिशा में खींचा हुआ अखण्डित शव दीखे उस दिशा में शास्त्र जानने वाले विद्वान् निरुपद्रवता और सुभिक्षता बताते हैं।

एत्थ य थल करणे विमाणियो जोइसियो वाणमतर समंमि।
गड्डाए भवणवासी एस गई से समासेण ॥६३॥

अर्थ—मृतक शरीर का जिस स्थल में व्युत्सर्जन किया है, उससे ऊँचे भूमि भाग में दूसरे दिन पड़ा पाया जाय तो मरने वाला वैमानिक अथवा ज्योतिष्क देवों की गति में गया ऐसा समझा जाता है। यदि वह निम्न गड्ढे में पड़ा हुआ दीखे तो उसका जीव भवन-पति देवों के निकाय में उत्पन्न हुआ माना जाता है, और शरीर व्युत्सर्जन स्थान के समतल भूमि भाग में पाया जाय तो वह वानमन्तर देवों के निकाय में उत्पन्न हुआ, ऐसा माना जाता है।

जैन श्रमण के विषय में बहुत कुछ लिखा जा सकता है, स्नातक आदि पाँच प्रकार के श्रमणों का निरूपण, पारिहारिक आदि तप साधकों का विवेचन आदि बहुत से विषय हमने छोड़ दिये हैं क्योंकि जैन श्रमण के सम्बन्ध की सभी बातें लिखने से यह एक अध्याय ही एक बड़ा ग्रन्थ बन जाता और ग्रंथ के एक अध्याय अथवा एक खण्ड में अतिविस्तार करना उचित नहीं माना जाता।

मैं आशा करता हूँ जैन श्रमण के सम्बन्ध में जो कुछ ऊपर

लिखा है, उससे पाठकगण यदि किंचित् जानकारी प्राप्त करेंगे तो लेखक अपना परिश्रम सफल हुआ मानेगा।

निर्ग्रन्थश्रमणाचार-तपोविधि-निरूपकः।
मानवाचारमीमांसाध्यायः पूर्णश्चतुर्थकः॥

इति निर्ग्रन्थश्रमणाचारतपश्चतुर्थोऽध्यायः।

मानव भोज्य मीमांसा

पंचम अध्याय

(५)

अनारम्भी वैदिक परिव्राजक

त्यक्तकर्मकलापेन विवर्णवस्त्रधारिणा ।
परिव्राजा जितं संग-वारिणा वनचारिणा ॥

अर्थ —सर्व कर्मों का त्याग करके विवर्ण वस्त्रधारी, और ग्राम-नगरों का संग छोड़ कर अनियत अटवी वनों में विचरने वाले परिव्राजक ने संसार में विजय प्राप्त किया ।

पूर्व भूमिका

वैदिक धर्म में मनुष्य के आगे बढ़ने के लिये एक क्रम है, जिसको शास्त्रकारों ने आश्रम इस नाम से निर्दिष्ट किया है ।

आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम।

१—लगभग आठ वर्ष की उम्र में बालक का उपनयन संस्कार करके उसे विद्या गुरु के स्वाधीन कर दिया जाता था। वहां रह कर बालक आश्रम की समय-मर्यादा तक ब्रह्मचर्य पालन के साथ आश्रम सम्बन्धी नियम को पालता हुआ शास्त्राध्ययन करता था। वेद वेदाङ्गादि सर्व शास्त्रों का ज्ञाता बन कर वह स्नातक हो गुरु-दक्षिणा प्रदान करके अपने घर जाता। स्नातक होने के बाद जब तक उसका विवाह नहीं होता तब तक वह स्नातक के रूप में रहता और स्नातक के नियमों का पालन करता।

२—विवाह हो जाने के बाद वह गृहस्थाश्रमी कहलाता और गृहस्थोचित धार्मिक तथा व्यावहारिक कार्य करने का अधिकारी बनता।

३—गृहस्थाश्रम का पालन करते हुए उसे विशेष धार्मिक साधना करने की इच्छा होती तब गृहस्थाश्रम के कार्य अपने पुत्रों पर छोड़ कर वह सपत्नीक अथवा अकेला बन में जाकर आश्रम बांध कर वहां रहता और अपने नित्य कर्म करता।

४—वानप्रस्थ स्थिति में रह कर तपस्या देवता पूजन, आदि धार्मिक कार्य करते करते जब उसे विशेष त्याग और वैराग्य भावना उत्पन्न हो जाती तब वह सर्व अनुष्ठानों को छोड़ कर निस्संग और निस्स्पृह सन्यासी बन कर चला जाता। येही वैदिक

धर्म में ऊपर चढ़ने के सोपान हैं-जिनका वैदिक धर्म साहित्य में आश्रम इस नाम से वर्णन किया गया है।

उक्त प्रत्येक आश्रम में पहुंच कर आश्रमी को क्या क्या कार्य करने पड़ते हैं उन सब का यहां निरूपण करना हमारे उद्देश्य के बाहर है अतः प्राथमिक तीन आश्रमों का दिग्दर्शन मात्र कराके हम चतुर्थाश्रम पर जायेंगे।

ब्रह्मचारी

हारीतस्मृति के निम्नश्लोकों में ब्रह्मचारी का निरूपण किया गया है।

अजिनं दन्तकाष्ठश्च, मेखलाश्चोपवीतकम्।
धारयेदप्रमत्तश्च, ब्रह्मचारी समाहितः॥
सायं प्रातश्चरेद् भैक्ष्यम्, भोज्यार्थं संयतेन्द्रियः।
आचम्य प्रयतो नित्यं, न कुर्याद् दन्तधावनम्॥
छत्रं चोपानहञ्चैव, गन्धमाल्यादि वर्जयेत्।
नृत्यं गीतमथालापं, मैथुनं च विवर्जयेत्॥
हस्त्यश्वारोहणञ्चैव, संत्यजेत् संयतेन्द्रियः।
सन्ध्योपास्तिं प्रकुर्वीत, ब्रह्मचारी व्रत-स्थितः॥

अर्थ —ब्रह्मचारी मानसिक समाधि को न खोता हुआ प्रमाद रहित होकर अपने पास मृगचर्म, दण्ड, मेखला और यज्ञोपवीत रक्खे अर्थात् धारण करे।

ब्रह्मचारी इन्द्रियों को वश में रख कर भोजन के लिये प्रातः और सायंकाल भिक्षाचर्या करे, हमेशा भोजन के पूर्व जल से आचमन करे पर दातुन न करे।

ब्रह्मचारी छाता, जूता, सुगन्धि पदार्थ, पुष्प-माला आदि का त्याग करे और नाच, गान, आलाप आदि के जलसों में न जाय और मैथुन का त्याग करे।

व्रतस्थित इन्द्रियों का संयम रखने वाला ब्रह्मचारी हाथी घोड़ों पर न चढ़े, और सन्ध्योपासना अवश्य करे।

ब्रह्मचारी के नियमों के विषय में सवर्त स्मृतिकार कहते हैं।

उपनीतो द्विजो नित्यं, गुरवे हितमाचरेत् ।
स्रगन्ध-मधुमांसानि, ब्रह्मचारी विवर्जयेत् ॥
ब्रह्मचारी तु योऽश्नीया-न्मधुमांसं कथञ्चन ।
प्राजापत्यं तु कृत्वाऽसौ, मौञ्जीहोमेन शुद्ध्यति ॥

अर्थ—उपनयन प्राप्त ब्राह्मण नित्य गुरु के हित में प्रवृत्ति करे और जब तक ब्रह्मचर्याश्रम में रहे तब तक पुष्पमाला, सुगन्धि तैल आदि तथा मधु मांस का त्याग करे।

जो ब्रह्मचारी किसी भी प्रकार से मधु मांस का भक्षण करे तो वह प्राजापत्य का प्रायश्चित कर मौञ्जी होम करने से शुद्ध होता है

वसिष्ठ धर्म शास्त्र में ब्रह्मचारी के भोजन करने का समय—

"चतुर्थ षष्ठाष्टम काल भोजी" ॥८॥

अर्थ—ब्रह्मचारी दिवस के चतुर्थ, षष्ठ, अष्टमांश में भोजन करने वाला होता है।

उपनीत द्विज के पालने योग्य व्रत बोधायन गृह्य सूत्र में—

मधु मास श्राद्ध सूताग्न मनिर्देशाह सद्धिनी क्षीर छत्राक यासौ विलयन गणान्न गणिकान्नमित्यतेषु पुन संस्कार ।

अर्थ—मधुभक्षण मांसभोजन, श्राद्धान्न भोजन, सूतक वाले (का ?श दिन के अन्दर भोजन ऊँटनी का दूध, छत्राक, वृक्ष निर्यासरस, विलयन, गण या अन्न और गणिका का अन्न ये भी उपनीत द्विज के लिये अभक्ष्य हैं। इन का भक्षण करने पर र संस्कार करना चाहिए।

मेगास्थनीज का ब्रह्मचर्याश्रम वर्ण

ग्रीक यात्री विद्वान् मेगास्थनीज ने द्विजाति के आर्यों द्वारा ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन नीचे अनुसार किया है।

"जन्म के बाद शिशु एक के बाद दूसरे मनुष्य के ?कत्व में रहता है और जैसे जैसे वह बढ़ता है वैसे वैसे उस शिक्षक अधिक योग्य नियत किये जाते हैं। दार्शनिकों का गृह ?र के सामने एक कुञ्ज में सामान्य हाते के भीतर होता है। व ? सरल रीति से रहते हैं और कुश या चर्म के आसन पर सोते । व मांस भोजन नहीं करते और सम्भोग सुख से अपने को ?ंत रखते हैं। वे गूढ़ विषयों पर कथोपकथन करने में और ताओं को ज्ञान प्रदान करने में अपना समय व्यतीत करते हैं। ता बोलने या खांसने नहीं पाता थूक कहां तक फेंक सकता है। ?ैर यदि वह ऐसा करता है तो उसी दिन संयमी नहीं होने के

कारण जाति के बाहर कर दिया जाता है। इस प्रकार तेतीस वर्षों तक रह कर प्रत्येक मनुष्य अपने घर चला आता है। जहां वह सुख और शान्ति के साथ अवशिष्ट जीवन व्यतीत करता है।"

गृहस्थाश्रमी

गृहस्थाश्रमी तीन प्रकार के होते हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। इन तीनों के कर्त्तव्य भिन्न भिन्न होने पर भी कतिपय ऐसे गुण हैं जो सभी में होने आवश्यक माने गये हैं। जैसे—

दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेति।

अर्थ—सर्व प्राणियों के ऊपर दया, क्षमा का गुण, ईर्ष्या का *अभाव, पवित्रता, श्रम का अभाव, मङ्गल स्वरूपता, कृपणता का* अभाव, निस्पृहता ये आत्मा के स्वाभाविक गुण होते हैं, जो सभी आश्रमवासियों में अपनी स्थिति के अनुरूप इनका होना आवश्यक माना गया है।

गृहस्थ ऋतुकाल के अतिरिक्त स्त्री के पास न जाय ऐसा आपस्तम्बीय धर्मसूत्र कहता है। यथा—

ऋतुकाल एव वा जायामुपेयात्

अर्थात्—ऋतु काल में ही गृहस्थ अपनी स्त्री के पास जाय।

ब्राह्मण गृहस्थाश्रमी के कर्म

वसिष्ठ स्मृति में लिखा है—

षट् कर्माणि ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापन यजन याजन दान प्रति ग्रहश्च।

अर्थ—ब्राह्मण के षट् कर्म ये हैं–अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह।

इन षट् कर्म करने के योग्य न होने की दशा में ब्राह्मण अपनी जीविका क्षत्रिय अथवा वैश्य कर्म से चला सकता है। वैश्य कर्मों में से उसके लिये वाणिज्य करना ठीक माना गया है, वाणिज्य में वह किन किन चीजों का वाणिज्य न करे इस सम्बन्ध में गौतम धर्मसूत्रकार लिखते हैं।

तस्यापण्यम् ॥८॥ किं तदपण्यमित्यत आह-गन्ध रस-कृतान्न तिल शाण क्षौमाजिनानि ॥९॥ रक्त निर्णिक्ते वाससी ॥१० ॥ क्षीर सविकारम् ॥११ मूल फल पुष्पौषध मधु मांस तृणोदकापथ्यानि ॥१२॥ पशवश्च हिंसा सयोग ॥१३॥

अर्थ—ब्राह्मण के लिए यह अविक्रेय है, वह अविक्रेय क्या है सो कहते हैं–गन्ध (सुगन्धि चूर्ण सुगन्धि तैल आदि) रस–(घृत तैल मद्य आदि) कृतान्न (पकाया हुआ अन्न) तिल शण निर्मित वस्त्र, क्षौम–अतसी मय वस्त्र, चर्म, पक्क रक्त रंग से रंग हुए वस्त्र दूध, दुग्ध विकार (खोवा पायस आदि) मूल–मूली बटाटा आदि फल पुष्प, औषधियां, शहद, मांस घास जल अपथ्य पशु (जिसको देने से हिंसा का सम्भव हो) ये सभी पदार्थ वैश्यवृत्ति करने वाले ब्राह्मण के लिये अविक्रेय हैं।

क्षत्रिय के कर्त्तव्य कर्म

क्षत्रिय के कर्त्तव्य कर्म के सम्बन्ध में वसिष्ठ कहते हैं—

त्रीणि राजन्यस्याध्ययनं यजनं दानं शस्त्रेण च प्रजापालनं स्वधर्मस्तेन जीवेत् ।

अर्थ—क्षत्रिय के तीन कर्म हैं पढ़ना, यज्ञ तथा दान और शस्त्र से प्रजापालन करना उसका धर्म है, उस धर्म से अपना जीवन बिताना चाहिए ।

वैश्य के कर्त्तव्य कर्म

वैश्य के कर्त्तव्य कर्म के सम्बन्ध में वसिष्ठ लिखते हैं—

"एतान्येव त्रीणि वैश्यस्य कृषिवाणिज्यपाशुपाल्यकुसीदानि च"

अर्थ—क्षत्रिय के तीन कर्म ही वैश्य के भी होते हैं, इनके अतिरिक्त खेती, व्यापार, पशुपालन और व्याज बट्टा उपजाना ये चार कर्म भी वैश्य के कर्त्तव्य हैं ।

"अजीवन्त स्वधर्मेणान्यतरां पापीयसीवृत्ति मातिष्ठेरन्न तु कदाचिज्ज्यायसीम्" ॥

अर्थ—अपने अपने धर्म से निर्वाह न होने पर निम्न आश्रमी की किसी एक वृत्ति का आश्रय ले न कि उच्च वृत्ति का अर्थात ब्राह्मण अपने धर्म से निर्वाह न होने पर क्षत्रियादि की वृत्ति ग्रहण कर सकता है । क्षत्रिय अपनी आजीविका के लिये वैश्यवृत्ति

धारण कर सकता है, न कि ब्राह्मणवृत्ति। वैश्य निर्वाह के लिये शूद्र का कर्त्तव्य कर सकता है न कि ब्राह्मण क्षत्रिय का।

वसिष्ठस्मृतिकार कहते हैं—

"तृणभूम्यग्न्युदकवाक्सूनृतानसूया सत गृहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन कदाचनेति"

अर्थ —गृहस्थाश्रमी के घर में इन सात बातों का कभी अभाव नहीं होता। वह अपने घर आगन्तुक अतिथि का आसन प्रदान करता है, बैठने को जगह बताता है, पानी के लिये जल अर्पण करता है, सूँघने के लिये अगरबत्ती सुलगाता है, मधुर वचनों से स्वागत करता है, सचाई से बातें करता है, और किसी प्रकार का ईर्ष्याभाव नहीं रखता है।

ब्राह्मण की विशेषता

यद्यपि वैदिक धर्म के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ये चारों अधिकारी माने गये हैं, फिर भी इन में ब्राह्मण की विशिष्टता है, क्योंकि वह धर्म का अध्यापक और वैदिक धर्म का नियामक प्रमुख स्तम्भ है।

वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम नष्ट प्रायःतर होने पर भी वेदविहित धर्म में ब्राह्मण का स्थान असाधारण है इसमें कोई शंका नहीं। तृतीय चतुर्थ आश्रमी [illegible] ों में रहते हुए अपने [illegible] कार्य बजाते हैं [illegible] मी सन्यासी

अपने नियम पालन के उपरान्त दार्शनिक चर्चाओं में काल व्यतीत करते हैं।

ब्राह्मण गृहस्थ होने के कारण गृह व्यवस्था तो करता ही है, परन्तु इसके अतिरिक्त वह वैदिक धर्म की सेवा भी सर्वाधिक करता है। वेदों का अध्ययन अध्यापन, वेदोक्त धार्मिक अनुष्ठानों का करना करवाना, और अपनी धार्मिक संस्कृति का प्रचार ये सब ब्राह्मण पर ही अवलम्बित हैं।

वेद, ब्राह्मण, श्रौतसूत्र, धर्मसूत्रों गृह्यसूत्र, स्मृतिशास्त्रों और पुराणों के रचयिता ब्राह्मण ही हैं। वर्त्तमान वैदिक-साहित्य में से यदि ब्राह्मण कृतियों को पृथक् कर दिया जाय तो पीछे क्या रहेगा इस का विद्वान् पाठक गण स्वयं विचार कर सकते हैं।

आज के अदूरदर्शी कतिपय विचारक विद्वानों की दृष्टि में ब्राह्मण स्वार्थी प्रतीत होता है। वे कहते हैं ऊँच नीच का भेद ब्राह्मणों ने ही बनाया है, और इस प्रकार आप सर्वोच्च बन कर दूसरी जातियों से अपना स्वार्थ सिद्ध करने की चाल चली है।

हमारी राय में ब्राह्मण पर किये गये उक्त प्रकार के आक्षेप कुछ भी प्रामाणिकता नहीं रखते।

अपने मुख से अपना गौरव बताने वाला कभी गौरव प्राप्त नहीं कर सकता। गौरव उसी को मिलता है जो गौरवार्ह होता है। विद्यापठन और पाठन, धार्मिक अनुष्ठान करना और करवाना, पात्र को देना और स्वयं पात्र बनकर लेना, ब्राह्मणों को इन

विशिष्टताओं ने ही उन्हें विशिष्ट स्थान प्राप्त करवाया था। विद्वान् ब्राह्मण वर्ग से उतरा दर्जा क्षत्रियों को मिला, इसका कारण ब्राह्मण नहीं पर क्षत्रिय स्वयं थे, क्योंकि क्षत्रिय ब्राह्मणों को गुरु मान कर अपने ऐहिक तथा पारलौकिक हितकारी कार्यों के सम्बन्ध में ब्राह्मणों की सलाह लेते और वे उनको धार्मिक तथा व्यावहारिक मार्ग बताते और उन मार्गों पर चलने का उपदेश देते, इस प्रकार ज्ञान बल से ही ब्राह्मणों ने मानव समाज में उच्च स्थान प्राप्त किया था। उन्होंने अपनी जाति को ज्ञान प्राप्ति और सदाचरण में अग्रसर होने की हमेशा प्रेरणा की है। जातिमात्र से उच्च बन कर समाज के अगुआ बनने की विद्वान् ब्राह्मणों ने कभी हिमायत नहीं की प्रत्युत ज्ञान तथा सदाचारादि गुण विहीन ब्राह्मणों को फटकारा अवश्य है। जिन्होंने वैदिक-धर्म के सूत्र स्मृत्यादि ग्रन्थों का अध्ययन किया है वे तो यही कहेंगे कि ब्राह्मणों ने पोल चलाने और इतर जन समाज को ठगने की कभी प्रवृत्ति नहीं की। इस सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों के कुछ उद्धरण देकर इस विषय पर हम प्रकाश डालेंगे।

वसिष्ठधर्म शास्त्र में ब्राह्मण लक्षण

"योगस्तपो दमो दान सत्य शौच श्रुत घृणा।
विद्या विज्ञान मास्तिक्यमेतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥२१॥

"वसिष्ठ धर्मशास्त्र"

अर्थ—याग तप, इन्द्रिय दमन, दान, सत्य पवित्रता, ज्ञान, दया, विद्या, विज्ञान और श्रद्धालुता ये सब ब्राह्मण के लक्षण हैं।

वसिष्ठ स्मृति में ब्राह्मणों की तारकता

सर्वत्र दान्ता. श्रुतिपूर्णकर्णा जितेन्द्रिया प्राणिवधान्निवृत्ता.।
प्रतिग्रहे सकुचिता गृहस्थास्ते ब्राह्मणास्तारयितुं समर्था ॥

अर्थ—सर्वत्र चित्तवृत्तियों का दमन करने वाले, वेद श्रवण करने वाले, जितेन्द्रिय, जीवहिंसा से दूर रहने वाले, दान लेने में सकोच रखने वाले, ऐसे गृहस्थाश्रमी ब्राह्मण ससार-समुद्र से तारने को समर्थ होते हैं।

वशिष्ठस्मृति में पात्र लक्षण

स्वाध्यायाढ्य योनिमित्र प्रशान्त चैतन्यस्थ पापभीरु बहुज्ञम् ।
स्त्रीमुक्तान्त धार्मिक गोशरण्य व्रत क्षान्त तादृश पात्रमाहु ।२६

"वसिष्ठ स्मृति"

अर्थ—जो स्वाध्याय में लीन, ब्रह्मचारी, शान्तिमान हरेक कार्य में चेतनावान पाप से डरने वाला, अनेक शास्त्रों का ज्ञाता, स्त्रियों की निकटता से मुक्त, धार्मिक, गायों आदि प्राणियों का प्रतिपालक, व्रत नियमों के प्रतिपालन से शरीर में दुर्बल, इस प्रकार के ब्राह्मण को पात्र कहा है।

अभयदायी ब्राह्मण

अभय सर्वभूतेभ्यो, दत्वा चरति यो द्विज ।
तस्यापि सर्वभूतेभ्यो, न भय जातु विद्यत ॥१॥

'वसिष्ठ स्मृति"

अर्थ —सब प्राणियों का अभयदान देकर जो ब्राह्मण पृथिवी पर फिरता है, उसको सर्व प्राणियों से कहीं भी कोई भय नहीं होता ।

ऊपर लिखित पद्यों में ब्राह्मणों के उत्तम गुण और लक्षणों का किञ्चित् निरूपण किया है। ऐसे गुण लक्षण समन्वित ब्राह्मण गृहाश्रमी होते हुए भी ऋषि कहलाते और बड़े बड़े राजा तक इनके चरणों में शिर झुकाते थे, और उन्हीं का बनाया हुआ शास्त्र धार्मिक सिद्धान्त बन जाता था।

जिस प्रकार ब्राह्मणों ने अपने मन्थों में गुणवान् ब्राह्मणों की प्रशंसा की है, उसी प्रकार गुणहीन और ब्राह्मणत्व विरुद्ध कर्म करने वाले ब्राह्मणों की निन्दा भी की है।

अत्रिस्मृति में ब्राह्मणों का उनके कर्मानुसार दश उपमाओं से वर्णित किया है।

देवो मुनिर्द्विजो राजा, वैश्य शूद्रो निषादक ।
पशुर्म्लेच्छोऽपि चाण्डालो, विप्रा दशविधा स्मृता ॥३६०॥

अर्थ—देव, मुनि, द्विज, राजा, वैश्य, शूद्र, निषाद, पशु, म्लेच्छ, और चाण्डाल ऐसे दश प्रकार के ब्राह्मण कहे गये हैं।

सध्या स्नान जप होम, दवतानित्यपूजनम् ।
अतिथि वैश्वदेव च, दव ब्राह्मण उच्यते ॥३७१॥
शाके पत्रे फले मूले, वनवासे सदा रत ।
निरतोऽहरह श्राद्धे, स विप्रो मुनिरुच्यते ॥३७२॥
वेदान्त पठते नित्य, सर्व-सग परित्यजेत् ।
साख्ययोग विचारस्थ, स विप्रो द्विज उच्यते ॥३७३॥
अस्त्राहताश्च धन्वाना, सग्रामे सर्व सम्मुखे ।
आरम्भे निर्जिता येन, स विप्र क्षत्र उच्यते ॥३७४॥
कृषिकर्म रतो यश्च, गवा च प्रतिपालक ।
वाणिज्य-व्यवसायश्च, स विप्रो वैश्य उच्यते ॥३७५॥
लाक्षालवण-सम्मिश्र, कुसुम्भ क्षीर-सर्पिष ।
विक्रेता मधु-मासाना, स विप्र शूद्र उच्यते ॥३७६॥
चोरकस्तस्करश्चैव, सूचको दशकस्तथा ।
मत्स्यमासे सदा लुब्धो, विप्रो निषाद उच्यते ॥३७७॥
ब्रह्मतत्त्व न जानाति, ब्रह्मसूत्रेण गर्वित ।
तेनैव स च पापन, विप्र पशुरुदाहृत ॥३७८॥
वापी-कूप-तडागाना-मारामस्य सरस्सु च ।
निश्शङ्करोधकश्चैव, स विप्रो म्लेच्छ उच्यते ॥३७९॥

क्रिया-हीनश्च मूर्खश्च, सर्वधर्म-विवर्जित ।
निर्दय सर्वभूतेषु, विप्रश्चाण्डाल उच्यते ॥३८०॥

अर्थ —सन्ध्यावन्दन, जप होम नित्य देवता-पूजन अतिथि सत्कार, और वैश्वदेव इन कर्मों को करने वाला ब्राह्म देव ब्राह्मण कहलाता है।

शाक, पत्र, फल, मूल, पर निर्वाह करने वाला, निरन्तर वनवास में रहने वाला, और प्रति दिन श्राद्ध करने म तत्पर रहने वाला मुनि ब्राह्मण कहलाता है।

जो वेदान्त शास्त्र को नित्य पढ़ता है, सर्व सग का त्याग करता है, और सांख्ययोग क विचार म तत्पर रहने वाला ब्राह्मण द्विज कहलाता है।

अस्त्र से प्रहत धनुर्धारियों को जिसने संग्राम म सर्व के सामने पराजित किया है ऐसा ब्राह्मण क्षत्र ब्राह्मण कहलाता है।

खेती बाड़ी करने वाला गौओं का पालक और व्यापार करने वाला ब्राह्मण वैश्य कहलाता है।

लाख, नमक, कुसुम्भ, दूध घी, मधु, और मांस इनका बेचने वाला ब्राह्मण शूद्र कहलाता है।

चोर, लुटेरा, चोरों को सूचना करने वाला, दशक (काटने वाला) मत्स्य-मांस भक्षण में आसक्त ऐसा ब्राह्मण निषाद कहा जाता है।

ब्रह्मतत्त्व को न जानते हुए भी यज्ञोपवीत से गर्वित बना हुआ ब्राह्मण अपने इसी पाप से पशु कहलाता है।

वापी, कूप, तालाब, आरामस्थ सरोवर, इन स्थानों मे जाने वालों को निश्शङ्क होकर रोकने वाला ब्राह्मण म्लेच्छ ब्राह्मण कहलाता है।

क्रिया विहीन, मूर्ख सर्वधर्मों से वर्जित और सब जीवों पर निर्दय ब्राह्मण चाण्डाल ब्राह्मण कहलाता है।

उपर्युक्त वर्णनानुसार ब्राह्मण अपने कर्त्तव्यों के अनुसार ही भले बुरे कहलाते थे, न कि ब्राह्मण जाति मे जन्म लेने से ही सब उत्तम माने जाते थे। ब्राह्मणों का यह वाक्य तो सर्व प्रसिद्ध है कि—' न मना जायते शूद्र ' अर्थात् ब्राह्मण के कुल में जन्म लेने वाला भी तब तक शूद्र ही होता है, जब तक कि उसका सम्कार नहीं होता। इन सब बातों का साराश इतना ही है कि पूर्वकाल मे ब्राह्मण उनके शुभ कर्त्तव्य कर्मों से ही पूज्य माने जाते थे, न कि जाति मात्र से। इसके विपरीत अन्य जातीय सस्कारी मनुष्य भी ब्राह्मण के कर्त्तव्य कर्म करता और ब्राह्मण वृत्ति रखता तो वह भी काला तर मे ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो सकता है। इस विषय मे व्यास का निम्नोक्त वचन ध्यान मे रखने योग्य है।

व्यास जी कहते हैं —

न जाति. कारण तात ! गुणाः कल्याणकारणम्।
वृत्तस्थमपि चाण्डाल, त देवा ब्राह्मण विदु ॥

अथ—इ हुम्र जाति कल्याण का कारण नहीं है, किन्तु गुण ही कल्याण के कारण होते हैं, सदाचारी और ब्राह्मण के अन्न में रहे हुए चाण्डाल को भी देव ब्राह्मण मानते हैं।

क्षत्रिय जाति बाहुबली और शस्त्रधारी होने के कारण बहुधा मृगया, मांस-भक्षण और सुरा-पान के व्यसनों में अग्रसर हो रही थी, उस समय में विद्वान् ब्राह्मणों ने उसे बचाने के लिये यज्ञ यागादि प्रवृत्तियों में डाल कर उसे पतन से बचाया। यदि ब्राह्मण जाति न होती तो हमारा क्षत्रिय वर्ग आज अनार्य मांस भक्षी और जंगली लोगों से भी निम्नकोटि में पहुँच गया होता, परन्तु ब्राह्मण जाति की बदौलत आज के हमारे क्षत्रिय लोग आर्य बने हुए हैं, और अपने को वैदिक धर्म का अनुयायी होनेका गौरव रखते हैं। यही कारण है कि प्राचीन ग्रन्थकारों ने, राजा के पास पुरोहित होना अनिवार्य माना है।

एतरेय ब्राह्मणकार लिखते हैं—

न हिवाऽअपुरोहितस्य राज्ञो देवा अन्नमदन्ति, तस्माद्राजा यक्ष्यमाणो ब्राह्मणं पुरोदधीत + + + + । ० ० ० ० यस्यैव विद्वान् ब्राह्मणो राष्ट्रगोपः पुरोहितस्तस्मै विश संजानते, सम्मुखा एक मनसा यस्यैव विद्वान् ब्राह्मणो पुरोहित ॥२५॥

अ० ८० ख० ५

अर्थ—जिसके पास पुरोहित नहीं है, उसका अन्न देव नहीं खाते, इस वास्ते [illegible] राजा पुरोहित को अग्रसर करे

जिस राजा के इस प्रकार का विद्वान् और राष्ट्र का बचाने वाला पुरोहित होता है, उस राजा की प्रजाजन प्रतिष्ठा करते हैं, और जिसके यहां राष्ट्र को बचाने वाला विद्वान् पुरोहित होता है उसके प्रजाजन एक मन के होकर राजा की आज्ञा उठाते हैं।

"जिसके पुरोहित नहीं है उस राजा का अन्न देव नहीं खाते हैं। इस कथन का अर्थ उलटा भी किया जा सकता है कि यह बात ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थ के लिये कही है परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है, ब्राह्मणों को राजा की निश्रा में रह कर उसे धार्मिक बनाये रखना है और पशुपक्षियों की हिंसा से तथा अभक्ष्य भक्षण से बचाना है। यदि राजा पुरोहित का अपना हितचिन्तक और पारलौकिक मार्गदर्शक न मानते तो उनकी प्रवृत्तियां निरंकुश और खान-पान अमर्यादित हो जाते और परिणाम यह होता कि क्षत्रिय जाति से धर्म का नाम विदा ले लेता, परन्तु विद्वान् ब्राह्मणों ने ऐसा होने नहीं दिया, वे निरर्थक हिंसा के बुरे परिणाम को उन्हें सुनाया करते थे और प्रायश्चित्त देकर पाप-प्रवृत्तियों से निवृत्ति कराते रहते थे।

यहां हम निरर्थक हिंसा करने वालों को तथा अभक्ष्य भक्षण और अपेयपान करने वालों को दिये जाने वाले प्रायश्चित्तों का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराके इस विषय को पूरा करेंगे।

वसिष्ठ धर्मशास्त्रोक्त हिंसाप्रायश्चित्तानि

गाघ्नं दृढ यात् तस्याश्चर्मणार्द्रेण परिवेष्टितः षण्मासान् कृच्छ्र तप्तकृच्छ्र वा तिष्ठत् ॥१८॥

अर्थ—गोहत्या करने वाला उसके खाल चमड़े से शरीर को ढिंद कर कृच्छ्र अथवा तप्तकृच्छ्र प्रायश्चित्त करके छः मास तक रहने से शुद्ध होता है।

श्वमार्जारनकुलसर्पदुर्दुर-मूषिकान् हत्वा कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेत् किञ्चिद् दद्यात् ॥२४॥

अर्थ—कुत्ता बिल्ली, नौवला, साप, मेढक, चूहा इनका मारने वाला बारह रात-दिन तप्तकृच्छ्र कर और कुछ दान भी दे।

अनस्थिमतां तु सत्वानां गामात्रं राशिं हत्वा कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेत् किञ्चिद् दद्यात् ॥२५॥

अर्थ—अस्थिविहीन कीट पतङ्गों का मार कर गोप्रमाण (खड़ी रही गोप्रमाण ऊंचा) ढेर करने वाला द्वादश रात्रि तक कृच्छ्र करने पर कुछ दान देने से शुद्ध होता है।

अस्थिमतां त्वेकैकम् ॥ २६ ॥

अर्थ—हड्डी वाले एक एक प्राणी को मारने वाले की द्वादश रात्र कृच्छ्र करने से और कुछ दान से शुद्धि होती है।

गौतमधर्मसूत्रोक्तप्रायश्चित्तानि

क्रव्यादांश्च मृगान् हत्वा, धेनुं दद्यात्पयस्विनीम्।
अक्रव्यादान् वत्सतरीं मुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णगाम् ॥१॥

अर्थ—मांसभक्षक मृगों को मार दे तो दूध देने वाली गौ का दान देने से शुद्ध होता है, तृणभक्षक मृगों को मार दे तो

का दान देने से शुद्धि होती है, और ऊँट को मार दे तो कृष्ण गौ का दान देने से मारने वाला शुद्ध होता है।

मण्डूकनकुलकाकठिम्बदहरमूषिकश्वहिंसासु च ॥ २१ ॥
(भाष्यांश)—एतेषां समुदायवधे शूद्रहत्याव्रतं चरेत् इति द्रष्टव्यम्।

मार्जारनकुलौ हत्वा, चाषं मण्डूकमेव च।
श्वगोधोलूककाकांश्च, शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥१॥
हत्वा हंसं बलाकं च, बकं बर्हिणमेव च।
वानरं श्येनभासौ च, स्पर्शयेद् ब्राह्मणाय गाम् ॥२॥
हिंसानां च मयूराणां, जलस्थानां च पक्षिणाम्।
कर्पानां श्येनभासानां, वधं दद्यात् पयो द्विज ॥३॥
गर्दभाजाविकानां तु, दण्डः स्यात्पञ्चमाषकः।
माषिकस्तु भवेद् दण्डः, श्वशूकर निपातने ॥४॥
सर्पे लोहदण्डः ॥२७॥

अर्थ —मेंढक, नौंवला, कौआ, ठिम्ब, छोटा चूहा इन की सामुदायिक हिंसा में शूद्रहत्या के प्रायश्चित्त का व्रत करना चाहिए।

बिल्ली, नौंवला, चाष पक्षी, मेंढक, कुत्ता, गोह, उलूक, कौआ इन को मार दे तो शूद्रहत्या का प्रायश्चित्त करे।

हंस, बलाका, बगुला, मोर, बन्दर, बाज, भास पक्षी, इनकी हत्या कर देने पर ब्राह्मण को गोदान करने से शुद्धि होती है।

हंस, मोर, जल में रहने वाले पक्षी, बन्दर, बाज, भास पक्षी का वध करने पर द्विजाति एक रुपया दण्ड दे।

गधा, बकरी, भेड़, इन की हत्या की जाने पर पाँच माशा सुवर्ण का दण्ड करना और कुत्ता तथा सुअर का वध करने पर एक माशा सुवर्ण का दण्ड देना।

साँप की हत्या में कृष्णलोह दण्ड का देना चाहिये।

संवर्त्त स्मृति में हत्या का प्रायश्चित्त

चक्रवाकं तथा क्रौञ्चं, शारिकाशुकतित्तिरीन्।
श्येनगृध्रानुलूकांश्च, पारावतमथापि वा ॥१४७॥
टिट्टिभं जालपादञ्च, कोकिलं कुक्कुटं तथा।
एषां वधे नरः कुर्यादेकरात्रमभोजनम् ॥१४८॥

अर्थ—चकवा, क्रौञ्च, मैना, शुक तीतर बाज, गिद्ध, उलूक, कबूतर, टिट्टिभ, जालपाद पक्षी, कोयल और मुर्गा इन में से किसी एक की हत्या कर देने पर एक उपवास से शुद्ध होता है

पराशर स्मृति में पक्षिहत्या का प्रायश्चित्त

क्रौञ्चसारसहंसांश्च, चक्रवाकं च कुक्कुटम्।
जालपादं च शरभं, हत्वाऽहोरात्रतः शुचिः ॥३२॥
बलाका टिट्टिभौ वापि, शुकपारावतावपि।
अटीनबकघाती च, शुध्यतेऽनक्तभोजनात् ॥३३॥

अध्या० ६

हत्वा मूषकमार्जार–सर्पाजगरडुभान् ।
कृशरं भोजयेद् विप्रान्, लोहदण्डं च दक्षिणाम् ॥९॥
शिशुमारं तथा गोधां, हत्वा कूर्मञ्च शल्लकम् ।
वृन्ताकफलभक्षी वा ऽप्यहोरात्रेण शुद्ध्यति ॥१०॥
वृकजम्बुकऋक्षाणां, तरक्षूणां च घातकः ।
तिलप्रस्थं द्विजे दद्यात्, वायुभक्षो दिनत्रयम् ॥११॥

अर्थ—क्रौञ्च सारस, हंस, चकवा, कुक्कुट, जालपाद पक्षी, शरभ, इनकी हत्या करने वाला रात–दिन का उपवास करने से शुद्ध होता है ।

बलाका, टिट्टिभ शुक कबूतर, ग्राड, बगुला, इनकी हत्या करने वाला एक दिन के उपवास से शुद्ध होता है ।

उंदर, बिल्ली, साँप, अजगर द्विमुख सर्प, इनकी हत्या करता ब्राह्मण को तिल माषों से बनी हुई खीचड़ी जिमाकर लोह दण्ड की दक्षिणा दे ।

ग्राहमत्स्य, गाह, कछुआ, शल्लक, इनको हत्या करने वाला और वृंताकभक्षी (बैंगन खाने वाला) रात–दिन के उपवास से शुद्ध होता है ।

भेड़िया, गीदड़, भालू, चीता, इनकी हिंसा करने वाला मनुष्य तीन रात–दिन के उपवास करके ब्राह्मण को एक प्रस्थ तिलों का दान देने से शुद्ध होता है ।

ऊपर हमने दो एक धर्मशास्त्र और स्मृतियों के उद्धरण देकर यह दिखाया है कि ब्राह्मण किस प्रकार निरर्थक हत्याकार्यों के लिये दण्डविधान करके उन्हें अहिंसक रखने की कोशिश करते थे। आस्तिक लोगों के लिये तो प्रायश्चित्त करना ही पर्याप्त माना जाता था, परन्तु प्रायश्चित्त न करने वालों को हिंसा से दूर रखने के लिये ब्राह्मणों ने हिंसा कार्यों के लिये आर्थिक दण्ड तक नियत करवा दिया था। जिसके अनुसार निष्कारण प्राणिहिंसा करने वालों को आर्थिक दण्ड देकर ठिकाने लाते थे। आजकल जिन प्राणियों की हिंसा करने वालों को सरकार पारितोषिक देती है, उन्हीं प्राणियों की हिंसा करने वालों को उस समय के राजा [illegible] आर्थिक शिक्षा देते थे, इतना ही नहीं बल्कि कई देशों में [illegible] करने वालों के हिंसक अङ्ग उपाङ्ग तक कटवा दिये [illegible] इस प्रकार कड़ी शिक्षाओं और कठोर प्रायश्चित्तों के [illegible] भारत का अधिकांश जन समाज अहिंसक रहा है, [illegible] वर्ष आर्यक्षेत्र कहलाने का दावा कर सकता है।

समय विशेष में यज्ञों में हिंसा के घुसने और [illegible] ग्रंथ निर्माता ब्राह्मणों द्वारा उसे धर्म्यमान [illegible] विद्वान ब्राह्मणों को अमुक समय तक यज्ञ में [illegible] का वध करने और उसका बलि-शेष मांस [illegible] पड़ा। इस समय विशेष की प्रवृत्ति मात्र [illegible] पशुघातक और गोमांस भक्षी [illegible] ब्राह्मण यज्ञ में नियुक्त होकर किस [illegible]

विषय म स्मृति के दो श्लोक उद्धृत करके हम इस प्रकरण को पूरा करग।

मांसनीयाद् ब्राह्मणो मांस–मनियुक्त. कथं च न ।
क्रतौ श्राद्धे नियुक्तो वा, अनश्नन् पतति द्विज ॥५५॥
द्विजो जग्ध्वा वृथा मांस, हत्वाऽप्यविधिना पशून् ।
निरयेष्वय वासमाप्नोत्याचन्द्रतारकम् ॥५६॥

अर्थ—यज्ञ मे अनियुक्त ब्राह्मण कदापि मांस न खाय, और यज्ञ मे तथा श्राद्ध नियुक्त द्विज मांस न खाता हुआ अपने धर्म से पतित होता है। द्विज निष्कारण मांस खाकर और अविधि से पशुहत्या करके यावत् चन्द्रतारक नरक मे सदैव निवास करता है।

वानप्रस्थ

वानप्रस्थ का वर्णन करते हुए विष्णुस्मृतिकार लिखते हैं —

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा, वनवासं यदा चरेत् ।
चीर–वल्कलधारी स्यात्, अकृष्टान्नाशनो मुनि ॥१॥
गत्वा च निर्जन स्थानं, पञ्च यज्ञान्न हापयेत् ।
अग्नि–होत्रं च जुहुयात्, अन्नं नीवारकादिभि ॥२॥
श्रवणेनाग्निमाधाय, ब्रह्मचारी वने स्थित ।
पञ्च यज्ञविधानेन, यज्ञं कुर्यादतन्द्रित. ॥३॥
आकाशशायी वर्षासु, हेमन्ते च जलाशये ।
ग्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्थो, भवेन्नित्य वने वसन् ॥४॥

केश-रोम-नख-श्मश्रून छिन्द्यान्नापि कर्त्तयेत् ।
त्यजञ्छरीर-सौहार्दं, वनवासरत शुचि ॥१०॥

अर्थ—गृहस्थ अथवा ब्रह्मचारी जब वनवास का आश्रय ले तब तब वह वस्त्रधारी अथवा वल्कलधारी बन कर वन में बगैर बोये वन्य धान्यों का भोजन करने वाला मुनि बने ।

वह मानव बस्ती से दूर निर्जनस्थान में अपना आश्रम बनाये और वहा रहता हुआ भी पञ्च महा यज्ञों को न छोड और नीवार (वन्य व्रीहि आदि) व धान्यों से अग्नि होत्र करे ।

ब्रह्मचारी वानप्रस्थ, श्रवण से अग्नि को स्थापित करके पञ्चमहा यज्ञ की विधि से यज्ञ करे ।

वन में वास करने वाला वर्षा ऋतु में खुले आकाश म सोवे, शीत सहन कर और ग्रीष्म ऋतु में पञ्चाग्नि के पास बीच बैठ कर धूप सहन करे ।

केश, रोम, नख और मु छ न उखाडे न काटे।वनवास में रहने वाला शरीर का मोह छोड़ता हुआ पवित्र रहे ।

उक्त तीनों आश्रमों की पहचान बताते हुए दक्ष स्मृतिकार कहते हैं —

मेखलाजिनदण्डैश्च, ब्रह्मचारीति लक्ष्यते ।
गृहस्थो दानवेदाद्यै, नखलामैर्वनाश्रमी ॥

अर्थ—मेखला, मृगचर्म, तथा दण्ड से ब्रह्मचारी पहचाना जाता है दान और वेदाध्ययन से गृहस्थाश्रमी की ^ होती

है और यह हुए नहीं कहीं से यह वानप्रस्थ है, ऐसा समझ आता है।

सन्यासी

सन्यासी शब्द से यहां वैदिक सन्यासी अभिप्रेत है।

सन्यास की प्राचीनता

प्राचीन वेद संहिताओं में सन्यास अथवा सन्यासी परिव्राजक आदि शब्द दृष्टिगोचर नहीं होते। इससे आधुनिक विद्वान् यह मानने लग गये हैं कि प्राचीन काल में सन्यस्ताश्रम नहीं था, परन्तु यह मान्यता प्रामाणिक नहीं कही जा सकती, क्योंकि उपनिषदों में परिव्राट् शब्द मिलता है। बौधायन गृह्य सूत्र जो सबसे प्राचीन गृह्य सूत्र है उसमें सन्यासियों के प्रकार तथा आचार विधानों का सविस्तार वर्णन मिलता है।

प्राचीन से प्राचीन जैन सूत्रों में भी चरक, परिव्राजक आदि सन्यासियों के उल्लेख मिलते हैं। इससे यह तो निश्चित है कि यह आश्रम आज कल के विद्वान् जितना अर्वाचीन समझते हैं उतना अर्वाचीन नहीं, बल्कि वेद काल से ही चली आने वाली यह संस्था है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि यह आश्रम इतना प्राचीन है तो ऋग्वेदादि में इसका नामोल्लेख क्यों नहीं मिलता ?

इस का उत्तर यह है कि सन्यासी जङ्गलों पहाड़ों आदि में रहते थे, ग्रामों नगरों में बहुत कम आते थे। प्राथमिक सन्यास लेने

के समय वे वेद-पाठ अवश्य करते थे, परन्तु ज्यों ज्यों वे उच्चस्थिति मे पहुँचते जाते थे त्यों त्यों उनका वेदपाठ छूटता जाता था।

वेदसंहिताओं के रचयिता गृहस्थ ब्राह्मण ऋषि होते थे। वे अपने तथा अन्यों के लिये देवताओं को सन्तुष्ट करने के हेतु यज्ञ यागादि क्रिया करते थे, उनको राजाओं तथा धनाढ्य गृहस्थों से वैदिक अनुष्ठानों द्वारा अनेक प्रकार के लाभ होते थे, और बड़े बड़े राजाओं महाराजाओं से परिचय भी बढ़ता जाता था। उधर सन्यासी लोग बस्तियों से दूर अपने आत्म-चिन्तन में लगे रहते थे, न उनको धनाढ्यों के परिचय की आवश्यकता थी, न धनाढ्य और राजसत्ताधारी उनसे अधिक परिचित रहते थे। इस परिस्थिति में ब्राह्मण अपनी कृति वेदों में उनका वर्णन करके क्या दुनिया की दृष्टि में उनका महत्त्व बढ़ाते? •

जैसे वेद ब्राह्मणों की कृतियां थीं, उसी प्रकार सन्यासियों की भी अपनी कृतियां होती थी। जिनमें उनके अपने यम, नियम, यागानुष्ठानों का विधान और तत्त्व विचार की चर्चा होती थी। जिस प्रकार ब्राह्मण लोग वेद तथा उनके अङ्ग ग्रन्थों का निर्माण करके वैदिक साहित्य का सर्जन करते रहते थे उसी प्रकार विद्वान् सन्यासी भी अपने अभिप्रेत विषय के साहित्य का निर्माण करते रहते थे। जिस प्रकार ब्राह्मणों को सन्यासी तथा उनके सम्प्रदायों की अपेक्षा नहीं होती थी, उसी प्रकार सन्यासियों की दृष्टि [illegible] के सम्बन्ध में रहती थी। ये [illegible]

साथ चलते थे, फिर भी एक दूसरे के साहित्य की चर्चा करने में कोई रस नहीं था।

सांख्यदर्शन के प्रवर्तक कपिल महर्षि स्वयं संन्यासी थे, और उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण दर्शन का आविर्भाव किया था, जो वर्त्तमान सभी दर्शनों में अति प्राचीन माना जाता है। कणाद, गौतम, जैमिनि, आदि भिन्न भिन्न दर्शनों के मुकाबिले में ये दर्शन अर्वाचीन कहे जा सकते हैं।

जैनागम कल्पसूत्र में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तथा इनके षडङ्ग और इतिहास इन सभी को ब्राह्मणों का साहित्य माना गया है, इन्हें ब्राह्मण-साहित्य कहा गया है तब षष्टितन्त्र आदि पारिव्राजक तन्त्र के माने गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि अति पूर्वकाल से ही ब्राह्मण तथा संन्यासी साहित्य की दो धारायें पृथकरूप से बह रही थी। न ब्राह्मण साहित्य में संन्यासियों की चर्चा होती थी न सन्यासियों के साहित्य में ब्राह्मणों की। ब्राह्मण लोग विचार पूर्वक अपने साहित्य में संन्यासियों की चर्चा नहीं करते थे, क्योंकि सन्यासियों की भलाई अथवा बुराई करने से उन्हें अपनी हानि का भय रहता था। संन्यासियों की तरफ झुकने से वे अपना महत्त्व घटने की आशङ्का करते थे। तब सन्यासियों के विरुद्ध कुछ भी लिखने पर त्याग मार्ग के उपासक उन पर नाराज होकर हानि पहुंचा सकते थे। इस कारण से अपने ग्रन्थों में संन्यासियों के विषय में कुछ भी न लिखने के लिये ब्राह्मण वर्ग सतर्क रहता था।

सन्यासियों की स्थिति इससे विपरीत थी। उनको किसी का भी समाचार करने में भय की आशङ्का नहीं थी। यही कारण है कि वे ब्राह्मण तथा उनकी कृतियों पर प्रसङ्ग वश आक्षेप किया करते थे। सांख्य दर्शन के साहित्य में जितने भी वेदों तथा ब्राह्मणों की धज्जियां उड़ाई हैं, उन्हें देख कर यही कहा जा सकता है कि अति पूर्वकाल में सांख्य सन्यासी वेदों का तथा उनके संरक्षक ब्राह्मणों को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे। इस कारण सन्यासियों तथा ब्राह्मणों के बीच मनोमालिन्य का सद्भाव ही हो सकता है।

"श्रमण ब्राह्मणम्" "अहिनकुलम्" आदि द्वन्द्व समास के उदाहरण प्राचीन से प्राचीन व्याकरणकार देते आ रहे हैं। इससे भी यह तो स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणों और श्रमणों का आपसी विरोध अति पुराना है। इस दशा में ब्राह्मणों की कृतियों में सन्यासियों की चर्चा न होना एक स्वाभाविक बात है।

सन्यासी

सन्यास लेने का समय

सन्यास शब्द का अर्थ है एक तरफ रखना, सांसारिक प्रवृत्तियां तथा गृहस्थ विषयक धार्मिक अनुष्ठानों को एक तरफ रख कर निस्संगता का मार्ग पकड़ना यह सन्यास लेने का अर्थ है।

सन्यासवान् होने से सन्यासी, अनियत परिभ्रमण करने वाला होने से परिव्राजक, आत्मचिन्तन में उद्यमवान् होने से

यति और भिक्षावृत्ति से जीवन निर्वाह करने वाला होने से भिक्षु ये सभी संन्यासी के पर्याय वाचक नाम हैं।

संन्यास मार्ग का स्वीकार कब करना इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए याज्ञवल्क्य जाबालोपनिषद् में नीचे लिखे अनुसार लिखते हैं—

"अथ हैनं जनको वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच भगवन्! संन्यासं ब्रूहीति। स होवाच याज्ञवल्क्य। ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद् वा वनाद् वा। अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निको वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्॥"

अर्थ—जनक वैदेह ने याज्ञवल्क्य से पूछा हे भगवन्! संन्यास का कहिये। इस पर याज्ञवल्क्य बोले-ब्रह्मचर्य आश्रम समाप्त करके गृहस्थ से वानप्रस्थ बन कर, फिर संन्यासी बने अथवा इस क्रम के बिना भी ब्रह्मचर्य आश्रम से ही संन्यासी बन सकता है। अथवा गृहस्थ आश्रम से या वन से प्रव्रजित हो सकता है। अथवा व्रतवान् हो, अथवा अव्रती, स्नातक हो, अथवा अस्नातक, आहिताग्निक हो अथवा अनाहिताग्निक, जिस दिन संसार से विरक्त हो उसी दिन प्रव्रजित हो सकता है।

याज्ञवल्क्य उपनिषद् में भी याज्ञवल्क्य ने उक्त अभिप्राय से मिलता जुलता ही अभिप्राय व्यक्त किया है, जो नीचे लिखे अनुसार है।

'अथ पुनरव्रती वाऽव्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निको वा निरग्निको वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।

अर्थ—यदि वह व्रती हो अथवा अव्रती, स्नातक हो अथवा अस्नातक आहिताग्निक हो अथवा अनाहिताग्निक, जिस दिन वैराग्यवान हो उसी दिन प्रव्रजित हो जाय।

सन्यास ग्रहण के सम्बन्ध में आरुण्यकोपनिषद् में निम्न प्रकार का नियम है।

"वेदार्थं यो विद्वान् सोपानयादूर्ध्वं स तानि प्राग्वा त्यजेत् पितरं पुत्रमग्न्युपवीतं कर्म कलत्रं चान्यदपि"

अर्थात् वेद के अर्थ को जो जानता है वह उनको उपनयन के बाद अथवा पहले ही पिता को पुत्र को अग्नि को, उपवीत को कर्म को, स्त्री को, और अन्य भी उससे जो सम्बन्ध हो उन सभी का त्याग दे।

सन्यास के विषय में अङ्गिरा का प्रतिपादन नीचे अनुसार है।

यदा मनसि सञ्जात, वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु।
तदा सन्यासमिच्छन्ति, पतित. स्यात् विपर्ययात्॥

अर्थ—जिस समय सब वस्तुओं में से मन [illegible]
जाय [illegible] लेना चाहिये, ऐसी ज्ञानिया

इसके विपरीत मानसिक तृष्णाओं के रहत स यास लने पर उससे पतित होने का सम्भव है।

संन्यास ग्रहण करने के सम्बन्ध में व्यास कहते हैं।

ब्रह्मचारी गृहस्थो वा, वानप्रस्थोऽथवा पुन ।
विरक्त सर्वकामेभ्य , पारिव्राज्य समाश्रयेत् ॥

अर्थ —ब्रह्मचारी, गृहस्थ, अथवा वानप्रस्थ किसी भी अवस्था म हो जब सब इच्छाओं से विरक्त हो जाय तब परिव्रज्या स्वीकार कर ले।

"अग्निहोत्र गवालम्भ, स यास पलपैतृकम्"।

इस स्मृति वाक्य से कलियुग मे स न्यास के निषेध की उपस्थित होने वाली आपत्ति के निवारणार्थ निम्न प्रकार से विधान किया गया है।

यावद् वर्ण विभागोऽस्ति, यावद् वेद प्रवर्त्तते ।
तावन्न्यासोऽग्निहोत्रच, कर्त्तव्य तु कलौ युगे ॥

अर्थ —जब तक वर्ण विभाग का अस्तित्व है, और वेद ज्ञान की प्रवृत्ति विद्यमान है, तब तक कलियुग म भी स यास तथा अग्निहोत्र करने चाहिए।

उपर्युक्त निरूपण से यह ज्ञात हो जायगा कि प्राथमिक तीन आश्रमों का आराधन करने के बाद ही स यास आश्रम को स्वीकार करना चाहिये ऐसा सैद्धान्तिक नियम नहीं है।

ब्रह्मचर्याश्रम से सीधा सन्यासी होने का प्रतिपादन किया

या है। इससे सन्यास लेने वाले का आयुष्य विषयक सकत

ी मिल जाता है। उपनयन ब्रह्मचर्याश्रम प्रवेश का द्वार है

और उपनीत होने का समय अष्टम वर्ष तक का माना है। इससे

नेद होता है कि स यास अष्टम वर्ष के ऊपर की किसी भी

वस्था में लिया जा सकता है।

क्त जाबालोपनिषद् तथा आरुण्योपनिषद् आदि की श्रुतिया

क "व्रती वाऽव्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निको वा

निरग्निको वा" इन शब्दों से यह भी प्रमाणित हो जाता है कि

पूर्वकाल में अनाश्रमी भी स यास ले सकते थे केवल ब्राह्मण

के लिये ही स यास नियत नहीं था।

परिव्राजक स्वरूप और उसका आचार धर्म

जाबालोपनिषद् में परिव्राजक का स्वरूप इस प्रकार लिखा है-

अथ परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रह शुचिरद्रोही

भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय कल्पते।

अर्थ —अब परिव्राजक का स्वरूप बताते है। वह वर्णहीन

वस्त्रधारी होता है, मुण्डित मस्तक, परिग्रह हीन पवित्र चित्र

अद्रोहशील और भिक्षावृत्ति करने वाला होता है, और वह

ब्रह्मस्वरूप का प्राप्त करने योग्य होता है।

श्रुत्यन्तर म भी इस विषय मे कहा गया है —

काम क्रोधलोभमोहदम्भ दर्पाहङ्कारममकारानृतादी स्त्यजेत् । चतुर्षु वर्णेषु भैक्ष्य चरत् अभिशस्त पतितवर्जम् । पाणि पात्रेणाशन कुर्यात् । औषधवत् प्राश्नीयात् प्राण सधारणार्थे यथामेदो वृद्धि न जायते । अरण्य निष्ठो भिक्षार्थी ग्राम प्रविशेत् इति ।

अर्थ —परिव्राजक काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, अहङ्कार ममता, और असत्य आदि का त्याग करे । अभिशस्त (मनुष्य घातक) और पतित को छोड़ कर चारों वर्णों मे भिक्षा वृत्ति करे । हाथों में भोजन कर शरीर निर्वाह का साधन औषध समझ कर विराग भाव से रूखा सूखा भोजन कर जिससे मेदवृद्धि न हो, अरण्य म रहे और भिक्षा के लिये ग्राम म प्रवेश करे ।

परिव्राजक शब्द की नामनिरुक्ति —

परिबोधात् परिच्छेदात्, परिपूर्णावलोकनात् ।
परिपूर्णफलत्वाच, परिव्राजक उच्यते ॥

अर्थ —सर्वतो मुखी बोध होने से, परिच्छेद यानि उपादेय का उपादान और हेय का त्याग करने से परिपूर्ण दृष्टि से देखने से, परिपूर्ण फल साधक होने से वह परिव्राजक कहलाता है ।

यम कहते हैं —

एकवासा अवासाश्च, एकदृष्टिरलोलुप ।
दृष्टिपूत न्यसेत्पाद, वस्त्रपूत जल पिवेत् ॥

सत्यपूत वदत् वाक्य, मन पूत समाचरत् ।
अन्परन् मता मार्गं, ध्यानासक्तो मही चरत् ॥

अर्थ —एक वस्त्र वाला अथवा वस्त्रहीन एक दृष्टि और अलोलुप भाव से विचरता हुआ भिक्षु दृष्टि से भूमि को देख कर पैर रक्खे, वस्त्र से छान कर जल पिये, सत्य से पवित्र वचन बोले, मन से विचार कर शुभ काम को कर और महापुरुषों के मार्ग को दूषित न करता हुआ, ध्यान म लीन रहता हुआ पृथिवी पर भ्रमण कर ।

व्यास कहते हैं —

दशविधा हिंसा न कुर्यात् । उद्वेगजनन, सन्तापजनन, रुजाकरण शोणितोत्पादन, पैशुन्यकरण सुखापनयनमतिक्रम, सरोधो, नि दा वध इति ।

अर्थ —किसी को खेद उत्पन्न करना, सन्ताप उत्पन्न करना, राग उत्पन्न करना खून निकालना, चुगली करना, सुख को हटाना या टालना, रोकना, नि दा करना और बाँधना य दश प्रकार की हिंसा सन्यासी को न करना चाहिय ।

अत्रि कहते हैं —

आगच्छ गच्छ तिष्ठेति, स्वागत सुहृदेऽपि च ।
सन्मानन न च ब्रूयात्-मुनिर्मोक्षपरायण ॥

अर्थ—आइये, जाइये, ठहरिये, इस प्रकार का स्वागत सम्मानजनक वचन मोक्षमार्ग में तत्पर रहने वाला मुनि अपने मित्र के लिये भी न बोले।

प्राचीन श्रुतियों में यद्यपि ब्राह्मण ही संन्यासी हो सकता है, ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन नहीं मिलता, फिर भी स्मृति काल में यह सिद्धांत निश्चित कर दिया गया कि चतुर्थ आश्रम का अधिकारी ब्राह्मण ही हो सकता है, अन्य कोई नहीं। इस सम्बन्ध में विष्णु स्मृतिकार कहते हैं।

आश्रमास्तु त्रय प्रोक्ता, वैश्य-राजन्ययोस्तथा ।
पारिव्राज्याश्रम-प्राप्तिर्ब्राह्मणस्यैव चोदिता ॥

अर्थ—वैश्य तथा क्षत्रियों के लिये तीन आश्रम कहे गये हैं, और सन्यासाश्रम की प्राप्ति ब्राह्मण के लिये कही गई है।

रथ्यायां बहु वस्त्राणि, भिक्षा सर्वत्र लभ्यते ।
भूमिशय्या सुविस्तीर्णा, यतयः केन दुःखिता ॥

अर्थ—गलियों में वस्त्र बहुत मिलते हैं, और सब जगह भिक्षा मिलती है, सोने के लिये भूमि रूप शय्या लम्बी चौड़ी पड़ी है। सन्यासी किस कारण से दुःखी हो सकता है।

यतिधर्मकसमुच्चय में लिखा है कि—

सचैल स्यादचेलो वा, कन्था-प्रावरणोऽपि वा ।
एक वस्त्रेण वा विद्वान्, मत भिक्षुश्चरेद् यथा ॥

नात्यर्थं सुखदु खाम्या, शरीरमुपतापयेत् ।
स्तूयमानो न हृष्येत, निन्दितो न शपत्परम् ॥

अर्थ —वस्त्रधारी हो या वस्त्रहीन हो, गुदड़ी से शरीर ढाकता हो या एक वस्त्र से निर्वाह करता हो, विद्वान् सन्यासी अपना व्रत पाले।

न शरीर को अतिशय सुखशील बनाये, न उसे अति कष्ट दे, न पर स्तुति से हर्षित हो न निन्दा से निन्दक को शाप दे।

चतुर्थमाश्रम गच्छेद्, ब्राह्मणः प्रव्रजन् गृहात् ।
आचार्येण समादिष्ट, लिङ्ग यत्नात्समाश्रयेत् ॥३॥
शौचमाश्रय-सम्बन्ध, यतिधर्मांश्च शिक्षयेत् ।
अहिंसा सत्यमस्तेय, ब्रह्मचर्यमफल्गुता ॥४॥
दया च सर्वभूतेषु, नित्यमेतद् यतिश्चरेत् ।
ग्रामान्ते वृक्षमूले च, नित्यकाल-निकेतन ॥५॥
पर्यटेत् कीटवद् भूमिं, वर्षास्वेकत्र सवसेत् ।
वृद्धानामातुराणा च, भीरूणां सगवर्जित ॥६॥
ग्रामे वाऽपि पुरे वाऽपि, वासो नैकत्र दुष्यति ।
कौपीनाच्छादन वास-कन्था शीतापहारिणीम् ॥७॥
पादुके चापि गृह्णीयात्, कुर्यान्नान्यस्य सग्रहम् ।
सम्भाषण मह [illegible] नभप्रेक्षणे तथा ॥८॥

नृत्य गान सभा सेवा, परिवादांश्च वर्जयेत्।
वानप्रस्थ गृहस्थाभ्यां, प्रीति यत्नेन वर्जयेत् ॥९॥
एकाकी विचरेन्नित्य, त्यक्त्वा सर्व-परिग्रहम्।
याचिताऽयाचिताभ्यां तु,भिक्षया कल्पयेत् स्थितिम् ॥१०
साधुकार याचित स्यात्, प्राक्-प्रणीत-मयाचितम्।

× × × ×

अर्थ —गृहस्थाश्रम से निकल कर प्रव्रजित होने वाला ब्राह्मण आचार्य का बताया हुआ वेष यत्न से धारण करे, तथा शौच, आश्रय सम्बन्ध और यति धर्मों को सीखे, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहता और सर्वभूतदया, स यासी इन यतिधर्मों का सदा पालन कर।

सन्यासी ग्रामके परिसर म वृक्ष के नीचे अपना आसन लगाये और कीट पतङ्ग की तरह अनियत भूमिभागों म सदा भ्रमण करता रहे, केवल वर्षा ऋतुओं म एक स्थान में निवास करे।

वृद्धो, बीमारों, भीरु व्यक्तियो का सङ्ग न करता हुआ ग्राम में वास कर तो दूषित नहीं है। गुह्य भाग ढाकने का वस्त्र, शीत से रक्षा करने वाली गुदड़ी और पादुका इनका सग्रह करे अन्य उपकरणों का नहीं।

स्त्रियों के साथ सम्भाषण, उनका विश्वास, दर्शन, नृत्य, और गान देखने सुनने का त्याग कर। किसी सभा म न जाय,

किसी की सेवा न करे गृहस्थ तथा वानप्रस्थों के साथ प्रीति करना यत्नपूर्वक छोड़ दे।

सन्यासी सर्व प्रकार के परिग्रह को छोड़ कर नित्य अकेला विचरे, भिक्षावृत्ति से प्राप्त याचित अथवा अयाचित भोजन से अपनी जीविका निर्वाह करे, याचित भैक्ष्यान्न सर्वश्रेष्ठ है, उसके अभाव में पहले बना हुआ अयाचित भिक्षान्न मिले तो भिक्षु ग्रहण कर सकता है।

दश यम

आनृशंस्यं क्षमा सत्य-महिंसा-दम-आर्जवम्।
प्रीतिः प्रसादो माधुर्य-मक्रोधश्च यमा दश॥

अर्थ —अक्रूरता, क्षमा, सत्य, अहिंसा, दम, सरलता, प्रीति प्रसाद, मधुरता, अक्रोध ये दश यम संन्यासियों को पालना चाहिये।

पितामह के मत से दश यम —

अहिंसा-सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ।
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा, शौचं दुर्भुक्तिवर्जितं॥

अथ —अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्रोधाभाव, गुरुसेवा, शौच, अभक्ष्यभक्षण त्याग और मन वचन काय योगों में

नृत्य गान सभा सेवा, परिवादांश्च वर्जयेत् ।
वानप्रस्थ गृहस्थाभ्यां, प्रीतिं यत्नेन वर्जयेत् ॥६॥
एकाकी विचरेन्नित्य, त्यक्त्वा सर्व-परिग्रहम् ।
याचिताऽयाचिताभ्यां तु,भिक्षया कल्पयेत् स्थितिम् ॥१०
साधुकार याचित स्यात्, प्राक्-प्रणीत-मयाचितम् ।

× × × ×

अर्थ —गृहस्थाश्रम से निकल कर प्रव्रजित होने वाला ब्राह्मण आचार्य का बताया हुआ वेष यत्न से धारण कर, तथा शौच, आश्रय सम्बन्ध और यति धर्मों को सीखे, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहता और सर्वभूतदया, सन्यासी इन यतिधर्मों का सदा पालन करे।

सन्यासी ग्रामके परिसर मे वृक्ष के नीचे अपना आसन लगाये और कीट पतङ्ग की तरह अनियत भूमिभाग म सदा भ्रमण करता रहे, केवल वर्षा ऋतुओं मे एक स्थान म निवास करे।

वृद्धों, बीमारा, भीरु व्यक्तियों का सङ्ग न करता हुआ ग्राम मे वास करे तो दूषित नहीं है। गुह्य भाग ढाकन का वस्त्र, शीत से रक्षा करने वाली गुदड़ी और पादुका इनका सग्रह करे अन्य उपकरणों का नहीं।

स्त्रियो के साथ सम्भाषण, उनका विश्वास, दर्शन, नृत्य, और गान देखने सुनने का त्याग करे। किसी सभा में न जाय,

किसी की सेवा न करे, गृहस्थ तथा वानप्रस्थों के साथ प्रीति करना यत्नपूर्वक छोड़ दे।

स यासी सब प्रकार के परिग्रह को छोड़ कर नित्य अकेला विचरे, भिक्षावृत्ति से प्राप्त याचित अथवा अयाचित भोजन से अपनी जीविका निर्वाह करे, याचित भैक्ष्यान्न सर्वश्रेष्ठ है, उसके अभाव में पहले बना हुआ अयाचित भिक्षान्न मिले तो भिक्षु ग्रहण कर सकता है।

दश यम

आनृशंस्य क्षमा सत्य-महिंसा-दम-आर्जवम्।
प्रीतिः प्रसादो माधुर्य-मक्रोधश्च यमा दश॥

अर्थ—अक्रूरता, क्षमा, सत्य, अहिंसा, दम, सरलता, प्रीति प्रसाद, मधुरता, अक्रोध ये दश यम संन्यासियों को पालना चाहिये।

पितामह के मत से दश यम —

अहिंसा-सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ।
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा, शौचं दुर्भक्षिवर्जितं॥

अर्थ—अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्रोधा-भाव, गुरुसेवा, शौच, अभक्ष्यभक्षण त्याग और मन वचन काय योगों में

मनुकथित यमनियम —

अहिंसा सत्यमस्तेय, ब्रह्मचर्यमपरिग्रह ।
यमास्तु कथितार्थैते, नियमानपि मे शृणु ॥
सतोष-शौच-स्वाध्यायास्तपश्चेश्वर-भावना ।
नियमाः कौरवश्रेष्ठ ! फलससिद्धिहेतव. ॥

अर्थ —अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाच यम कहे हैं। अब नियमों को सुनो ! सतोष, शौच, स्वाध्याय, तप और इश्वर प्रणिधान-हे कौरव-श्रेष्ठ ! ये पाच नियम फल सिद्धि देने वाले हैं।

अजिह्व षण्ढक पङ्गु,-रन्धो बधिर एव च ।
मुग्धश्च मुच्यते भिक्षु, षड्भिरेतैर्न सशय ॥

अर्थ —अजिह्व—परदोष भाषण मे मूक, नपुसक—अर्थात् सभी स्त्रिया को माता या पुत्री तुल्य समझने वाला निर्विकारी, पङ्गु—अन्याय अधर्म के रास्ते चलने मे पङ्गु समान, अन्ध—विषय विकारयुक्त दृष्टि शून्य, बधिर—परापवाद न सुनने वाला, मुग्ध—कौटिल्यादि दोष-शून्य भोला भाला इन छ गुणों से भिक्षु कर्मों से मुक्त होता है, इसमे कोई सशय नहीं।

चतुर्विध सन्यासी

यद्यपि सन्यासाश्रम एक ही है, तथापि आचार भेद से

सन्यासी चार प्रकार के माने गये है। जिनका संक्षिप्त स्वरूप नीचे दिया जाता है।

× × × ×

चतुर्विधा भिक्षुका स्यु, कुटीचकबहूदकौ ॥११॥
हंस परमहंसश्च, पश्चाद्यो य स उत्तम ।

अर्थ—भिक्षु चार प्रकार के होते हैं, कुटीचक बहूदक, हंस और परमहंस। इनमें उत्तरोत्तर उत्तम माने गये हैं।

एकदण्डी भवद्वापि, त्रिदण्डी वाऽपि वा भवत् ॥१२॥
त्यक्त्वा सर्वसुखास्वाद, पुत्रैश्वर्ये सुखं त्यजत् ।
अपत्येषु वसेन्नित्य, ममत्व यत्नतस्त्यजेत्॥१३॥
नान्यस्य गेहे भुञ्जीत, भुञ्जानो दोषभाग्भवेत् ।

अर्थ—कुटीचक एक दण्डी अथवा त्रिदण्डी हो सकता है वह सासारिक सुखों के ऊपर से मन हटा कर पुत्र स्नेह और बड़प्पन का भाव भी छोड़ देता है। वह अपने सतानों के निकट रहता है, फिर भी उन पर मोह ममता नहीं रखता और वह अपने पुत्रों को छोड़ कर अन्य किसी के यहां भोजन नहीं लेता अपने कुल के अतिरिक्त अन्य कुलों में भोजन लेने पर वह दोषी माना गया है।

भिक्षाटनादिकेऽशक्तौ. यति पत्रेष सम्वसेत ॥१३॥
त्रिदण्ड ऽ

सूत्र तथैव गृह्णीयात्, नित्यमेव बहूदकः ॥१६॥

अर्थ—भिक्षा भ्रमण आदि में अशक्त होने पर यति अपने पुत्रों की निश्रा में संन्यास ग्रहण करता है, और त्रिदण्ड, कमण्डलु भिक्षापात्र और यज्ञोपवीत इतने उपकरण बहूदक संन्यासी अपने पास रखता है।

इन्द्रियाणि मनश्चैव, कर्षन् हंसो निगीयते ।
कृच्छ्रैश्चान्द्रायणैश्चैव, तुला-पुरुष-संज्ञकैः ॥२०॥
यज्ञोपवीतं दण्डं च, वस्त्रं जन्तु-निवारणम् ॥
अयं परिग्रहो नान्यो, हंसस्य श्रुतिवादिनः ॥२१॥

अर्थ—तुला पुरुष संज्ञक कृच्छ्र, चान्द्रायण से इन्द्रिया तथा मन को खींच कर वश में रखने से वह हंस कहलाता है।

यज्ञोपवीत दण्ड और जन्तु निवारण वस्त्र यह वेदाभ्यासी हंस संन्यासी का परिग्रह है।

देह संरक्षणार्थं तु, भिक्षामीहद्द्विजातिषु ॥२८॥
पात्रमस्य भवेत्पाणिस्तेन नित्यं गृहानटेत् ।

अर्थ—शरीर रक्षा के लिए हंस द्विजाति के घरों में हाथों में ही भोजन करता है।

माधुकरमथैवान्नं, पर-हंस समाचरत् ।

अर्थ—माधुकरी वृत्ति से प्राप्त अन्न भिक्षान्न को परमहंस स्वीकार करे।

मन रसन्परहितान्, गृहानुत्रीन् पञ्च सप्त वा ।
मधुवदाहरण यत्तन्माधुकरमिति स्मृतम् ॥

अनियत तीन पाच, अथवा सात घरों से भ्रमरवत् थोड़ा थाड़ा अन्न ग्रहण करना उसका नाम माधुकरी वृत्ति है ।

माधुकरी के विषय में अत्रि कहते हैं –

यथामध्वाददानोऽपि, भृङ्ग पुष्प न बाधते ।
तद्वन्माधुकरी भिक्षामाददीत गृहाधिपात् ॥

अर्थ —जैसे मधु को ग्रहण करता हुआ भ्रमर पुष्प को किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाता है, उसी प्रकार गृहपति से भिक्षु भिक्षा ग्रहण करे ।

गार्गीय स्मृति में चतुर्विध संन्यासियों का वर्णन इस प्रकार किया है ।

त्रिदण्डी सशिखो यस्तु, ब्रह्मसूत्री गृहच्युत ।
सकृत्पुत्र गृहऽश्नाति, यो याति स कुटीचर ॥
कुटीचरस्य रूपेण, ब्रह्मभिक्षो नितऽऽसन ।
बहूदको स विज्ञेयो, विष्णुजाप परायण ॥
ब्रह्मसूत्र-शिखाहीन-, कषायाम्बर-दण्डभृत् ।
एक-रात्रि वसेद् ग्रामे, नगरे च त्रिरात्रिकम् ॥
विप्राणामाग्सचषु, विधूमपु गतामिषु ।
ब्रह्म-भिक्षां चरेद्धंस , कुटिकावासमाचरत्

यत्र तत्रैव गृह्णीयात्, नित्यमेव बहूदकः ॥१६॥

अर्थ—भिक्षा भ्रमण आदि में अशक्त होने पर यति अपने पुत्रों की निश्रा में संन्यास ग्रहण करता है, और त्रिदण्ड, कमण्डलु भिक्षापात्र और यज्ञोपवीत इतने उपकरण बहूदक संन्यासी अपने पास रखता है।

इन्द्रियाणि मनश्चैव, कर्षन् हंसो विधीयते ।
कृच्छ्रैश्चान्द्रायणैश्चैव, तुला-पुरुष-सञ्ज्ञकैः ॥२०॥
यज्ञोपवीतं दण्डं च, वस्त्रं जन्तु-निवारणम् ॥
अयं परिग्रहो नान्यो, हंसस्य श्रुतिदर्शिनः ॥२१॥

अर्थ—तुला पुरुष संज्ञक कृच्छ्र, चान्द्रायण से इन्द्रियां तथा मन को खींच कर वश में रखने से वह हंस कहलाता है।

यज्ञोपवीत दण्ड और जन्तु निवारण वस्त्र यह वेदाभ्यासी हंस संन्यासी का परिग्रह है।

देह संरक्षणार्थं तु, भिक्षामीहेद्द्विजातिषु ॥२८॥
पात्रमस्य भवत्पाणिस्तेन नित्यं गृहानटेत् ।

अर्थ—शरीर रक्षा के लिए हंस द्विजाति के घरों में हाथों में ही भोजन करता है।

माधुकरमथैवान्नं, पर-हंसः समाचरेत् ।

अर्थ—माधुकरी वृत्ति से प्राप्त अन्न भिक्षान्न को परमहंस स्वीकार करे।

मन सङ्कल्परहितान्, गृहान्स्त्रीन् पञ्च सप्त वा।
मधुवदाहरण यच्चन्माधुकरमिति स्मृतम् ॥

अनियत तीन पाच, अथवा सात घरों से भ्रमरवत् थोड़ा थोड़ा अन्न ग्रहण करना उसका नाम माधुकरी वृत्ति है।

माधुकरी के विषय म अत्रि कहते हैं —

यथामध्वाददानोऽपि, भृङ्ग पुष्प न बाधते।
तद्वन्माधुकरीं भिक्षामाददीत गृहाधिपान् ॥

अर्थ—जैसे मधु का ग्रहण करता हुआ भ्रमर पुष्प को किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाता है उसी प्रकार गृहपति से भिक्षा ग्रहण करे।

गार्गीय स्मृति में चतुर्विध सन्यासियों का वर्णन इस प्रकार किया है।

त्रिदण्डी सशिखो यस्तु, ब्रह्मसूत्री गृहच्युतः।
सकृत्पुत्र गृहेऽश्नाति, यो याति स कुटीचरः॥
कुटीचरस्य रूपण, ब्रह्मभिक्षो जितात्मवान्।
बहूदको स विज्ञेयो, विष्णुजाप परायणः॥
ब्रह्मसूत्र-शिखाहीन, कषायाम्बर-दण्डधृक्
एकरात्रि वसेद् ग्रामे, नगरे च दिनत्रयम्
विप्राणामाश्रमेषु, विधूमेषु [illegible]।
ब्रह्म-भिक्षा चरद्धंस, दुर्भिक्ष [illegible]॥

हंसस्य जायते ज्ञानं, तदा स्यात् परमो हि सः ।
चातुर्वर्ण्यं प्रभोक्ता च, स्वेच्छया दण्डभृत्तदा ॥
स्नान त्रिषवण प्रोक्तं, नियमा स्युस्त्रिदण्डिनाम् ।
न तत्परमहंसानामुत्तानामात्मदर्शिनाम् ॥
मौन योगासन योगस्तितिक्षैकान्त शीलता ।
निस्पृहत्व समत्व च, सप्तैतान्येक-दण्डिन ॥

अर्थ—त्रिदण्ड तथा शिखाधारी, यज्ञोपवीत वाला, गृहत्यागी एक बार अपने पुत्र के घर भोजन करने वाला सन्यासी कुटीचर (क) कहलाता है।

कुटीचर के स्वरूप वाला, ब्राह्मणों के यहां भिक्षा करने वाला, आसन को स्थिर रखने वाला, विष्णु का जाप करने में तत्पर रहने वाला सन्यासी बहूदक कहलाता है।

यज्ञोपवीत और शिखा से हीन कषाय वस्त्र तथा दण्ड को धारण करने वाला, ग्राम मे एक रात नगर मे तीन रात बसने वाला और धूम्र तथा अग्नि के शान्त होने पर ब्राह्मणों के घरों से भिक्षा प्राप्त करने वाला सन्यासी हस नाम से प्रसिद्ध है, जो कुटिया में रहता है।

हंस ही विशिष्ट ज्ञान और वैराग्य प्राप्त होने पर परमहंस कहलाता है, यह चारों वर्णों के यहां से इच्छानुसार भोजन लेता और अपने पास दण्ड रखता है।

कुटीचर मठ में रहता है और यजमानों का परिग्रह रखता है। बहूदक नदी के तट पर रहता है और नीरस भिक्षा का भोजन करता है।

हंस ग्रामों में भ्रमण करता है, और तप से शरीर का दमन करता है।

जो परम हंस सन्यासी होता है उस का आचार अब कहता हूँ, परमहंस ईशानी दिशा को सम्मुख रख के गमन किया करता है और जहाँ शरीर थक जाय वहाँ प्राय उपवेशन कर के ब्रह्मचिन्तन करता हुआ समाधि में लीन होता है।

टिप्पणी—षड्दर्शन समुच्चयकार राजशेखर सूरी ने चार सन्यासियों का जो वर्णन दिया है उस में पहला सन्यासी कुटीचर कहा है परन्तु वैदिक साहित्य में सर्वत्र कुटीचक यही नाम उपलब्ध होता है। बहूदक नदी तट पर रहता है ये बात स्मृति आदि में नहीं पायी जाती है और परम हंस को ऐशानी दिशा को लक्ष्य करके चलता रहने की बात भी वैदिकसाहित्य में देखने में नहीं आई फिर भी षडदर्शन समुच्चयकार ने ये बातें निराधार तो नहीं लिखी होंगी क्यों कि लेखक दर्शन शास्त्र के प्रखर विद्वान् थे। इससे अनुमान होता है कि इन्होंने भिन्न भिन्न कासांप्रदायिक ग्रन्थों के आधार से लिखी होंगी।

दो प्रकार के सन्यासी

सन्यासियों के ऊपर जो चार प्रकार बताये गये हैं, वे सभी

प्राचीन लेखकों ने इन्हें निरीश्वरवादी कहा है। बादमें इनमें से न योग सम्प्रदाय निरीश्वरवादी और ईश्वरवादी इन दो भागों म - बट गया।

सांख्यदर्शन के अनुयायी आज मौलिक रूप से कितने दूर गये हैं यह कहना तो कठिन है, पर तु इतना निश्चित है कि स यासियों का यह सम्प्रदाय सब से प्राचीन है, और वदकाल में भी इसका अस्तित्व था, इस बात मं कोई शङ्का नहीं है।

सन्यासियों के दश नाम

सम्प्रदाय को जानने वाले नीचे लिखे सन्यासियों के दश नाम बताते हैं।

> तीर्थाश्रमवनारण्य, गिरिपर्वत सागरा ।
> सरस्वती भारती च, पुरी नामानि वै दश ॥

अर्थ —तीर्थ, आश्रम वन, अरण्य, गिरि पर्वत, सागर, सरस्वती, भारती और पुरी ये शब्द स यासियों के नाम के अ त मे रक्खे जाते हैं।

जैसे —श्री पुरुषोत्तम तीर्थ, श्री राजराजेश्वराश्रम इत्यादि।

सन्यासी के वस्त्र

वैदिक सन्यासी के वस्त्र पात्र के सम्बन्ध में भी कुछ लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है। उपनिषत् काल मे परिव्राजक

के वस्त्र कैसे होते थे और बाद में उनमें क्या परिवर्तन हुआ इस बात का श्रुति स्मृति के प्रमाणों से विचार करेंगे।

अर्थपरिव्राड् विवर्णवासा.

इस जाबालोपनिषद् वाक्य से यह प्रतीत होता है कि पूर्व-काल में परिव्राजक के वस्त्र वर्णहीन अर्थात् स्वाभाविक श्वेत रहने होंगे, परन्तु पिछली स्मृतियों में तथा धर्मशास्त्रों में संन्यासी का वस्त्र गेरुआ होना चाहिये ऐसा प्रतिपादन किया है। इतना ही नहीं किन्तु कहीं-कहीं तो श्वेत वस्त्रों को यति के पतनों में एक कारण मान लिया गया है।

बुद्ध तथा उनके भिक्षु काषायवर्ण के वस्त्र रखते थे, इससे यह तो निश्चित है कि आज से ढाई हजार वर्ष पहले भी संन्यासी भगवा वस्त्र रखते थे।

जैन सूत्रों में भी त्रिदण्डी संन्यासी काषाय रंग के वस्त्र रखते थे, ऐसे उल्लेख स्थान स्थान पर मिलते हैं। इससे वैदिक संन्यासियों के वस्त्र गेरुआ रंग के होते थे इसमें दो मत नहीं हो सकते, तब "परिव्राड् विवर्णवासा" इस वाक्य का वास्तविक अर्थ क्या हो सकता है, इसको विद्वानों को विचार करना चाहिए। श्वेतवस्त्र रखने पर वैदिक यति का पतन होने को लिखा है इसका भी कोई गूढ़ कारण होना चाहिए। वैदिक सम्प्रदाय में ऐसा तो कोई परिव्राजक सम्प्रदाय नहीं रहा है जो श्वेत-वस्त्र की हिमायत करता हो और उसके उत्तर में यति के पतन कारणों में

श्वेत वस्त्र को भी दाखिल कर दिया है। यतिधर्म समुच्चय में निम्न लिखे हुए चार प्रकार के वस्त्र ग्रहण करने की धर्मज्ञ संयासी को आज्ञा दी गई है। जैसे-

क्षौमं शाणमयं चापि, वासः कार्पासमेव च ।
अजिनं चापि धर्मज्ञ, सायुज्यस्तान् पीडयन् ॥

अर्थ—क्षौम (अलसी के रेशों से बना हुआ वस्त्र) शाणमय (शण-जूट के रेशों से बना हुआ) रेशमी वस्त्र और और अजिन मृगचर्म आदि का वस्त्र इन चार प्रकार के वस्त्रों में से जिसकी आवश्यकता हो उसको धर्मज्ञ संयासी सज्जन पुरुषों से उनको दुःख न पहुंचा कर प्राप्त करे।

कात्यायन स्मृतिकार का विधान उक्त विधान से विरुद्ध पड़ता है। वे लिखते हैं कि -

ऊर्णा कशोद्भवा यथा, मलकीटोद्भवः पटः ।
कस्तूरी रोचनं रक्तं, वर्जयेदात्मवान् यतिः ॥
हिंसोद्भवं पट्टमूलं, कस्तूरी रोचना तथा ।
प्राण्यङ्गस्त्वं तथोर्णा च, यतीनां पतनं ध्रुवम् ॥
वस्त्रं कार्पासजं ग्राह्यं, काषायुक्तमयाचितम् ।
अन्यद् वस्त्रादिकं सर्वं, त्यजन्मूत्र पुरीषवत् ॥

अर्थ—ऊनी वस्त्र केशों से उत्पन्न होता है, और रेशमी वस्त्र कीड़ों के मल से उत्पन्न होता है, इसलिये आत्मार्थी यति

ऊन वस्त्रों को, कस्तूरी को, गोरोचना तथा रक्तपङ्कित को वर्जित कर, पट्टसूत्र वस्त्र कस्तूरी तथा रोचना ये सभी हिंसा से उत्पन्न होते हैं और ऊर्णा भी पापयुक्त है। इसलिये इनका ग्रहण करने से यतियों का पतन होता है, अतः यति को केवल कार्पासवस्त्र पापायुक्त ही अयाचित मिले तो ग्रहण करना उचित है, इसके अतिरिक्त उक्त वस्त्रादि को मलमूत्र की तरह त्याग दें।

आविक वस्त्र (ऊनी वस्त्र) का मनुजी भी सन्यासी के लिये निषेध करते हैं।

> आविकं त्वधिकं वस्त्रं, तूलीं तूलपटीं तथा।
> प्रतिगृह्य यतिश्चैतान्, पतत्येव न संशयः ॥

अर्थ—ऊनी वस्त्र, आवश्यकता से अधिक वस्त्र, तूली (गद्दी) तूलपटी (रेशमी चद्दर) इनको ग्रहण करके यति तत्काल पतित हो जाता है।

यति धर्म समुच्चय में निम्न प्रकार के पादत्राण रखने की व्यवस्था दी गई है।

> उपानहौ गृहीतव्ये, कार्पासमयमप्युत।
> ऊर्णातारोद्भवं वाऽपि, यद्वाऽन्यत्स्यादयाचितम् ॥

अर्थ—सन्यासी सूत्रमय, ऊर्णामय, अथवा इसी प्रकार की अन्य जूतियाँ बिना मांगे मिले तो ग्रहण कर सकता है।

भिक्षाटन काल भिक्षाग्रहण योग्य कुल

भिक्षु को किस समय भिक्षाटन करना चाहिये इस विषय म कथन कहते हैं।

> विधूमे सन्नमुसले, व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
> कालेऽपराह्णे भूयिष्ठे, भिक्षाटनमथाचरेत् ॥

अर्थ—धरती मे धूआँ निकलना बन्द हो जाय, मुशल खड़ा कर दिया जाय अङ्गार निस्तेज हो जाय, लोक भोजन कर चुकें और अपराह्न समय लगने पर भिक्षु भिक्षाचर्या को निकले।

मनुजी कहते हैं यति एक बार ही भिक्षाटन करे।

> एककालं चरेद् भैक्षं, न प्रसज्येत विस्तरे।
> भैक्षे प्रसक्तो हि, यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥

अर्थ—यति एक बार ही भिक्षा भ्रमण करे अधिक नहीं, जो भिक्षा के विस्तार में लगता है वह कालान्तर मे विषयासक्ति में भी फँस जाता है।

इस विषय म वसिष्ठ स्मृतिकार का कथन यह है—

"ब्राह्मणकुले वा यल्लभेत् तद् भुञ्जीत सायं मधुमांससर्पि परिवर्जम्"

अर्थ—ब्राह्मण कुल में जो मिले उसीका भोजन करले, मधु, मांस, घृत को भोजन में कदापि ग्रहण न करे।

यद्यपि उपर्युक्त उल्लेख मे ब्राह्मण कुल का निर्देश किया गया है तथापि श्रुति के "चतुर्षु वर्णेषु भैक्षचर्यं चरेत्" इस

वाक्य से सिद्ध होता है कि पहले स यासी चारो वर्ण मे भिक्षा ग्रहण करते थे ।

भिक्षाकुल के सम्बन्ध मे विश्वामित्र कहते हैं ।

मत्स्यमांसादि बहुलं, यद्गृहे पच्यते भृशम् ।
तद् गृहं वर्जयेद् भिक्षु, यदि भिक्षां समाचरेत् ॥

अर्थ—जिस घर मे मत्स्य मांस आदि बार बार पकाया जाता हो उस घर को छोड़ कर भिक्षु भिक्षा ग्रहण करे ।

अत्रि कहते हैं —

अनिन्द्यं वै व्रजेद् गेहं, निन्द्यं गेहं तु वर्जयेत् ।
अनावृते विशेद्द्वारि, गेहं नैवावृते व्रजेत् ॥
न वीक्षेद् द्वाररन्ध्रेण, भिक्षां लिप्सु क्वचिद् यति ।
न कुर्याद् वै क्वचिद्, घोषं न द्वारं ताड़येत् क्वचित् ॥

अर्थ—भिक्षाटन अनिन्द्य घरो मे करना और निन्द्यघरों का त्याग करना जिसका द्वार खुला हो उस घर मे जाना बन्द घर मे (द्वार खोल कर) नहीं जाना भिक्षार्थी भिक्षु द्वार रन्ध्र से न देखे न आवाज दे, न द्वार को खट खटाये ।

अत्रि कहते हैं—

श्रोत्रियान्नं न भिक्षेत, श्रद्धा भक्ति बहिष्कृतम् ।
व्रात्यस्यापि गृहे भिक्षेत्, श्रद्धाभक्ति पुरस्कृतम् ॥

अर्थ—श्रद्धा भक्ति रहित श्रोत्रिय का अन्न भी भिक्षा में न लें, और श्रद्धाभक्ति पूर्वक दिया जाने वाला व्रात्य का अन्न भी ग्रहण किया जा सकता है ।

भिक्षाटन काल भिक्षाग्रहण योग्य कुल

भिक्षु को किस समय भिक्षाटन करना चाहिये इस विषय म कण्व कहते हैं।

> विधूमे सन्नमुशले, व्यङ्गार भुक्तवज्जने।
> कालेऽपराह्ने भूयिष्ठे, भिक्षाटनमथाचरत्॥

अर्थ—बस्ती मे धूआ निकलना बन्द हो जाय, मुशल खडा कर दिया जाय अङ्गार निस्तेज हो जाय, लोक भोजन कर चुकें और अपराह्न समय लगने पर भिक्षु भिक्षाचर्या को निकले।

मनुजी कहते हैं यति एक बार ही भिक्षाटन कर।

> एककाल चरेद् भैक्ष, न प्रसज्येत विस्तरे।
> भैक्षे प्रसक्तो हि, यतिर्विषयष्वपि सज्जति॥

अथ—यति एक बार ही भिक्षा भ्रमण कर अधिक नहीं, जो भिक्षा के विस्तार मे लगता है वह कालान्तर मे विषयासक्ति मे भी फँस जाता है।

इस विषय मे वसिष्ठ स्मृतिकार का कथन यह है—

"ब्राह्मणकुले वा यल्लभेत् तद् भुञ्जीत साय मधुमासंसर्पि परिवर्जम्"

अथ—ब्राह्मण कुल मे जो मिले उसीका भोजन करले, मधु, मास, घृत को भोजन म कदापि ग्रहण न कर।

यद्यपि उपर्युक्त उल्लेख म ब्राह्मण कुल का निर्देश किया गया है तथापि श्रुति के "चतुर्षु वर्णेषु भैक्षचर्यं चरत्" इस

वाक्य से सिद्ध होता है कि पहले स यासी चारों वर्ण म भिक्षा ग्रहण करते थ ।

भिक्षाकुल के सम्बन्ध म विश्वामित्र कहते ह ।

मत्स्यमासादि महुल, यद्गृहे पच्यते भृशम् ।
तद् गृह वर्जयेद् भिक्षु, यदि भिक्षा समाचरत् ॥

अथ—जिस घर म मत्स्य मास आदि बार बार पकाया जाता हो उस घर को छोड़ कर भिक्षु भिक्षा ग्रहण करे ।

अत्रि कहते हैं —

अनिन्द्य वै व्रजेद् गृह, निन्द्य गेह तु वर्जयत् ।
अनावृते विशेद्द्वारि, गेह नैवावृते व्रजत् ॥
न नीक्षेद् द्वाररन्ध्रेण, भिक्षा लिप्सु क्वचिद् यति ।
न कुर्याद् वै क्वचिद्, घोष न द्वार ताडयेत् क्वचित् ॥

अथ—भिक्षाटन अनिन्द्य घरा म करना और निन्द्यघरा का त्याग करना जिसका द्वार खुला हो उस घर म जाना ब द घर में (द्वार खोल कर) नहीं जाना भिक्षार्थी भिक्षु द्वार रन्ध्र से न देखे न आवाज दे, न द्वार को खट खटाये ।

अत्रि कहते हैं—

श्रोत्रियान्न न भिक्षेत्, श्रद्धा भक्ति वहिष्कृतम् ।
व्रात्यस्यापि गृह भिक्षेत्, श्रद्धाभक्ति पुरस्कृतम् ॥

अथ—श्रद्धा भक्ति रहित श्रोत्रिय का अन्न भी भिक्षा में न लें, और श्रद्धाभक्ति पूर्वक दिया जाने वाला व्रात्य का अन्न भी ग्रहण किया जा सकता है ।

गुजीर्णोऽतिकृशो योगी, दशान्तो विरतेन्द्रिय ।
पुत्र–मित्र–गुरु–भ्रात–पत्नीभ्यो भैच–माहरत् ॥

अर्थ—अतिवृद्ध, अतिदुबल, अन्तिम दशा प्राप्त और विकलेन्द्रिय योगी, पुत्र, मित्र गुरू, भाइ, और पत्नी से भिक्षा ग्रहण करे।

अत्रि कहते हैं—

आयसेन तु पात्रेण, यदन्नमुपदीयते ।
भोक्ता विष्ठा सम भुङ्क्ते, दाता च नरकं व्रजेत् ॥

अर्थ—लोह के पात्र से दिया गया अन्न खाने वाला विष्ठा खाता है, दाता नरक में जाता है।

विष्णु कहते हैं—

भैच यवागू तक्र वा, पयो यावकमेव च ।
फल मूल विपक्व वा, कणपिण्याकसक्तव ॥
इत्येते मे शुभाहारा, योगिन सिद्धिकारका ।
त्वङ् मूल पत्र पुष्पाणि, ग्राम्यारण्य फलानि च ॥
कणयावक पिण्याक, शाक तक्र पयो दधि ।
भिक्षा सर्वरसोपेतां, हिमारन्नं समाश्रन् ॥

अर्थ—यवागू, छाछ दूध, यावक (यवों से बना हुआ खाद्य पदार्थ) पका फल तथा मूल कण (सेका हुआ चणा आदि धान्य) पिण्याक (तिल्ली की खली) सातू ये सब योगियों के लिये सिद्धि कारक शुभाहार कहे गये हैं।

अत्रि कहते हैं—

या तु पर्युषिता भिक्षा, नैवेद्यादिषु कल्पिता।
तामभोज्यां विजानीयात्, दाता च नरकं व्रजेत् ॥

अर्थ—नैवेद्य आदि के रूप में परिकल्पित वासी अन्न की भिक्षा) भिक्षु के लिये अभोज्य समझना चाहिए, तथा उस भिक्षा को देने वाला नरक गामी बनता है।

यम कहते हैं—

यदि पर्युषितं भैक्ष्यमद्याद् भिक्षुः कथञ्चन।
तदा चान्द्रायणं कुर्यात् यतिः शुद्ध्यर्थमात्मन ॥

अर्थ—यदि किसी भी कारण से भिक्षु पर्युषित भैक्ष्यान्न खाले तो उसकी पाप शुद्धि के लिये चान्द्रायण व्रत करे।

वसिष्ठ स्मृति में कहा गया है—

अलाभे न विषादी स्यात् लाभे चैव न हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद् विनिर्गतः ॥

अर्थ—त्यागी सन्यासी भिक्षा की अप्राप्ति में खेद और प्राप्ति में हर्ष न करे, प्राणयात्रा के प्रमाण में भिक्षा की मात्रा ग्रहण करे।

आपस्तम्ब कहते हैं—

श्राद्ध-भोजी यतिर्नित्यमाशु गच्छति शूद्रताम्।
तादृशं कल्मषं दृष्ट्वा, सचलो जलमाविशेत् ॥

अर्थ—श्राद्धान्न खाने वाला सन्यासी जल्दी शूद्रपन को प्राप्त होता है वैसा पाप कार्य देखकर उसे सचल स्नान करना चाहिए।

इस विषय में जैमिनि कहते हैं—

श्राद्धान्नं यस्य कुक्षौ तु, मुहूर्त्तमपि वर्त्तते ।
भिक्षोश्चत्वारि नश्यन्ति, आयु प्रज्ञा यशो बलम् ॥

अर्थ—जिस भिक्षु के पेट में मुहूर्त्तभर भी श्राद्धान्न रहता है, उस भिक्षु के आयुष्य, बुद्धि, यश और बल का नाश होता है।

इस विषय में बृहस्पति का मन्तव्य निम्नोक्त प्रकार से है।

श्रवणं मननं ध्यानं, ज्ञानं स्वाध्याय एव च ।
सद्यो निष्फलतां याति, सकृच्छ्राद्धान्न भोजनात् ॥

अर्थ—संन्यासी के श्रवण, मनन, ध्यान, ज्ञान, स्वाध्याय सब एकबार भी श्राद्धान्न भोजन से तत्काल निष्फल हो जाते हैं।

संन्यासी को एकान्न भक्षण नहीं करना चाहिए। इस विषय में बृहस्पति कहते हैं—

चरन्माधुकरीं वृत्तिं, यतिम्लेच्छकुलादपि ।
एकान्नं तु न भुञ्जीत, बृहस्पतिसमादपि ॥

अर्थ—यति माधुकरी वृत्ति से नीच कुल से भी भिक्षान्न प्राप्त कर ले परन्तु बृहस्पति के समान उच्च कुल से भी एकान्न ग्रहण नहीं करे।

सन्यासी का भोजन प्रकार

संन्यासी के भोजन परिमाण के सम्बन्ध में यमस्मृतिकार कहते हैं—

अष्टौ ग्रासा मुनेः प्रोक्ता, षोडशारण्यवासिनः ।
द्वात्रिंशच्च गृहस्थस्य, यथेष्टं ब्रह्मचारिणः ॥

अर्थ—मुनि को आठ ग्रास प्रमाण भोजन कहा है, वानप्रस्थ को सोलह प्रमाण, गृहस्थ को बत्तीस कवल भोजन और ब्रह्मचारी को यथेष्ट भोजन करने का अधिकार है।

अत्रि कहते हैं—

हितं मितं सदाश्नीयाद्, यत्सुखेनैव जीर्यते ।
धातुः प्रकुप्यते येन, तदन्नं वर्जयेद् यतिः ॥

अर्थ—यति को हितकर परिमित, सुख से जो पाचन हो वैसा भोजन करे जिस भोजन से धातु प्रकुपित हो वैसा भोजन भिक्षु कदापि न करे।

कण्व कहते हैं—

अम्बिन्दुं यः कुशाग्रेण, मासि मासि समश्नुते ।
निरपेक्षस्तु भिक्षाशी, स तु तस्माद् विशिष्यते ॥

अथ—जो भिक्षु प्रतिमास कुश के अग्रभाग पर रहे हुए जल बिंदु समान भोजन लेता है, उस तपस्वी भिक्षु से निरपेक्ष (अकृताऽकारिताऽऽदि भिक्षाऽन्न) खाने वाला भिक्षु विशेष तपस्वी होता है।

आश्वलायन कहते हैं—

विनाङ्गुष्ठेन नाश्नीयान्न, लिहज्जिह्वया करम् ।
अश्नन् यदि लिहेद्, हस्तं तदा चान्द्रायणं चरेत् ॥

अथ—स यासी अगुष्ठ के विना केवल अगुलियों से भोजन न करे, न जीभ से हाथ को चाटे, भाजन करता हुआ यदि हाथ को चाट जाय तब चा द्रायण व्रत से प्रायश्चित्त कर

सन्यासी को वर्जित कार्य

मेधातिथि कहत हैं—

आसन पात्रलोपश्च, सचय शिष्य-सग्रह ।
दिवास्वापो वृथालापो, यतेर्बन्धकराणि षट् ॥

अर्थ—किसी स्थान म सदा रे लिये आसन स्थापित करना, योग्य अधिकारी का छोडकर अयोग्य व्यक्ति को किसी पद पर नियुक्त करना, परिग्रह (इकट्ठा करना), शिष्य समुदाय बढाना दिन में सोना, निरर्थक भाषण करना ये छ बातें यति क लिये कर्मबन्ध कराने वाला हैं ।

मेधातिथि कहत हैं—

स्थावर जङ्गम बीज, तैजस विषमायुधम् ।
षडतानि न गृह्णीयाद् यतिर्मूत्र पुरीषवत् ॥
रसायन क्रियावादो, ज्योतिष क्रय विक्रयम् ।
विविधानि च शिल्पानि, वर्जयेत्परदारवत् ॥

अथ—स्थावर, जङ्गम, धन, धा य, सुवर्ण रुप्यादि धातु, जहर शस्त्र स यासी इन छ वस्तुओ का मल मूत्र की तरह ग्रहण न कर ।
रसायन क्रिया, वाद विवाद ज्योतिषशास्त्र, क्रय विक्रय, अनेक प्रकार क शिल्प, यति इनको परस्त्री की तरह वर्जित करे ।

अत्रि कहते हैं—

पक्व वा यदि वाऽपक्व, पाचयेद् य कदाचिद् यति ।
स्वधर्मस्य तु लोपेन, तिर्यग्योनि व्रजेत् यति ॥

अर्थ—जो यति पके हुए अथवा कच्चे खाद्य पदार्थ को पकाता है, वह अपने धर्म का लोप करके तिर्यञ्चगति को प्राप्त होता है।

जाबाल कहते हैं—

अन्न-दान-परो भिक्षु, वस्त्रादीना परिग्रही।
उभौ तौ मन्दबुद्धित्वात्, पूतिनरक-शायिनौ ॥

अर्थ—भिक्षान्न में से दूसरों को दान करने वाला और वस्त्रादि का परिग्रह रखने वाला ए दोनों मन्दबुद्धि भिक्षु पूति नरक में जाकर सोते हैं।

बहद्वृच परिशिष्ट में लिखा है—

अन्नदान परो भिक्षु, श्चतुरो हन्ति दानत ।
दातारमन्नमात्मान, यस्मै चान्न प्रयच्छति ॥

अर्थ—भिक्षान्न में से अन्नदान करने वाला भिक्षु चार का नाश करता है, भैक्ष्य देने वाले का, अन्न का, अपना तथा अन्न लेने वाले का।

क्रतु कहते हैं—

दासी दास गृह यान, गोभूधान्यधन रसान् ।
प्रतिगृह्य यतिर्ग्रास, हन्यात्कुलशतत्रयम् ॥

आविक पट्टिका मांस, तूलिका मञ्च मधु ।
शुक्रवस्त्र च यान च, ताम्बूल स्त्रियमेव च ॥
प्रतिगृह्य कुल हन्यात्, प्रतिगृह्णाति यस्य च ।
पुष्प शाखा पल्लव वा, फल मूल तृणादिकम् ॥
भुक्त्वा च यस्तु सन्यासी, नरक पतति ध्रुवम् ।

अर्थ—दासी, दास घर, वाहन, गाय भूमि, धान्य धन (द्रव्य) रस और गाय इन पदार्थों में से किसी का भी दान स्वीकार कर यति तीन सौ कुलों का नाश करता है।

ऊनीवस्त्र, पट्टिका, मांस, गद्दी, मंच, शहद, श्वेतवस्त्र, वाहन ताम्बूल, और स्त्री इनका ग्रहण करने अपने तथा दाता के कुल का नाश करता है।

फूल वृक्षशाखा, पत्र फल, मूल और तृण आदि वस्तुओं को खाकर स यासी नरकगामी बनता है।

अत्रि कहते हैं—

सन्यासी का स्थिति नियम

भिक्षार्थं प्रविशेद् ग्राम, ग्रामार्थ वा दिनत्रयम् ।
एकरात्र वसेद् ग्रामे, पट्टने तु दिनत्रयम् ॥
पुरे दिनद्वय भिक्षु नगरे पञ्चरात्रम् ।
वर्षास्वेकत्र तिष्ठेत, स्थाने पुण्यजलावृते ॥
आत्मवत् सर्वभूतानि, पश्यन् भिक्षुश्चरन्महीम् ।
अन्धवत्कुब्जवच्चापि, बधिरोन्मत्तमूकवत् ॥

नामगोत्रादि चरण, दश नाम श्रुत कुल
नयोवृत्त व्रत शील, ख्यापयेन्नैव सद्यति'

अर्थ —भिक्षा के लिये अथवा रहने के लिये बस्ती म कर और तीन दिन तक रहे छोटे गाव में एक दिन, तीन दिन, कसबे मे दो दिन, बडे नगर म पाच दिन काल म वर्षावासार्थ पवित्र जल वाला आश्रय स्थान देख मास ठहरे।

यति सब प्राणियों को निजात्म समान देखता हुआ पर चले, चलते समय अधवत् नीचे देखता हुआ, कुछ तरह शिर को आगे नमाये हुए बधिर उन्मत्त मूक की तरह तरफ ध्यान न देता हुआ किसी से भाषण न करता हुआ अपने आत्मानन्द म मस्त हुआ चले।

उत्तम भिक्षु अपने नाम, गोत्र उत्तम आचरण देश, स्थान, ज्ञान, कुल, अवस्था वृत्तान्त, व्रत और शील इत्यादि वार्ता का लोगों के आगे प्रकाशित न करे।

यम कहते हैं—

जले जीवा स्थले जीवा, आकाशे जीवमालिनी।
जीव माला कुले लोके, वर्षास्वेकत्र सवसेत् ॥

अर्थ —वर्षाकाल में जल म तथा स्थल में जीव अधिक होते है, और आकाश तो जीवों से व्याप्त ही रहता है, इस प्रकार जीव समूह भरे हुए लोक में एक स यासी के लिये वर्षाकाल में एक स्थान पर रहना ही हितकर है।

अर्थ—ग्रामनर्तों के समागम स्थान, खल (धान मलने के स्थान) अनेक मनुष्यों के रहने का स्थान, बड़ा शहर, ग्रामन, और दुर्जन मनुष्य का मकान इन छः प्रकार के स्थानों में भिक्षु को वर्षा वास की स्थिति नहीं करना चाहिए।

आपत्तिजनक स्थान से वर्षाकाल में भी भिक्षु का विहार कर देना चाहिए इस विषय में वृद्ध याज्ञवल्क्य कहते हैं—

चोरैरुपद्रुत देश, दुर्भिक्ष व्याधि–पीड़ितम्।
चक्रान्येन च सक्रान्त, वर्षास्वप्याशु त त्यजत्॥

अर्थ—चोरों के उपद्रव वाले, दुर्भिक्ष वाले, व्याधि पीड़ित शत्रु सैन्य से घेरे हुए देश को वर्षाकाल में भी छोड़ दे।

सन्यासी की अहिंसकता

जमदग्नि कहते हैं—

कृकलासे चीरगले, मण्डूके गृह–गोधिके।
कुक्कुटादिषु भूतेषु, दशाहं चार्ध भोजनम्॥
मार्जारे मूषके सर्पे, स्थूलमत्स्येषु पक्षिषु।
नकुलादिषु भूतेषु, चरेच्चान्द्रायण व्रतम्॥
पिपीलिकायां सूक्ष्मायां, प्राणायामास्त्रयस्त्रय'॥
यूकायां मत्कुणे चैव, मशके पञ्च निर्दिशेन्।
मूलाङ्कुरेषु पत्रेषु, पुष्पेषु च फलेषु च॥
स्थावराणां चोपभेदे, प्राणायामास्त्रयस्त्रय॥

धान्य वृक्ष लतां वस्तु, स्थावर जङ्गम तथा।
उत्पाटयति मूढात्मा, स्रवीची नरक व्रजेत् ॥
अकामादपि हिंसेत, पशून् मृगादिकान् यति ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत, चान्द्रायणमथाऽपि वा ॥

अर्थ--गिरगिट, चीरगल, मेंढक, छिपकली, और मुर्गा आदि किसी भी एक प्राणी की हिंसा में प्रायश्चित्त स्वरूप दश दिन तक स यासी आधा भोजन करे।

बिल्ली, चूहा, साप बड़ा मत्स्य, पक्षी, और नकुल प्राणियों में से किसी की अपने हाथ से हत्या हो जाने पर चान्द्रायणव्रत द्वारा प्रायश्चित्त करे।

छोटी कीटिका की हत्या मे तीन तीन, और खटमल, मच्छर इनकी हिंसा में पाच पाच प्राणायाम करके प्रायश्चित्त करे।

मूल, अकुर, पत्र, पुष्प फल, और अन्य सभी स्थावर प्राणियों के उपमर्दन मे प्रायश्चित्त स्वरूप तीन तीन प्राणायाम करे

धान्य, वृक्ष, वल्ली, तथा स्थावर, जङ्गम, अन्य प्राणिया को जो मूढ स यासी उखाड फकता है वह मर कर अवीचा नरक म जाता है।

जो यति विना इच्छा के भी मृग आदि पशुओं की हिंसा करता है, वह कृच्छ्र तथा अतिकृच्छ्र व्रत द्वारा अथवा चान्द्रायण व्रत करके हिंसा का प्रायश्चित्त करे।

कात्यायन कहते हैं—

द्रव्य स्त्री मांस सम्पर्कान्मधुमाक्षिकलेहनात् ।
विचारस्य परित्यागात्, यति पतनमृच्छति ॥

अर्थ—द्रव्य संग्रह से, मांस भक्षण से, स्त्री प्रसङ्ग से, मधु चाटने से और विचार के परिवर्तन से यति पतन की तरफ जाता है।

यम कहते हैं—

भिक्षुर्द्विर्भोजनं कुर्यात्कदाचिद् ग्लान दुर्बल ।
स्वस्थावस्थो यदा लौल्यात्, तदा चान्द्रायणं चरेत् ॥

अर्थ—बीमार और दुर्बल भिक्षु कदाचित दो बार भोजन करे यदि स्वस्थ होने पर भी रस लालसा से दो बार खाय तो शुद्धि के लिए चान्द्रायण व्रत करे।

सन्यास माहात्म्य

विष्णु कहते हैं —

एक-रात्रोषितस्यापि, यतेर्या गतिरुच्यते ।
न सा शक्या गृहस्थेन, प्राप्तुं क्रतुशतैरपि ॥

अर्थ—एक दिन भी सन्यास मार्ग में व्यतीत करने वाले सन्यासी की जो गति होती है वह गृहस्थ सैकड़ों यज्ञों द्वारा भी पा नहीं सकता।

दक्ष कहते हैं —

त्रिंशत् परा त्रिंशदवरा, स्त्रिंशच्च परत परन् ।
सद्य सन्यामनादेव, नरकात् तारयेत् पितॄन् ॥

अर्थ — स यास लेने से पुरुष अपने के पहले के तीस कुलों और पीछे के तीस कुलों के और उनके पीछे के तीस कुलों के पितरों को नरक से तारता है ।

जाबाल कहते हैं —

चतुर्वेदस्तु यो विप्र, सोमयाजी शतक्रतु ।
तस्मादपि यति श्रेष्ठ–स्तिलपर्वतमन्तरम् ॥

अर्थ — चतुर्वेदी सोमयाजी, और यज्ञ करने वाले ब्राह्मण से भी यति श्रेष्ठ है इन दो का अन्तर तिल पर्वत के समान है ।

इस विषय मे अङ्गिरा का वचन निम्न प्रकार का है —

सूर्य्यखद्योतयोर्यद्वन्मरुसर्षपयोरपि ।
अन्तर हि महद् दृष्ट, तथा भिक्षु गृहस्थयो ॥

अर्थ — सूर्य और जुगनू म जितना अन्तर है, मेरु तथा सर्षप में जितना अन्तर है, उतना महान् अन्तर भिक्षु तथा गृहस्थ में देखा गया है ।

अत्रि कहते हैं —

ब्रह्मचारीसहस्र च, वानप्रस्थशतानि च ।
ब्राह्मणाना हि कोट्यस्तु, यतिरेको विशिष्यते ॥

अर्थ —हजार ब्रह्मचारियों से, सैकड़ों वानप्रस्थों से, और करोड़ों ब्राह्मणों से एक यति अधिक है अर्थात् हजार ब्रह्मचारी सैकड़ों वानप्रस्थ और करोड़ों ब्राह्मण एक यति की बराबरी नहीं कर सकते।

इस विषय में हारीत कहते हैं —

सर्वेषामाश्रमाणां तु, सन्यासी ह्युत्तमाश्रमी।
स एवात्र नमस्य स्याद् भक्त्या सन्मार्गदर्शिभिः॥

अर्थ - सर्व आश्रमों में सन्यासी उत्तमाश्रमी है इसलिये सन्मार्ग में चलने वाले मनुष्यों को भक्तिपूर्वक वही नमस्कार करने योग्य है।

इस विषय में जाबाल का मन्तव्य —

दुर्वृत्तो वा सुवृत्तो वा, यतो निन्दा न कारयेत्।
यतीन् वै दूषमाणस्तु, नरकं याति दारुणम्॥

अर्थ —दुर्वृत्त वा सुवृत्त कैसा भी यति हो उस व्यक्ति का देखकर यति आश्रम की निन्दा न करना चाहिए। यति पर दोषारोपण करता हुआ मनुष्य नरक गति को पहुंचाता है।

वृद्ध याज्ञवल्क्य कहते हैं —

शुष्कमन्नं पृथक् पाकं, यो यतिभ्यः प्रयच्छति।
स मूढो नरकं याति, तेन पापेन कर्मणा॥

अर्थ—सूखा अन्न, तथा जुदा बना हुआ हल्का भोजन जो यतियों को देता है, वह मूर्ख से पाप से नरक में पड़ता है।

इस विषय में मनु कहते हैं—

यतिर्योगी ब्रह्मचारी, शतायुः सत्यवाक् सती।
सत्री वदान्यः शूरश्च, स्मृता शुद्धाश्च ते सदा॥

अर्थ—संन्यासी, योगी, ब्रह्मचारी, सौ वर्ष की आयु वाले, सत्य बोलने वाले, सती धर्म पालन वाली, अन्नदान देने वाले, दाता, शूर, इनको सदा काल शुद्ध माना गया है।

अत्रि स्मृतिकार कहते हैं—

यति हस्ते जलं दद्यात्, भैक्षं दद्यात्पुनर्जलम्।
तद् भैक्षं मेरुणा तुल्यं, तज्जलं सागरोपमम्॥

अर्थ—यति के हस्त में जल दे फिर भैक्ष दे, तो भैक्ष मेरु तुल्य और पानी समुद्र तुल्य है।

आपत्कालीन सन्यास

सुमन्तु कहते हैं—

आपत्काले तु सन्यासः, कर्त्तव्य इति शिष्यते।
जरयाऽभिपरीतेन, शत्रुभिर्व्यथितेन च॥
आतुराणां च सन्यासे, विधिर्नैव न च क्रिया।
प्रैषमात्रं समुच्चार्य, सन्यासं तत्र कारयेत्।

सन्यस्तोऽहमितित्रूयात्, सवनेषु त्रिषु क्रमात् ॥
त्रान् वारास्तु त्रिलोकात्मा, शुभाशुभविशुद्धये ।
यत्किञ्चिद् बन्धकं कर्म, कृतमज्ञानतो मया ॥
प्रमादालस्य दोषाद् यत्तत्सर्वं सत्यजाम्यहम् ॥
एवं सचिन्त्य भूतेभ्यो, दद्यादभयदक्षिणाम् ॥
पद्भ्यां कराभ्यां विहर-न्नाह वाकाय-मानसैः ।
करिष्ये प्राणिनां हिंसां, प्राणिनः सन्तु निर्भयाः ॥

अर्थ —आपत्कालीन सन्यास शेष रहा है जो बहुत दुःख दुःखाप से घिर जाने पर, शत्रुओं द्वारा पीडित होने पर, आतुर सन्यास लेना चाहिये, आतुरों के सन्यास में न विधि है न क्रिया, प्रतिज्ञा पाठ मात्र बोल कर आतुर सन्यास कराया जाता है। क्रम से तीन सवन हो जाने पर आतुर "मैं सन्यासी" हो गया इस प्रकार शुभाशुभ के विशुद्धि के लिए तीन बार बोले। जो कुछ मैंने अज्ञानवश शुभाशुभ बन्धक कर्म प्रमाद और आलस्य के दोष से किया है उसे छोडता हूँ। ऐसा चिन्तन करके प्राणियों को अभय दक्षिणा दे, चलता हुआ पैरों से हाथों से, वचन से, शरीर से और मन से प्राणियों की हिंसा नहीं करूंगा, प्राणी निर्भय हों।

उपसंहार

वैदिक परिव्राजक के सम्बन्ध में लिखने योग्य बातें बहुत हैं, तथापि इस विषय में अब अधिक लिखना समयोचित नहीं।

वैदिक परिव्राजक का मौलिक रूप विशेष त्यागमय और अप्रतिबद्ध है, परन्तु मानव स्वभावानुसार अन्यान्य धार्मिक सम्प्रदायों के श्रमणों की तरह वैदिक श्रमण भी धीरे धीरे निम्न गामी होता गया है, यह बात इस निबन्ध से स्पष्ट प्रतीत हो जायगी। उपनिषत् कालीन परिव्राजकों के जीवन में जो निस्पृहता दृष्टिगत होती है, वह स्मृतिकालीन सन्यासियों अथवा यतियों में नहीं दीखती, फिर भी संन्यासी संस्था त्यागमयी और वैदिक धर्म की प्रभावकारिणी है इसमें कोई शङ्का नहीं।

उपनिषत् काल में परिव्राजक 'विवर्ण वासा' अर्थात वर्ण हीन वस्त्रधारी होता था, परन्तु धर्मशास्त्र तथा स्मृतिशास्त्र कारों ने विवर्ण-वासा नहीं रहने दिया, इतना ही नहीं बल्कि कई स्मृतिकारों ने तो "श्वेत वस्त्र" का संन्यासी के पतनों में से एक मान लिया। इसका कारण हमारी समझ में वैदिक यति को जैन यति से पृथक दिखाना मात्र था। जिस समय दक्षिण भारत में हजारों श्वेत वस्त्रधारी जैन श्रमण विचरते थे, उसी समय उस प्रदेश में विष्णु स्वामी, माध्वाचार्य, रामानुजाचार्य आदि विद्वानों ने भिन्न भिन्न वैष्णव सम्प्रदायों की स्थापना की थी और सम्प्रदाय के मुख्य अङ्गभूत संन्यासियों के नाम भी यति, मुनि आदि दिये जाते थे जो वास्तव में तत्कालीन जैन श्रमणों के नामों का अनुकरण था। परन्तु नाम तथा वेष के सादृश्य से कोई जैन श्रमणों को वैष्णव यति मानने के भ्रम में न पडे इसलिये उनके वस्त्रों में से श्वेत वस्त्र को दूर कर दिया और सख्त आज्ञा विधान

सन्यस्तोऽहमितित्रि यात्, मवनपु त्रिपु क्रमात् ॥
त्रीन् वारास्तु त्रिलोकात्मा, शुभाशुभविशुद्धय ।
यत्किञ्चिद् बन्धक कर्म, कृतमज्ञानतो मया ॥
प्रमादालस्य दोषाद् यत्तत्सर्वं सत्यजाम्यहम् ॥
एव सचिन्त्य भूतेभ्यो, दद्यादभयदक्षिणाम् ॥
पद्भ्यां कराभ्यां विहर-न्नाह वाकाय-मानसैः ।
करिष्ये प्राणिना हिंसा, प्राणिन सन्तु निर्भया ॥

अर्थ —आपत्कालीन सन्यास शप रहा है जो कहते हैं बुढ़ाप से घिर जाने पर, शत्रुओं द्वारा पीड़ित होने पर, आतुर सन्यास लेना चाहिये, आतुर क स यास म न विधि है न क्रिया, प्रतिज्ञा पाठ मात्र बोल कर आतुर स यास कराया जाता है। क्रम से तीन सवन हो जाने पर आतुर "मैं स यासी' हो गया इस प्रकार शुभाशुभ क विशुद्धि क लिए तीन बार बोले। जो कुछ मैंने अज्ञानवश शुभाशुभ ब धक कर्म प्रमाद और आलस्य के दोष से किया है उसे छोड़ता हूँ। ऐसा चि तन करके प्राणियों को अभय दक्षिणा दे, चलता हुआ पैरों से हाथों से, वचन से, शरीर से और मन से प्राणियों की हिंसा नहीं करूगा, प्राणी निर्भय हों।

उपसहार

वैदिक परिव्राजक के सम्ब ध में लिखने योग्य बातें बहुत है, तथापि इस विषय मे अब अधिक लिखना समयोचित नहीं।

वैदिक परिव्राजक का मौलिक रूप विशेष त्यागमय और अप्रतिबद्ध है, परन्तु मानव स्वभावानुसार अन्यान्य धार्मिक सम्प्रदायों के श्रमणों की तरह वैदिक श्रमण भी धीरे धीरे निम्न गामी होता गया है, यह बात इस निबन्ध से स्पष्ट प्रतीत हो जायगी। उपनिषत् कालीन परिव्राजकों के जीवन में जो निस्पृहता दृष्टिगत होती है, वह स्मृतिकालीन सन्यासियों अथवा यतियों में नहीं दीखती, फिर भी सन्यासी सदा त्यागमयी और वैदिक धर्म की प्रचारकारिणी हैं इसमें कोई शङ्का नहीं।

उपनिषत् काल में परिव्राजक 'विवर्ण वासा' अर्थात् वर्ण हीन वस्त्रधारी होता था, परन्तु धर्मशास्त्र तथा स्मृतिशास्त्र कारों ने विवर्ण-वासा नहीं रहने दिया, इतना ही नहीं बल्कि कई स्मृतिकारों ने तो 'श्वेत वस्त्र" को सन्यासी के पतनों में से एक मान लिया। इसका कारण हमारी समझ में वैदिक यति को जैन यति से पृथक दिखाना मात्र था। जिस समय दक्षिण भारत में हजारों श्वेत वस्त्रधारी जैन श्रमण विचरते थे, उसी समय उस प्रदेश में विष्णु स्वामी, माध्वाचार्य, रामानुजाचार्य आदि विद्वानों ने भिन्न भिन्न वैष्णव सम्प्रदायों की स्थापना की थी और सम्प्रदाय के मुख्य अङ्गभूत सन्यासियों के नाम भी यति, मुनि आदि दिये जाते थे जो वास्तव में तत्कालीन जैन श्रमणों के नामों का अनुकरण था। परन्तु नाम तथा वेष के सादृश्य से कोई जैन श्रमणों को वैष्णव यति मानने के भ्रम में न पड़ इसलिये उनके वस्त्रों में से श्वेत वस्त्र को दूर कर दिया और भगवा कपड़ा विधान

अर्थात्—हे राम ! अहिंसा सत्यवचन, प्राणियों पर दया और सहानुभूति ये गुण जिस मनुष्य में होते हैं उस पर भगवान केशव (श्री विष्णु) सदा प्रसन्न रहते हैं। जो मनुष्य अपने माता पिता गुरुओं के साथ सद्व्यवहार करता है और शराब तथा मांस का त्यागी होता है उस पर केशव सदा खुश रहते हैं। हे भार्गव ! जो मानव सूअर आदि स्थलचर और मत्स्य आदि जलचर प्राणियों का मांस नहीं खाता तथा मद्यपान नहीं करता उस पर केशव सदा सन्तुष्ट रहते हैं।

(श्री विष्णु धर्मोत्तर खण्ड १ अध्याय ५८ पृ० ३४)

श्री मार्कण्डेय ऋषि राजा वज्र से कहते हैं—

मानवस्यास्वतन्त्रस्य गो ब्राह्मण हितस्य च ।
मांस-भक्षण-हीनस्य सदा सानुग्रहा ग्रह ॥१७॥

अर्थात्—गुरुओं के आज्ञाकारी, गौ ब्राह्मण के हितकारक और मांस भक्षण से दूर रहने वाले मानव पर सभी ग्रह सदा अनुकूल रहते हैं ॥११॥

(श्री वि ध ख १ अ १०५ पृ० ६५)

गवां प्रचार भूमिं तु वाहयित्वा हलादिना ।
नरक महदाप्नोति यावदिन्द्राश्चतुर्दश ॥१८॥
गोवधेन नरो [illegible] नरकानेकविंशतिम् ।
तस्मा[illegible] तु पालनम् ॥१९॥

अथान्—गौचरभूमि को हलाग्निसे जोतन वाला चौदह मन्वन्तर तक नरक म महान् दु ख भागना है गौ वध करने स मनुष्य इकोस बार नरक गति को प्राप्त होता है इस वास्त सर्व प्रयत्न से गायों का रक्षण करना चाहिए। (श्री वि ध म १ अ ४२ पृ ७०२)

मधु-मास-निवृत्ताश्च निवृत्ता मधु-पानत ।
काल-मैथुनतश्चापि विज्ञेया स्वर्गगामिन ॥८॥

अर्थात्—मधु (शहद) मास से निवृत्त, मद्यपान से दूर रहने वाले और ब्रह्मचर्य से रहने वाले मनुष्यों को स्वर्गगामी समझना चाहिये। (श्री वि ध म २ अ ११७ पृ ७७६)

मधु माम च य नित्य वर्जयन्तीह मानवा ।
जन्म प्रभृति मद्य च दुर्गाण्यतितरन्ति त ॥२३॥

अर्थात्—जो मनुष्य जीवन पर्यन्त मधु मास भक्षण से और मदिरा पान से दूर रहत हैं व कठिन आपत्तियों को भी आसानी से पार कर लत हैं।
(श्री वि ध म ७ अ १२२ पृ ७६२)

श्री हम ऋषियों को कहते हैं—

अहिंसा सर्वधर्माणा धर्म पर म्होच्यते ।
अहिंसया तदाप्नोति यत्किञ्चिन्मनसप्सितम् ॥१॥

अर्थात्—इस लोक में अहिंसा सर्व धमा म उत्कृष्ट धर्म है मनुष्य जो चाहता है अहिंसा से उस इष्ट पदार्थ को पाता है।

अर्थात्—हे राम ! अहिंसा, सत्यवचन, प्राणियों पर दया और सहानुभूति ये गुण जिस मनुष्य में होते हैं उस पर भगवान केशव (श्री विष्णु) सदा प्रसन्न रहते हैं। जो मनुष्य अपने माता पिता गुरुओं के साथ सद्व्यवहार करता है और शराब तथा मांस का त्यागी होता है उस पर केशव सदा खुश रहते हैं। हे भार्गव ! जो मानव सूअर आदि स्थलचर और मत्स्य आदि जलचर प्राणियों का मांस नहीं खाता तथा मद्यपान नहीं करता उस पर केशव सदा सन्तुष्ट रहते हैं।

(श्री विष्णु धर्मोत्तर खण्ड १ अध्याय ५८ पृ० ५४)

श्री मार्कण्डेय ऋषि राजा वज्र से कहते हैं—

मानवस्यास्वतन्त्रस्य गो ब्राह्मण हितस्य च ।
मांस-भक्षण-हीनस्य सदा सानुग्रहा ग्रहः ॥१७॥

अर्थात्—गुरुओं के आज्ञाकारी, गौ ब्राह्मण के हितकारक और मांस भक्षण से दूर रहने वाले मानव पर सभी ग्रह सदा अनुकूल रहते हैं ॥११॥

-(श्री वि ध ख १ अ १०५ पृ० ६५)

गवां प्रचार भूमिं तु वाहयित्वा हलादिना ।
नरकं महदाप्नोति यावदिन्द्राश्चतुर्दश ॥१८॥
गोनिधेन नरो याति नरकानेकविंशतिम् ।
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन कार्यं तासां तु पालनम् ॥१९॥

अहिंसा परमो धर्म सत्यमेव द्विजोत्तमाः ।
लोभाद्वा मोहतो वापि यो मासान्यत्ति मानव' ॥१२॥
निर्घृण स तु मन्तव्य, सर्व धर्म-विवर्जितः ।
स्वमास परमासेन यो वर्धयितुमिच्छति ॥१३॥
उद्विग्न वासे वसति यत्र यत्राभिजायते,

अर्थ—अहिंसा सचमुच ही श्रेष्ठ धम है। जो मनुष्य लोभ से अथवा मोह के वश होकर प्राणियों क मास खाता है उसे दया हीन समझना चाहिये, और पर प्राणियों क मास से जो अपना मास बढ़ाना चाहता है। वह सर्व धर्मों से हीन होता है। और वह जहा जहा उत्पन्न होता है वहा वहा उद्वेगमय जीवन बिताता है।

धनेन क्रयिको हन्ति उपभोगेन खादक ।
घातको वध बधाभ्यामित्येष त्रिविधो वध ॥१४॥
अभक्षयित्वा तु यो मास पश्चादपि निवर्तते ।
तस्यापि सुमहान् धर्मो य पापाद्विनिवर्तत ॥१५॥
राक्षसै र्वा पिशाचै र्वा डाकिनीभिर्निशाचरै ।
तथान्यैर्नाभिभूयेत यो मास परिवर्जयेत् ॥१६॥

अर्थ—मास को खरीदने वाला धन द्वारा हिंसा करता है, मास खाने वाला मास के उपभोग से हिंसा करता है और मारने वाला प्रहार तथा सख्त ब धन द्वारा पशु पक्षियों की हिंसा करता है, मास

खरीदना, खाना और मन न वचनों द्वारा पशु को मारना ये तीन प्रकार क वध कहे गये हैं।

जो मनुष्य पहले मास भक्षक होकर बाद में उसका त्याग कर लेता है वह भी धर्म का भागी बनता है क्योकि जो पापमार्ग से निवृत्त होता है वह भी धर्मियों मे ही परिगणित है।

जो मनुष्य मास का त्यागी होता है वह राक्षसों पिशाचों डाकिनियों और भूत प्रेतों द्वारा कभी छला नहीं जाता।

खेचरा यान्ति गच्छन्ति जीवितोऽस्य मृतस्य वा ॥१७॥
पृष्ठतो द्विज शार्दूल यो मास परिवर्जयेत्।
तथान्यैर्नाभिभूयते यो मास परिवर्जयेत् ॥१८॥

अर्थ—हे ब्राह्मण श्रेष्ठ! जिसने जीवन म भी जो मास का परित्याग करता है। उसकी जीवितावस्था म और मरने के बाद में भी आकाश गामी देव विद्याधर खबर रखते हैं। और मास त्यागी किसी भी क्षुद्र भूत प्रेत द्वारा सताया नहीं जाता।

चिता धूमस्य गन्धेऽपि मृतस्यापि निशाचरा।
क्रव्यादा विप्रणश्यन्ति यो मास परिवर्जयेत् ॥१९॥

अर्थ—जो मनुष्य मास का त्यागी है उसके जीते जी तो क्या मरने के बाद भी उसके शव की चिता के धूम की गन्ध पाकर भी कच्चा मास खाने वाले राक्षस तक दूर भागते हैं।

शस्त्राग्नि–नृप–चौरेभ्य सलिलाच्च तथा निपात्।
भय न विद्यते तस्य तथान्यदपि किञ्चन ॥२०॥

अर्थ—और उसका शस्त्र अग्नि राजा, चौर, जल, और जहर आदि से कभी भय नहीं होता।

न ताल्लोकान्प्रपद्यन्त ये लोका मांस वर्जिनाम् ।
स दण्डी स च विक्रान्त स यज्वा स तपस्यति॥२१॥
स सर्वं लोकानाप्नोति यो मांस परिवर्जयेत् ।
न तस्य दुर्लभ किंचित्तथा लोकद्वये भवत् ॥२२॥

अर्थ—जो लोक मांस त्यागियों के लिये नियत है। उन्हें मांस भक्षक कभी प्राप्त नहीं कर पाते। जो मांस का परित्यागी है वही सन्यासी, वही पराक्रमी, वही याज्ञिक, वही तपस्वी है और वही सब उत्तम लोकों को प्राप्त करता है। उसके लिये इस लोक मे तथा पर लोक में कोई उत्तम वस्तु दुर्लभ नहीं है। इतना ही नहीं किन्तु मांस भक्षण से निवृत्त होने वाला मनुष्य वरदान देने तथा शाप प्रदान करने मे भी समर्थ हो सकता है।

विमानमारुह्य शशाक तुल्य देवांगनाभि सहितो नृवीर ।
सुखानि भुक्त्वा सुचिर हि नाके लोकानवाप्नोति पितामहस्य।२३

अर्थ—मांस भक्षण से दूर रहने वाला वीर पुरुष चन्द्र तुल्य उज्ज्वल विमान में पहुँच कर देवांगनाओं के साथ दिव्य सुख भोगता है और अन्त मे ब्रह्म लोक को प्राप्त करता है।

इति श्री विष्णु धर्मोत्तरे तृतीयखण्डे मार्कण्डेय वज्र सवादे हंसगीतासु हिंसादोषवर्णनो नामाष्टपञ्चाधिकद्विशततमोऽध्याय ॥

॥ इति परिव्राजकाऽध्याय ॥

मानव-भोज्य मीमांसायाम्

षष्ठो अध्यायः

उद्दिष्टकृतभोजी शाक्यभिक्षु

उद्दिष्टकृतभिक्षाशी, धृतकाषायचीवर ।
शाक्यभिक्षुर्भवत्वङ्गि, कल्याणकरणक्षम ॥१॥

अर्थ—उद्दिष्टकृत भोजी तथा भिक्षा भोजी और काषाय-वस्त्रधारी शाक्यभिक्षु प्राणियों का कल्याण करने में समर्थ हो।

बुद्ध और बौद्धधर्म के इतिहास की रूपरेखा

बुद्ध—

बौद्धधर्म की उत्पत्ति शाक्य गौतम बुद्ध से हुई है। यद्यपि भगवान् बुद्ध का जन्म स्थान शाक्य क्षत्रियों की राजधानी कपिलवस्तु के निकटवर्ती लुम्बनी ग्राम था तथापि गौतम संन्यास लेने के बाद उस प्रदेश में अधिक नहीं रहे, अधिकांश वे गंगातट

स्थित प्रदेशों में रहा करते थे। सर्व प्रथम उन्होंने आलारकालाम तथा रुद्रक रामपुत्त नामक सन्यासियों के पास रहकर उनके सम्प्रदाय की कुछ बातें सीखी बाद में वे राजगृह गये और उरुवेल नदी के प्रदेश में तपस्या शुरू की। प्रथम निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय में प्रचलित अनेक तपस्याओं का आराधन किया, फिर स यासियों के सम्प्रदाय में प्रचलित तपस्याओं की तरफ झुके और विविध प्रकार के तापस सम्प्रदायों का भी आराधन किया। इन सभी बातों का उन्होंने "मज्झिम निकाय" के "महासीह नाद सुत्त" में वर्णन किया है। जिस का कुछ भाग नीचे दिया जाता है। पाठकगण देखेंगे कि महात्मा बुद्ध ने प्रारम्भ में कैसी कष्टकारिणी साधनायें की थीं।

"तत्रस्सु मे इदं सारिपुत्त तपस्सिताय होती अचेलको होमि मुत्ताचरो हत्थापलेखनो न एहि भदन्तिको न तिट्ठ भदन्तिको, नाभिहटं, न उद्दिस्स कटं न निम तणं सादियामि, सो न कुम्भीमुखा पतिगण्हामि न कलोपिमुखा पति गण्हामि, न एलक मन्तरं न मुसलमन्तरं न द्विन्न भुञ्जमानानं, न गब्भिनिया, न पायमानाय, न पुरिसन्तर गताय, न सकित्तीसु, न यत्थ सा उपट्ठितो होती, न यत्थ मक्खिका सण्डसण्ड चारिणी, न मच्छं न मसं न सुरं न मेरयं न थुसोदकं पिवामि। सो एकागारिको वा होमि एकालोपिको, द्वागारिको वा होमि द्वालोपिको, सत्तागारिको वा होमि सत्तालोपिको। एकिस्सापि दत्तिया यापेमि द्वीहि पि दत्तीहि यापेमि सत्तहि पि दत्तीहि यापेमि। एकाहिक पि आहार

आहारमि द्वीहिक पि आहर आहारमि, सत्ताहिक पि आहार आहारमि। इति एवरूप अद्धमासिक पि परियायभत्त भोजनानुयोग मनुयुत्तो विहरामि।

मज्झिमनिकाय" पृ० ३६-३७

अर्थ—हे सारिपुत्त! वहां पर इस प्रकार मेरी तपस्या होती थी। लोक लज्जा को छोड़कर हाथ में भोजन करने वाला मैं अचलेक हुआ, न भदन्त! आओ यह कहने पर जाता, ठहरो यह कहने पर ठहरता न सामने लाया हुआ भोजन खाता, न किसी का निमन्त्रित आहार लेता, न कुम्भीमुख से (जिसमें पकाया हो उसमें से) लेता, न कलोपी से थाली में से लाया हुआ लेता, न देहली अन्दर से, न मुसल के अन्दर से आहार लेता, न भोजन करते हुए दो में से एक के हाथ से, न गर्भिणी के हाथ से, न बच्चे को दूध पिलाती हुई स्त्री के हाथ से, न पुरुष के साथ गई स्त्री के हाथ से, न मेले या यात्रा के निमित तैयार किया हुआ, न कुत्ता खड़ा हो वहां से, न जहां मक्खियां भिनभिनाती हों वहां से आहार लेता था, न मत्स्य, न मांस भोजन लेता, न सुरा, न मेरय, न तुषोदक आदि मादक पानी पीता। कभी एक घर से भिक्षा लेने का अभिग्रह करता, और वहां से एक कवल जितना आहार लेता कभी दो घर का, और तीन कवल प्रमाण आहार कभी चार घर का और चार कवल प्रमाण आहार, कभी पांच घर का और पांच कवल प्रमाण आहार, और सात घर का अभिग्रह करता और सात कवल प्रमाण आहार लेता[1]।

१—जितने घर जाने का अभिग्रह लिया जाता उतने ही घरों में जा सकते थे, और प्रत्येक घर से एक एक कवल आहार लेते एक घर

हे सारिपुत्त ! कभी कभी मैं दत्तिया का अभिग्रह करता। एक दत्ति का अभिग्रह होता, उस दिन गृहस्थ अपने हाथ से एक बार जो कुछ देता उससे निर्वाह करता, दो दत्ति के नियम के दिन दो बार, तीन दत्ति के नियम के दिन तीन बार, यावद् सात दत्ति के नियम के दिन सात बार हाथ में लेकर जो देता उतना भोजन करता।

हे सारिपुत्त ! कभी मैं एक उपवास कर भोजन लेता, कभी दो उपवास कर भोजन लेता, कभी तीन उपवास कर भोजन लेता, इस प्रकार पाँच, छ, सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह, बारह, तेरह, चौदह और पन्द्रह उपवास तक कर के पारणा करता। इस प्रकार एक एक वृद्धि से आधे महीने तक उपवासी रहकर विचरता।

उपर्युक्त तप सम्बन्धी बुद्ध ने सारिपुत्त को जो वर्णन सुनाया है, वह अक्षरशः निर्ग्रन्थ श्रमणों का तप है। 'अन्तकृद् दशाङ्ग" "अनुत्तरोपपातिक दशा" आदि जैन सूत्रों में श्रमण श्रमणियों के विविध तपों में वर्णन किया गया है। जिन्होंने उक्त सूत्रों को पढ़ा है उन्हें कहने की आवश्यकता नहीं कि बुद्ध ने प्रारम्भ में जो तप किये थे वह निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियों के तपों का अनुकरण था।

का अभिग्रह किया और उसमें आहार न मिला तो उपवास करते, दो घर का अभिग्रह होता तो एक घर आहार मिलता दूसरे घर नहीं तो उस दिन एक ही कवल में चलाते इसी प्रकार जितने घर जाने का नियम होता उतने घरों में जाने और प्रत्येक घर में एक एक कवल प्रमाण आहार जिस दिन नियमानुसार जितना मिलता उस दिन उसी से चलाते।

निर्ग्रन्थों का तपोऽनुष्ठान करने के बाद इन्होंने सन्यासी सम्प्रदाय में प्रचलित तपों का अनुसरण किया था जो नीचे दिया जाता है।

"सा साकभक्खो वा होमि, सामाकभक्खो वा होमि, नीवारभ क्खो वा होमि दुहार क्यो दद्दल भक्खो, हट भक्खो कणभक्खो, आचाम भक्खो, पिञ्ञाक भक्खो, तिणभक्खो, गोमय भक्खो वा होमि, वन मूल फला हारी यापमि पवत्त फल भाजी। सो साणानिपि धारेमि, मसाणापि, छवदुस्सानिपि, पसु कुला निपि, तिरीटी निपि, अनिनपि, अजिन क्खिपपि, कुसचीरपि, वाक् चीरपि, फलक चीरपि, केसकम्बलपि उलूक पक्खपि धारेमि, केसमस्सुलोचकोपि होमि, कसमेरसु लोचनानुयोगमनुयुत्तो, उब्भट्ठ रापि होमि, आसन परिक्खित्तो उक्कुटिका पिटोमि उक्कुटिप्पधान मनुयुत्तो, कटकापस्सायिको होमि, कण्ट काप स्सय सेय्य कपपि, सायततिय कम्पि, उदका रोहणानुयोग मनुयुत्तो विहरामि। इति निहित कायस्स आताप परितापनानुयोग मनुयुत्तो विहरामि। एवरूप अनक ह्द म सारिपुत्त तपस्सितोप होति।

"मज्झिम निकाय" पृ- १२७

अर्थ—हे सारिपुत्र! यह मैं शाक, सामाकधान्य, निवार धान्य, चमार द्वारा फेंके गय चर्म क टुकड़े, सेवाल कण, आचाम कणधान्य, पिण्याक (तिल की खली), तृण, गोमय (गोबर) इन पदार्थों का भक्षण कर क रहता, वन्य मूल फलों का आहार कर के समय बिताता, तैयार किया हुआ फल खाकर दिन निर्वाह करता,

वह वर्षाचातुर्मास्य बनारस के निकट बिता कर फिर वे राज गृह की तरफ चले गये। वहा के राजा बिम्बसार ने उनके तथा उनके भिक्षुओं के निवास के लिये "वेणुवन" नामक एक उद्यान समर्पण कर दिया। वे यहा रहते हुए अपने धर्म का प्रचार करते थे। वहा के रहने वाले प्रसिद्ध स यासी उरुवेल काश्यप, नदी काश्यप, और गया काश्यप, बुद्ध के समागम में आये और उनके शिष्य बन गये। उक्त तीनों काश्यप वहा के विद्वान् और प्रतिष्ठित स यासी थे। उनके बुद्ध का शिष्यत्व स्वीकार करने का राजगृह निवासियों पर बड़ा प्रभाव पडा। लोग उनके पास जा जाकर उनका नया धर्म सुनते और कई उनके अनुयायी बन जाते। राजा बिम्बसार भी गौतम का अनुयायी बन चुका था, परन्तु बुद्ध अपने धर्म का सर्वत्र प्रचार करने को बडे उत्कण्ठित थे। प्रथम उ होंने अपने विद्वान् भिक्षुओं को उपदेशक के रूप में चारा दिशाओं में भेजा। पर तु बाद में उ हे ज्ञात हुआ कि इस पद्धति से भिक्षुओं को बड़ा कष्ट होता है अत सघ के रूप मे एक साथ फिरना ही योग्य है। वे अपने सभी भिक्षुओं को साथ में लिये भारत के सभी आर्य देशों म घूमते-पूर्व में अङ्ग, पश्चिम मे कुरुक्षेत्र, उत्तर मे हिमालय और दक्षिण मे विन्ध्याचल की उत्तरी सीमा। बुद्ध के समय में यही मध्य प्रदेश आर्यभूमि माना जाता था। बुद्ध अपने भिक्षु सघ क साथ इस आर्यक्षेत्र के भीतर घूमा करते और अपने भिक्षु समुदाय को बढ़ाते जाते थे, इनने गृहस्थ उपासक इनके

रहने के लिये विहार बनवा कर भिक्षु संघ को समर्पण कर देते थ। राजगृह मे ऐसे अठारह बौद्ध विहार थे परन्तु बुद्ध के निर्वाण समय मे वे सभी जीर्ण शीर्ण अवस्था म पडे थे। इसका कारण यह ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर के राजगृह तथा उसके आस पास के प्रदेश में अधिक विचरने के कारण वहा जैन धर्म तथा जैन श्रमणों का आदर बढ़ गया था। फलस्वरूप अङ्ग मगध, आदि देशों म बुद्ध कम विचरते थ, उस समय उनके विहार का मुख्य क्षेत्र कौशल प्रदेश बन गया था। व श्रावस्ती के बाहर अनाथ पिण्डिक उद्यान म रहा करते थे, परन्तु शीत उष्ण ऋतुओं मे तो उनकी चारिका होती रहती थी। वत्स, मलय, विदेह, कौशल, काशी आदि देशो में बुद्ध के उपदेश ने पर्याप्त सफलता पायी थी।

बुद्ध का उपदेश सर्वसाधारण के लिये समान होता था। वे मानसिक, वाचिक, कायिक दोषों को दूर करने का उपदेश करते, इन दोषों का दूर करने का कारण ध्यान बताते, देह का दमन न कर आध्यात्मिक शुद्धि करने से ही आत्मा का निर्वाण होता है, धर्म को सभी जातियां समान रूप से ग्रहण कर पालन कर सकती है। जन्म से जाति अथवा वर्ण नहीं होता पर कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्रादि नाम पड़ते हैं। चाण्डाल भी ब्राह्मणोचित सदाचार पालेगा तो वह ब्राह्मण ही माना जायगा। ब्राह्मण के घर जन्म लेने वाला मनुष्य यदि चाण्डाल के कर्त्तव्य करेगा तो वह चाण्डाल की कोटि में गिना जायगा। इस प्रकार के उपदेश का परिणाम बौद्ध धर्म के लिय लाभदायक हुआ। कई विद्वान्

ब्राह्मण भी इस विषय में बुद्ध से चर्चा करके निरुत्तर होते और उनके अनुयायी बन जाते थे, तो शूद्र तथा इतर हल्की जाति के मनुष्यों का तो कहना ही क्या ?

स्त्री प्रव्रज्या

प्रारम्भ में बुद्ध ने स्त्रियों को प्रव्रज्या नहीं दी थी परन्तु उनके शिष्य आनन्द के अनुरोध से उन्होंने स्त्रियों को प्रव्रज्या देना स्वीकार किया, परन्तु यह स्वीकार प्रव्रजित होने वाली स्त्रियों में मुख्या महाप्रजापति गौतमी के आठ नियम मान लेने के बाद किया गया था। वे नियम ये थे —

१—भिक्षुणी संघ में चाहे जितने वर्षों तक रही हो तो भी उसे चाहिए कि वह छोटे बड़े सभी भिक्षुओं को प्रणाम करे।

२—जिस गाँव में भिक्षु न हो वहाँ भिक्षुणी न रहे।

३—हर पखवारे में उपोसथ किस दिन है, और धर्मोपदेश सुनने के लिये कब आना है ये दो बातें भिक्षुणी भिक्षु संघ से पूछ ले।

४—चातुर्मास्य के बाद भिक्षुणी को भिक्षु-संघ और भिक्षुणी संघ की प्रवारणा करनी चाहिए।

५—जिस भिक्षुणी से संघादि शेष आपत्ति हुई हो उसे दोनों संघों में पन्द्रह दिनों का मानत्त[१] लेना चाहिए।

टिप्पणी—१ संघ के सन्तोष के लिये विहार से बाहर रातें बिताना।

६—जिसने दो वर्ष तक अध्ययन किया हो ऐसी श्रामणेरी को दोनों संघ उपसम्पन्ना कर दें।

७—किसी कारण से भिक्षुणी भिक्षु को गाली गलौज न दे।

८—भिक्षु भिक्षुणी को उपदेश दे।

ऊपर कह आये हैं कि बुद्ध जातिभेद नहीं मानते थे। इस कारण इन के भिक्षु भिक्षुणी संघ में सभी जाति के पुरुष स्त्रियां प्रव्रजित होती थीं।

बुद्ध ने प्रारम्भ में संघ व्यवस्था के लिये कोई नियम उपनियम नहीं बनाये थे, परन्तु ज्यों ज्यों समुदाय बढ़ता गया त्यों त्यों आवश्यकता के अनुसार नियम बनाते गये। बुद्ध का कहना यह था कि जब तक संघ में किसी प्रकार का दोष दृष्टि गोचर न हो तब तक उसके निवारणार्थ नियम बनाना बेकार है। धीरे धीरे भिक्षु भिक्षुणियों में अव्यवस्था दृष्टिगोचर होती गई और उसके निवारणार्थ नियम बनते गये। भिक्षु तथा भिक्षुणी संघ के लिये बनाये गये नियमों का संग्रह "विनय पिटक" में दिया गया है। जिनको क्रमश "भिक्खू पातिमोक्ख" तथा भिक्खूणी पातिमोक्ख' कहते हैं।

बुद्ध के जीवन काल में कुल भिक्षु भिक्षुणियों की क्या संख्या थी इसका ठीक पता नहीं चलता। बुद्ध के निर्वाण के बाद वहां सात दिन में इकट्ठे हुए भिक्षुओं की संख्या सात लाख की लिखी है, जो अतिशयोक्ति मात्र है। अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बी का

मानना है कि उस समय पाच सौ से अधिक बौद्ध भिक्षु नहीं होने चाहिए, क्योंकि निर्वाण के बाद बुद्ध के उपदेशों को व्यवस्थित करने के लिए सर्व प्रथम बौद्ध भिक्षु राजगृह म मिले थ, और उनकी सख्या पाँच सौ की थी। कुछ भी हो पर यह तो निश्चित है कि पिछले बौद्ध साहित्य मं हद से ज्यादा अतिशयोक्ति पूण प्रक्षेप हुए हैं, जिनका पृथक्करण करना असम्भव है।

बुद्ध ने अपने भिक्षुओ को अन्तिम यह हिदायत की थी कि मैंने सघ के लिये धर्माचार के सम्बन्ध में जो नियमोपनियम बताये हैं, उनम समय के अनुसार परिवर्त्तन कर सकते हो। बुद्ध की इस छूट का प्रभाव बहुत बुरा पड़ा। बुद्ध को निर्वाण प्राप्त हुए एक सौ वर्ष हुए थे, वैशाली वज्जी पुत्र भिक्षुओ ने वैशाली में अपने आचार मार्ग मे क्रान्ति करने वाले दश नये नियम बनाये। जो निम्नलिखित हैं—

" वस्समत परिनिब्बुते भगवती वेसालिका वज्जिपुत्तका भिक्खू वेसालिय—कप्पति सिंगिलोण कप्पो, कप्पति द्व गुल कप्पो, कप्पति गामतर कप्पा, कप्पति आवास कप्पो, कप्पति अनुमति कप्पो, कप्पति आचीण कप्पो, कप्पति अमथित कप्पो, कप्पति जलोगिं पातु कप्पति अदक निसीदन कप्पति, जात रूप रजत पि, इमानी दस वत्थूनि दीपमु "।

अथ —भगवान निर्वाण प्राप्त हुए सौ वर्ष होने पर वैशालिक वज्जीपुत्र भिक्षुओं न वैशाली म,—

भिन्नु को सिंगी नमक भिक्षा म लेना कल्पता है। द्वय गुल कल्प कल्पता है। ग्रामान्तर कल्प कल्पता है। आवास कल्प कल्पता है। अनुमति कल्प कल्पता है। आचीर्ण कल्प कल्पता है। अमथित कल्प कल्पता है। नलोगी पीना कल्पता है। पानी समीप म न हाने पर भी बैठना कल्पता ह। सोना चान्दी रखना कल्पता है। ये दश नियम हैं।

मौर्य काल मे बौद्धधर्म का प्रचार

भगवान् बुद्ध क निर्वाण से दो सौ अठारहवें वर्ष म मौर्य राजकुमार अशोक का राज्याभिषेक हुआ। बाद म अशोक बौद्ध भिक्षुओं के उपदेश से बौद्ध धर्म का उपासक बना और पाटलिपुत्र नगर म बौद्ध भिन्नु भिक्षुणियों का सम्मेलन किया। इस सम्मेलन म उपस्थित भिक्षु भिक्षुणिया की वास्तविक संख्या क्या थी यह कहना कठिन है, क्योंकि बौद्ध ग्रथों मे इस घटना के वर्णन मे राइ का पर्वत बना दिया है, फिर भी हम यह अनुमान कर सकते हैं कि बुद्ध के निर्वाण समय म उनके सघ म जो भिक्षु संख्या थी, उससे इस समय के सघ से अधिक ही होगी क्योंकि बुद्ध के समय म उनका अनुशासन कडक और भिक्षुओं क पालनीय नियम भी कडे थे। परन्तु सौ वर्ष के बाद वैशाली मे कुछ नियम शिथिल कर दिये गये थ जिससे बौद्ध भिक्षु का जीवन विशेष सुखशील बन गया था। इस कारण तब से भिक्षु संख्या अधिक प्रमाण मे बढ़ी होगी इस म कोइ शङ्का नहीं है।

धर्मप्रचार में अशोक का सहकार

इस बौद्ध सघ सम्मेलन मे बौद्ध धार्मिक साहित्य को व्यवस्थित कर क अतिम रूप दिया गया और साथ म यह भी निर्णय किया गया कि भारत वर्ष क अतिरिक्त विदेशों म भी उपदेशक भिक्षुओं को भेजकर बौद्ध धर्म का प्रचार किया जाय। इस योजना के अनुसार भारत के निकटवर्ती सिंहल द्वीप, ब्रह्मदेश और पश्चिम के निकट वर्ती देशों मे उपदेशक भिक्षुओं की टुकड़िया भेजी गयीं।

सिंहलद्वीप में अशोक का पुत्र महेन्द्रकुमार और पुत्री उत्तरा जो भिक्षु भिक्षुणी बने हुए थे कुछ सहकारी भिक्षु भिक्षुणियों के साथ भेजे गये। इन उपदेशकों का सिंहल द्वीप की जनता और खास कर के लङ्का के राजा पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा, सैकड़ों मनुष्य बुद्ध धर्म क अनुयायी बने। इस सफलता से प्रोत्साहित हो कर लङ्का म भारत से बोधिवृक्ष की शाखा मगवा कर वहा लगवाने का निश्चय किया, और इसके लिय भारत क महाराजा अशोक को बोधिवृक्ष की शाखा भेजने के लिये प्रार्थना की गइ। अशोक ने सहर्ष सिंहल द्वीपियों की प्रार्थना स्वीकार कर बडे शाही ठाठ से बोधिवृक्ष की शाखा वहा पहुचाइ। इस प्रकार सिंहल द्वीप में अशोक के समय मे ही बौद्ध धर्म की नींव मजबूत हो गई थी। ब्रह्म, श्याम आदि देशों में उपदेशक भिक्षु प्रचार का काम बड़ी लगन से कर रहे थे, और हजारों ही नहीं लाखों मनुष्य उनके अनुयायी बनते जाते थे।

चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार ईसा की पहली शताब्दी में हुआ। परन्तु वह चौथी शताब्दी तक राजधर्म नहीं हुआ था और जो पुस्तकें उस समय चीन के यात्री लोग भिन्न भिन्न शताब्दियों में भारतवर्ष से ले गये थे उस में भारतवर्ष के बौद्धधर्म के सब से प्राचीन रूप का वृत्तान्त नहीं है। बौद्धधर्म का प्रचार जापान में ईसा की पांचवीं शताब्दी में और तिब्बत में सातवीं शताब्दी में हुआ। तिब्बत भारतवर्ष के प्राथमिक बौद्ध धर्म से बहुत दूर है। और उसने ऐसी बातों और ऐसे विधानों को ग्रहण किया है जो गौतम तथा उसके अनुयायियों को विदित नहीं थे।

महायान की शुरूआत

ईसवी सन् अष्टोत्तर के आस पास चीन स्थित बौद्धों ने बौद्ध धर्म में क्रांतिकारी परिवर्तन किया। पाली बौद्ध साहित्य का उन्होंने संस्कृत भाषा में अनुवादित कर दिया, इतना ही नहीं ललित विस्तर आदि अनेक मौलिक ग्रन्थों का भी निर्माण किया। भगवान् बुद्ध के उपदेशों का सारांश अहिंसक वर्त्तन और मानसिक वाचिक, कायिक पापों की विशुद्धि और ध्यान द्वारा आत्मशुद्धि करने का था, उसको गौण बनाकर चीनी बौद्धों ने उपासना मार्ग का महत्त्व दिया। वे स्तुति स्तोत्रों द्वारा बुद्ध मूर्त्ति की स्तुति तथा प्रार्थना करके अपने धार्मिक जीवन को सफल मानने लगे। बुद्ध के शिक्षा पद भिक्षुओं के आचार और गृहस्थों के पञ्चशील आदि मौलिक उपदेश मूल ग्रन्थों में ही रह गये। इस प्रकार के उपासना

माग को महत्व देने वाले बौद्धों ने अपने चीन स्थित बौद्ध संघ को "महायान" इस नाम से प्रसिद्ध किया, और लङ्का ब्रह्मदेश आदि बौद्ध संघ को प्राचीन पाली साहित्य का मानने वाला है उसे "हीन-यान" इस नाम से सम्बोधित किया, परन्तु सिलोन, ब्रह्म, यावा, सुमात्रा, आदि के बौद्ध अपने को हीनयानी न कहकर थेरगाथावादी कहते हैं। तिब्बेटियन बौद्धों का भूत प्रेतों तथा अद्भुत चमत्कारों पर बड़ा विश्वास है। तिब्बत के कतिपय भिक्षु आज भी वहां की गुफाओं तथा गहन जंगलों में वर्षों तक अद्भुत सिद्धियों के लिये योग साधनायें करते हैं। प्रवासियों के यात्रा विवरणों में पढ़ते भी हैं कि तिबेटी योगियों में कोई कोई अद्भुत सिद्धि प्राप्त होते हैं।

भारत का बौद्ध धर्म

भारत वर्ष तो बौद्ध धर्म की जन्मभूमि ही ठहरा, अशोक मौर्य के समय में इसने सारे उत्तरी भारत वर्ष में अपना स्थान बना लिया था, और दक्षिण भारत वर्ष में भी इसके उपदेशक अपना प्रचार कर ही रहे थे। भारत के प्रान्तवर्ती विदेशी राज्यों में भी अशोक ने अपना प्रभाव डाल कर वहां के राजाओं को बौद्ध धर्म के प्रचार में सहायक बनाया था, परन्तु, अशोक की मृत्यु के बाद यह स्कीम ढीली पड़ गई थी। विशेषतः भारत वर्ष में अशोक के उत्तराधिकारी मौर्य राजा सम्प्रति के जैन बनने के बाद भारत में अशोक कालीन बौद्ध धर्म की प्रचार योजनायें बन्द सी हो गईं थीं। बिहार के पूर्वी प्रदेशों को छोड़कर शेष उत्तरी तथा पश्चिमी

भारत के सभी देशों में राजा सम्प्रति के भेजे हुए विद्वान् जैन धर्म का प्रचार कर रहे थे। दक्षिण भारत के सुदूरवर्ती आन्ध्र द्रविड प्रदेशों में भी सम्प्रति के वेतन-भागी उपदेशक जैन संस्कृति का प्रचार करने लग गये थे। इधर जैन धर्मियों के साथ जैन श्रमणों की संख्या भी खूब बढ़ी थी और वे भारत के कोने कोने में घूम कर जनता को जैन धर्म का उपासक बना रहे थे। इस परिस्थिति में भारत में बौद्ध भिक्षुओं के धर्म प्रचार में पर्याप्त मन्दता आगई थी।

बौद्धधर्म को विदेशों में फैलने और भारत से निर्वासित होने के कारण

वैदिक तथा जैन धर्म के उपदेशक ब्राह्मण श्रमणों को आर्य भूमि से बाहर जाने की आज्ञा नहीं थी। वैदिक धर्म शास्त्रकारों ने जिस भूमिभाग में कृष्णमृग दृष्टिगोचर होता हो उसी भूमि भाग में ब्राह्मणों को जाने आने की आज्ञा दी थी। ज्यादा से ज्यादा पूर्व में काशी पश्चिम में कुरु देश, दक्षिण में विन्ध्याचल और उत्तर में हिमाचल की तलहटी तक ब्राह्मणों को तीर्थ यात्रादि के निमित्त भ्रमण करने की आज्ञा दी गई थी।

जैन श्रमणों को पूर्व में अङ्ग बङ्ग, पश्चिम में सिन्धु सौवीर, दक्षिण में वत्स कौशाम्बी, और उत्तर में कुणाला श्रावस्ती तक के साढ़े पच्चीस देशों में विचरने की ही आज्ञा थी। गौतम बुद्ध भारत वर्ष के उत्तर प्रदेश में जन्मे थे, और उन्होंने मगध, काशी, कोशल

वत्स आदि मध्य भारत के अनेक देशों में भ्रमण कर अपने धर्म का प्रचार किया था। उनके धार्मिक सिद्धान्त बहुत जल्दी दूर दूर तक फैलें, यह उनकी तीव्र आकांक्षा थी और इसी उत्कण्ठा के वश होकर इन्होंने शिष्यों को पृथक् पृथक् स्थानों में प्रचारार्थ भेजा था, परन्तु भिक्षुओं की कठिनाइयों का विचार कर यह स्कीम उन्होंने बाद में बदल दी थी, और स्वयं भिक्षु संघ के साथ रह कर घूमते, और अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते थे। बुद्ध के जीवन की अन्तिम घड़ी तक यह क्रम चलता रहा।

ऐसा ज्ञात होता है कि बुद्ध परिनिर्वाण के पीछे बौद्ध भिक्षुओं की संख्या विशेष बढ़ने लगी थी। बुद्ध के बनाये हुए उनके जीवन नियमों में भिक्षुओं ने यथेष्ट परिवर्तन कर लिया था, और साथ घूमना का छूट तो बुद्ध के ही गये थे। इस सुख साधन सम्पन्न बौद्ध भिक्षु के जीवन में कहां जाना कहां नहीं इसका प्रश्न ही नहीं रहा था। अन्य प्रदेशों में जैन और ब्राह्मणों का बहुत्व तो था ही साथ साथ बौद्ध भिक्षुओं की संख्या वृद्धि के कारण वे भी सर्वत्र दृष्टिगोचर होते थे। बुद्ध ने उन्हें मध्य के देशों में जाने की भी आज्ञा दे ही दी थी। इस कारण विद्वान् बौद्ध भिक्षु भारत के समीपवर्ती देशों में भी घूमने लगे। वहां जो कुछ मिलता खा पी लेते, और बुद्ध के सुकुमार धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचार किया करते थे।

भारत के बाहर के प्रदेशों में भी प्रचार

मौर्यकाल तक बौद्धधर्म भारत वर्ष में ही सीमित रहा, पर सम्राट् अशोक ने इसे भारत के बाहर भी फैलाने का प्रयत्न किया।

विन्ध्याचल के उत्तर म सारा भारत वर्ष जैन और ब्राह्मण संस्कृति का केन्द्र बना हुआ था।

चन्द्रगुप्त की सभा म वर्षों तक रहने वाले और उत्तर भारत में भ्रमण कर यहा का विवरण लेखक ग्रीक विद्वान् मेगास्थनीज के भारत विवरण से जाना जाता है कि ग्रीक विजेता सिकन्दर के भारत पर चढ आने के समय सिंधु नदी के पश्चिम तट क प्रदेश मे ब्राह्मण सन्यासियों का प्राबल्य था और इसी कारण से सिकन्दर ने उनके आगे वहा नेताओ को अपने साथ मिला कर भारत पर धावा करने का माग सरल करना चाहा था, परन्तु उसमें वह सफल न हो सका। स यासियों की जमात से बहिष्कृत एक सन्यासी जिसका नाम मेगास्थनीज न "कलेनस" लिखा है सिकन्दर का आज्ञाकारी बन चुका था, परन्तु सबसे बड़ा और सर्व सन्यासियों का नेता वृद्ध स यासी मण्डेनिस सिकन्दर की बातों में नहीं आया था। इस सम्बन्ध में मेगास्थनीज अपने भारत विवरण म निम्नोद्ध त पंक्तिया लिखता है।

"मेगास्थनीज कहता है कि आत्मघात करना दार्शनिकों का सिद्धान्त नहीं है, किन्तु जो ऐसा करते हैं, वे निरे मूर्ख समझे जाते ह। स्वभावत कठोर हृदय वाले अपने शरीर मे छुरा भोंकते हैं, अथवा ऊचे स्थानों से गिर कर प्राण दते हैं, कष्ट की उपेक्षा करने वाले डूब मरते ह, कष्ट सहने म सक्षम फासी लगाते हैं और उत्साह पूर्ण मनुष्य आग म कूदते ह। कल्लेनस भी इसी प्रकृति का मनुष्य था। वह अपन कुकृतियों के वश म तथा और

सिकन्दर का दास हो गया था। इसी लिये वह निन्दास्पद समझा जाता है। किन्तु मण्डेनिस की प्रशंसा की जाती है, क्योंकि जब सिकन्दर के दूतों ने ज्युस के पुत्र के निकट जाने के लिये उसे निमन्त्रण दिया तब वह नहीं गया, यद्यपि दूतों ने जाने पर पारितोषिक देने की और नहीं जाने पर दण्ड देने की प्रतिज्ञा की थी। उसने कहा कि सिकन्दर ज्युस का पुत्र नहीं है क्योंकि वह आधी पृथ्वी का भी अधिपति नहीं है। अपने लिये उसने कहा कि मैं ऐसे मनुष्य का दान नहीं लेना चाहता जिसकी इच्छा किसी वस्तु से पूर्ण नहीं होती और उसकी धमकी का मुझे डर नहीं है, क्योंकि यदि मैं जीवित रहा तो भारतवर्ष मेरे भोजन के लिये बहुत देगा और यदि मैं मर गया तो वृद्धावस्था से क्लिष्ट इस अस्थि चर्म के शरीर से मुक्त होकर मैं उत्तम और पवित्र जीवन प्राप्त करूँगा। सिकन्दर ने आश्चर्यान्वित होकर उसकी प्रशंसा की और उसकी इच्छानुसार उसे छोड़ दिया।

(मेगास्थनीज भारत विवरण पृ० ६२)

इसी सम्बन्ध में पञ्च चत्वारिंशत् पत्र खण्ड मेएरियन ७ २ ३ ६ के आधार पर लिखा है।

"इससे विदित होता है कि यद्यपि सिकन्दर यश प्राप्त करने की घोर इच्छा के वशीभूत था, तथापि वह उत्तम पदार्थों को परखने की शक्ति से सर्वथा रहित नहीं था। जब वह तक्षशिला पहुंचा और दिगम्बर दार्शनिकों को देखा तब उनमें से एक को अपने सम्मुख बुलाने की उसे इच्छा हुई, क्योंकि उनकी सहिष्णुता

का वह आदर करता था। डैंडमिस इनमें सबसे बड़ा था और सब उसके शिष्य के समान रहते थे। उसने केवल अपने ही जाने से अस्वीकार नहीं किया किन्तु दूसरों को भी नहीं जाने दिया। कहा जाता है कि उसने यह उत्तर दिया था—मैं भी ज्युस का वैसा ही पुत्र हूँ जैसा कि सिकन्दर है और मैं सिकन्दर का कुछ लेना नहीं चाहता (क्योंकि मैं वर्त्तमान अवस्था में भली भांति हूँ) क्योंकि मैं देखता हूँ कि जो लोग सिकन्दर के साथ इतने समुद्र और पृथ्वी में घूमते हैं उन्हें कुछ लाभ नहीं होता और न उसके पर्यटन ही का अन्त होता। इस लिये सिकन्दर जो कुछ दे सकता है उन सबों की मैं इच्छा नहीं करता और न मुझे इस बात का डर है कि मुझे दबा कर वह मेरा कुछ कर सकता है। यदि मैं जीवित रहा तो भारतभूमि ऋतुओं के अनुकूल फल देकर मेरी प्राण रक्षा में समर्थ है और यदि मैं मर गया तो इस दूषित शरीर से मुक्त हो जाऊंगा।' उसे स्वतन्त्र प्रकृति का मनुष्य जान कर सिकन्दर ने बल प्रयोग नहीं किया। यह कहा जाता है कि उसने कलेनस नामक उस स्थान के एक दार्शनिक को अपने निकट रक्खा था किन्तु मेगास्थनीज कहता है कि वह आत्मसंयम एक दम नहीं जानता और दार्शनिक लोग स्वयं कलेनस की बड़ी निन्दा करते हैं, क्योंकि वह उन लोगों के सुख को छोड़ कर ईश्वर के अतिरिक्त दूसरे प्रभु का सेवन करता चला गया।

(मेगास्थनीज भारत विवरण पृ० ८७)

इन वर्णनों से सिद्ध होता है कि मौर्य चन्द्रगुप्त के समय में भारत के पश्चिम ओर तक्षशिला के आस पास ब्राह्मण से यासियों

का ही अधिक भ्रमण होता था। बौद्ध भिक्षु तब तक तक्षशिला के निकट प्रदेश में पहुँच भी नहीं पाये थे।

अशोक के समय में बौद्ध धर्म भारत वर्ष मे कुछ समय के लिये चमक उठा था, परन्तु चीन आदि प्रदेशों मे यह प्रतिदिन प्रबल हो रहा था और वहां के विद्वान् भिक्षु बौद्ध साहित्य की खोज और प्राप्ति के लिये आते रहते थे। ईशा के पूर्व की पहली शताब्दी तक भारत के बाहर और भारत के द्वार रूप गान्धार पुरुषपुर (पेशावर) तक्षशिला आदि स्थानों में बौद्ध भिक्षु हजारों की सख्या में फैल गये थे। चन्द्रगुप्त के समय में इस भूमि में जितना ब्राह्मण सन्यासियों का प्राबल्य था उससे भी कहीं अधिक बौद्ध भिक्षु दृष्टिगोचर होते थे। इसके सम्बन्ध में जैन सूत्र वृहत्कल्प की निम्नोद्धृत गाथायें प्रमाण के रूप में दी जा सकती हैं।

पाडलि मुरुण्डदूते, पुरिसपुरे सचिव मेलनाऽऽवासो।
भिक्खू असउण तइये, दिणम्मिरन्नो सचिव पुच्छा ॥२२६२
निग्गमण च अमच्चे, सब्भावाऽऽइक्खिउये भणइदय।
अतो वहिं च रत्था, नऽहरति इह पवेसणया ॥

अर्थ—पाटलिपुत्र के राजा मुरुण्ड ने अपना दूत पुरुषपुर (पेशावर) के राजा के पास भेजा, दूत वहां के राजमन्त्री से मिला, मन्त्री ने दूत को ठहरने के लिये मकान दिया और राजा से मिलने का टाइम सूचित किया, पर दूत राजा से न मिला, दूसरे तथा तीसरे दिन भी दूत राजा से न मिला, तब राज

सचिव ने दूतावास में जाकर राजसभा में न आने का कारण पूछा। उत्तर में दूत ने कहा मैं पहले ही दिन सभा में आने के लिये निकला तो रक्तपट भिक्षु सामने मिले, अपशकुन समझ कर वापस लौट गया। दूसरे तीसरे दिन भी राजा साहब के पास आने को निकला तो वैसे ही रक्तवस्त्रधारी भिक्षु सामने मिले और अपशकुन हुए जान कर मैं फिर निवृत्त हो गया। दूत की यह बात सुनकर राज सचिव ने कहा महाशय! इस देश मे शेरी के भीतर या बाहर कहीं भी ये भिक्षु मिलें तो भी इनका दर्शन अप शकुन नहीं माना जाता। यह कहकर मन्त्री ने मुरुण्ड के दूत को राजसभा में प्रवेश करवाया।

उपर्युक्त वृतान्त से दो बातें फलित होती हैं एक तो यह कि मुरुण्ड के समय मे पेशावर के आस पास बौद्ध भिक्षुओं की सख्या इतनी अधिक बढ़ गई थी कि लोग उन्हें सर्व साधारण मनुष्य के रूप म देखते थे।

दूसरी यह कि पाटलिपुत्र उसके आस पास के अनेक देशों में रक्तवस्त्र वाले भिक्षुओं का दर्शन अपशकुन माना जाता था। इसका अर्थ यह है कि मुरुण्ड के समय म उत्तर भारत में बौद्ध भिक्षु अति विरल सख्या में कदाचित् ही दृष्टिगोचर होते थे।

इसवी सन् चार सौ के लगभग भारत की यात्रा करने वाले चीनी यात्री फाहियान साकास्य देश के सम्बन्ध में अपनी यात्रा विवरण में " है,

"देश भर में मांसाहारी नहीं हैं। न ही कोई मादक द्रव्यों का उपयोग करता है। प्याज और लहसुन नहीं खाते। केवल चाण्डाल लोग ही इस नियम का उल्लंघन करते हैं। वे सब बस्ती के बाहर रहते हैं और अस्पृश्य कहलाते हैं। इनको कोई छूता भी नहीं नगर में प्रवेश करते समय वे लकड़ी से कुछ संकेत और आवाज करते हैं। इसको सुनकर नागरिक हट जाते हैं। इस देश के लोग सूअर नहीं पालते। बाजार में मांस और मादक द्रव्यों की दूकानें भी नहीं हैं। व्यापार के हेतु यहां के निवासी कौड़ी का व्यवहार करते हैं। केवल चाण्डाल मात्र ही मांस मछली मारते और शिकार करते हैं।" (फाहियान पृ० २६-२७)

फाहियान के उपर्युक्त विवरण से यह प्रमाणित होता है कि ईसा की चतुर्थ शताब्दी के अन्त तक उत्तर भारत वर्ष अन्न भोजी बना रहा है। इस आर्यभूमि की यह परिस्थिति तात्कालिक ही नहीं थी बल्कि वेदकाल से चली आ रही थी। जो बौद्ध लेखक यह मानते हैं कि बुद्ध के समय में सारे बाजारों में गोमांस बिकता था उनके इस कथन का फाहियान का उक्त कथन एक प्रामाणिक उत्तर है। जिन देशों को जैन सूत्रकारों ने आर्य देश यह नाम दिया है, और वैदिक ग्रन्थकारों ने आर्यभूमि कह कहकर उनका बहुमान किया है, उन देशों में न कभी खुले आम मांस बिकता था न मदिरा पी जाती थी। मांस मदिरा भक्षण तो क्या ? उस समय के आर्य लहसुन प्याज तक नहीं खाते थे। मांसादि अभक्ष्य पदार्थों का उन्हीं प्रदेशों में अधिक व्यवहार होता था, जो अनार्य कहलाते

थे और बौद्ध भिक्षुओं के विहार क्षेत्र थे। जब से भारत के बाहर के देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ तब से तो मांस मत्स्य लहसुन प्याज आदि खाना भिक्षुओं के लिये एक साधारण व्यवहार सा हो गया था, और इन विदेशी भिक्षुओं के समागम से भारतीय बौद्धों के भोजन में भी इन अभक्ष्य पदार्थों की मात्रा अमर्यादित हो गई थी। ब्राह्मण तथा जैन सम्प्रदायों के मानने वाले विद्वान् बौद्धों की इस भोजन सम्बन्धी भ्रष्टता की कठोर टीकायें करते थे। भारत की उच्च जातियां भी इस भ्रष्टता से ऊब कर बौद्ध धर्म से विमुख हो रही थीं। फिर भी बौद्ध भिक्षु गण मांस छोड़ने को तैयार नहीं था, इतना ही नहीं बल्कि तत्कालीन विद्वान् बौद्ध आचार्य तर्क शास्त्र के बल से मांस भक्षण को निर्दोष साबित करने के लिये कटिबद्ध रहते थे। इस बात का सूचन आचार्य हरिभद्रसूरी के निम्न लिखित श्लोकों से मिलता है।

> भक्षणीयं सतां मांसं, प्राण्यङ्गत्वेन हेतुना।
> ओदनादिवदित्येवं, कश्चिदाहातितार्किकः ॥१॥
> शास्त्रे चाप्तेन वोऽप्येवंनिषिद्धं यत्नतो ननु।
> लङ्कावतारसूत्रादौ, ततोऽनेन न किञ्चन ॥२॥

अर्थः—मांस प्राण्यङ्ग होने के कारण अच्छे मनुष्य के लिये खाने योग्य भोजन है, जैसे ओदन। यह अतितार्किक[१] कहता है।

१—यह सूचन बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति के लिये होना चाहिए क्योंकि इन्हीं हरिभद्रसूरी ने न्याय के ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर धर्मकीर्ति का इसी प्रकार से उल्लेख और खण्डन किया है।

(इसका आचार्य उत्तर देते हैं) तुम्हारे आप्त ने भी लङ्कावतार सूत्र आदि शास्त्र में मांस भक्षण का निषेध किया है इस वास्ते तुम्हारी यह तर्कबाजी निरर्थक है।

इस प्रकार मांस भक्षण की अतिप्रवृत्ति ने बौद्धधर्म को उच्च वर्णीय भारत वासियों की दृष्टि से गिरा दिया था, परिणाम स्वरूप बौद्ध धर्म के उपदेशक धीरे धीरे निरामिष भारत भूमि से हटकर अनार्य और मांस भक्षक मनुष्यों से आबाद प्रदेशों में पहुँचते जाते थे। इसके विपरीत जैन तथा वैदिक श्रमण और इनके अनुयायी गृहस्थ वर्ग जो पहले दूर तक पहुचे थे, वे भारत पर बार बार होने वाले विदेशियों के आक्रमणों से तंग आकर भारत के भीतरी भागों मे आगये थे।

इस कारण दूर के प्रदेशों में बौद्ध उपदेशक विशेष सफल हो गये।

ईसा की तीसरी शताब्दी तक तक्षशिला और उसके पश्चिमीय प्रदेशों में जैन श्रमण पर्याप्त संख्या में विचरते थे और जैन उपासकों की वसति भी कम नहीं थीं, तक्षशिला उनका केन्द्र स्थान था। तक्षशिला के बाहर जैनों का अति प्राचीन धर्मचक्र नामक तीर्थ था। जो प्रथम ऋषभ देव का स्मारक था, और बाद में जैन तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ की मूर्ति स्थापित होने के कारण चन्द्रप्रभ तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। तक्षशिला नगरी में भी सैकड़ों जैन मन्दिर तथा जिन मूर्त्तियां स्थापित थीं।

ईशा की तीसरी शताब्दी के लग भग हजारों जैन एक सांघातिक बिमारी के कारण तक्ष शिला को छोड़कर पञ्जाब की तरफ आगये थे। जो शेष रहे थे, वे भी विदेशियों के आक्रमण की आगाही पाकर वहां से भारत के भीतर के प्रदेशों में आ पहुंच थे और तक्ष शिला जैन वस्ती से शून्य हो गया था।

जिनके आक्रमण की शङ्का से जैनों ने तक्षशिला का प्रदेश छोड़ा था वे ससेनियन लोग थे। तक्ष शिला में जो बची खुची वस्ती थी वह उनक आक्रमण क समय मे इधर उधर भाग गई, और तक्ष शिला सदा के लिये वीरान हो गई।

जैनों तथा ब्राह्मणों की संस्कृति के हट जाने से बौद्धों के लिये वह क्षेत्र निष्कण्टक हो गया। वहां क तीर्थ, मठ, मंदिर आदि सर्व स्मारक बौद्धों की सम्पत्ति हो गई।

महा निशीथ सूत्र के लेखानुसार धर्मचक्र तीर्थ जो उस समय चन्द्रप्रभ तीर्थ कहलाता था, वह बोधिसत्व चन्द्रप्रभ का स्मारक बन गया। ऐसा "हुएन सग" के भारत भ्रमण वृतान्त से ज्ञात होता है। वह लिखता है।

"हुएन सग तीर्थ और चमत्कारक स्थानों को देखता हुआ तक्ष शिला देश में पहुंचा। इस नगर के उत्तर म थोड़ी दूर पर एक और स्तूप है जिसे महाराज अशोक न बनवाया था। इस स्तूप की धरती (पृथ्वी) से सदा प्रकाश निकलता रहता है। जब तथागत बुद्धत्व को प्राप्त कर रहे थे तब वह एक देश के राजा थे और ... नाम चन्द्रप्रभ था। (हुएन सग पृ० ६३),

भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में सैकड़ों वर्षों तक बौद्ध भिक्षुओं का अड्डा बना रहा, पर मुस्लिम धर्म के भारत में प्रवेश करने के बाद वे अधिक नहीं टिक सके, कुछ भारत में और अधिकांश चीन तिब्बत आदि देशों में चले गये और वहां के उपासक धीरे धीरे अन्य सम्प्रदायों में मिल गये। मुस्लिम राज्य होने के बाद वे सभी मुसलमान बन गये। हम पहले ही कह चुके हैं कि उत्तर भारत में बौद्ध संस्कृति बहुत निर्बल थी। पश्चिम दक्षिण भारत के प्रदेशों में भी उनका प्राबल्य नहीं था और जो थे वे भी धीरे धीरे जैन तथा वैदिक धर्म के राजाओं द्वारा वहां से निर्वासित किये जा रहे थे। ईशा की नवम शताब्दी के बाद की मूर्त्ति शिला लेख आदि कोई बौद्ध संस्कृति सूचक चीज गुजरात, सौराष्ट्र, राजस्थान आदि में दृष्टिगोचर नहीं होती। इससे जाना जाता है कि दशम शताब्दी के पहले ही बौद्ध भिक्षु पश्चिम तथा दक्षिण भारत को छोड़ कर चले गये होंगे।

ईशा की दशमी शताब्दी तक नालन्दा का विश्वविद्यालय अस्तित्व में था। इसका अर्थ यही हो सकता है कि उस समय भी पूर्व भारत में हजारों बौद्ध भिक्षुओं का निवास होना चाहिए, इतना होने पर भी भारत से बौद्धों का निर्वासन बन्द नहीं पड़ा था। दक्षिण पूर्वीय भारत के देशों से बौद्ध बङ्गाल की तरफ खदेड़े जा रहे थे। ईशा की बारहवीं शताब्दी तक वङ्गप्रदेश में बौद्ध धर्म टिका हुआ था, परन्तु इसके उपदेशक भिक्षुगण अनेक तान्त्रिक सम्प्रदायों में बट चुके थे। कोई अपने सम्प्रदाय को चन्द्रायत,

कोई वज्रयान, तो कोई कालयान नाम से अपने मत को जाहिर करते थे, परन्तु इनमें बौद्ध धर्म का मौलिक तत्व कुछ भी नहीं था। मांस, मत्स्य, मदिरा, आदि पञ्चमकारों के उपासक बन हुये थे और बाहर से बौद्धधर्मी होने का दावा करते थे, ऐसे पतित सम्प्रदाय भारतवर्ष में कब तक टिक सकते थे। बङ्गाल में वैष्णव आचार्य चैतन्यदेव के उपदेश का प्रचार होने पर धीरे धीरे बङ्गाल से भी बौद्ध धर्म ने विदा ली और भारत के बाहर, बाहर के देशों में जा टिका, यह बौद्ध धर्म का विदेशों में फैलने तथा भारतवर्ष से निर्वासित होने का इतिहास और उसका मुख्य कारण है बौद्ध भिक्षुओं का मांसाहार।

क्या आज का बौद्धधर्म बुद्ध का मूल धर्म है?

महात्मा बुद्ध ने जिस धर्म का उपदेश दिया था, वह था प्राणि मात्र की दया। इन्होंने यज्ञवाटों में जाकर यजमान को समझा बुझा कर बलि किये जाने वाले पशुओं के प्राण बचाये थे। बुद्ध ने चाण्डालों, निषादों, चारों तक को हिंसकता का त्याग करवा अपना शिष्य बनाया था। ये अपना शरण लेने वाले स्त्री पुरुषों को त्रस स्थावर जीवों की हिंसा न करने न कराने की प्रतिज्ञा कराते थे। यह सब होते हुए भी उन्होंने भिक्षुओं तथा उपासकों के आचरणीय नियमों में जो शिथिलता रक्खी थी उसके परिणाम से आज उनके धर्म का काया पलट हो गया है। पञ्चशील दश शिक्षा पद आदि के रहते हुए भी आज के बौद्ध धर्मी इन बातों पर कितना ध्यान देते हैं यह तो उनका पूरा परिचय रखने वाले

ही कह सक्ते हैं, परन्तु भिक्षु तथा उपासकों के पालनीय धर्माचरणों में आकाश पाताल जितना अन्तर पड़ गया है इसमें कोई शङ्का नहीं। बुद्ध गृहस्थ धर्मी उपासकों को कहते थे कि किसी प्राणी को न मारो, न मरवाओ, न मारने वालों को अच्छा जानो।

आज के चायनीज् जापानीज, ब्राह्मी, सिंहली आदि बौद्ध उपासक भगवान् बुद्ध की उक्त आज्ञाओं को कहां तक पालते हैं इसका खुलासा उक्त उपासकों का जीवन व्यवहार ही दे रहा है।

बौद्ध भिक्षुओं के लिये बुद्ध ने जूता तक पहनने की मनाही की थी, और भिक्षु को पाद विहार से भ्रमण करने का विधान किया था। पर आज का बौद्ध भिक्षु बूट और जूते पहन कर मोटरों रेल गाड़ियों और वायुयानों में बैठ कर मुसाफिरी करते हैं।

बौद्ध भिक्षुओं को सोना चांदी आदि द्रव्य रखने का बुद्ध ने सर्वथा निषेध किया था, पर आज के बौद्ध भिक्षु यथेष्ट सम्पत्ति रखते और बैंकों में जमा कराते हैं।

बुद्ध ने भिक्षु को अपने पास वस्त्र पात्रादि कुल मिला कर आठ वस्तुएं रखने का आदेश दिया था। आज के भिक्षु इस नियम की पाबन्दी रखते हैं क्या ? बुद्ध ने किसी भी पशु पक्षी को रखना पालना भिक्षु के लिये निषिद्ध किया है। आज के बौद्ध भिक्षु इस नियम को पालते हैं क्या ? इत्यादि अनेक बातों पर विचार करने से हमें यह शङ्का होती है कि बुद्ध ने जिस प्रकार के धर्म का उपदेश दिया था, उस प्रकार का धर्म आज शायद संसार में नहीं रहा।

महा प्रजापति गौतमी को दीक्षा देने के बाद बुद्ध ने आनन्द से कहा था–आनन्द ! मेरा यह धर्म हजार वर्ष चलता सो अब पांच सौ वर्ष तक चलेगा। हमारी समझ में बुद्ध की एक भविष्य वाणी सर्वथा सत्य हुई। बुद्ध के निर्वाण की षष्ठ शताब्दी से ही बुद्ध का मूल धर्म तिरोहित हो चुका था। भले ही आज बौद्धधर्मी पचीस करोड़ की संख्या में माने जाते हों परन्तु बुद्ध के मौलिक धर्म को पालने वाले कितने बौद्ध हैं, इसका पृथक्करण करने पर संसार की आंखें चकरा जायगी और बौद्ध धर्म के प्रचार द्वारा भारत में मांस मत्स्य भक्षण का प्रचार करने वालों की बुद्धि ठिकाने आजायेगी।

धर्म वस्तु धार्मिक ग्रन्थोक्त शब्दों के पढ़ने सुनाने में नहीं है, किन्तु उनका रहस्य अपने जीवन में उतारने और उसके अनुसार जीवन का पलटा करने में है।

शाक्यभिक्षु

बौद्ध भिक्षु का हमें जातीय परिचय नहीं है, क्योंकि इस देश में इनका अस्तित्व नहीं और भारत के बनारस आदि दूरवर्ती स्थानों में आगन्तुक बौद्ध भिक्षु होंगे तब भी उस प्रदेश में न जाने के कारण हमारा उनसे कोई सम्पर्क नहीं हुआ अतः बौद्ध भिक्षु के सम्बन्ध में हम जो कुछ लिखेंगे, उनके ग्रन्थों के आधार से ही लिखेंगे।

प्रव्रज्या

पूर्वकाल में "एहि भिक्षु" इस वाक्य से प्रव्रज्या हो जाती थी। जब भिक्षुओं की संख्या बढ़ने लगी तब प्रव्रज्या देने का कार्य बुद्ध ने अपने पुराने शिष्यों को सौंप दिया था। दीक्षार्थी प्रथम शिर मुण्डा कर दीक्षा दायक स्थविर भिक्षु के पास जाता और उनके सामने घुटने टेक शिर नवा कर हाथ जोड़ कर तीन वार कहता "बुद्धं सरणं गच्छामि" "धम्मं सरणं गच्छामि" "संघं सरणं गच्छामि"

अर्थात्—मैं बुद्ध की शरण में जाता हूँ। मैं धर्म की शरण में जाता हूँ। मैं संघ की शरण में जाता हूँ।

इस प्रकार तीन बार शरण स्वीकार करने पर प्रव्रज्या विधि हो जाती थी। परन्तु जब भावनाविहीन स्वार्थी के लिए भिक्षु बनने लगे तब उनके लिये कड़े कड़े नियम बनाये गये जिनके अनुसार प्रव्रज्यार्थी के लिये किसी विद्वान् भिक्षु को अपना उपाध्याय बनाकर उसके सान्निध्य में दो वर्ष तक रहना आवश्यक हो गया। इसके अतिरिक्त प्रव्रज्यार्थी की परीक्षा कर योग्य ज्ञात होने पर निम्नलिखित बातों की जाच की जाती है।

जैसे उसे कुष्ठ रोग, गण्ड, किलास, क्षय, अपस्मार, नपुसकत्व आदि बिमारियां तो नहीं है? दीक्षार्थी स्वतन्त्र, ऋणमुक्त, वय प्राप्त होना चाहिए। उसे माता पिता की अनुज्ञा प्राप्त होनी चाहिए। वह राजा का सैनिक न होना चाहिए इत्यादि।

वैदिक तथा जैन श्रमणों के लिये जाति सम्बन्धी विशेष नियम हैं। बौद्धों में ऐसा कोई नियम न होने से किसी भी जाति कुल का मनुष्य बौद्ध भिक्षु बन सकता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं रहती।

बौद्ध प्रव्रज्या के सम्बन्ध में मज्झिम निकाय के चूलहत्थि पदोपम सुत्त में निम्नलिखित वर्णन मिलता है।

"एवमेव खो ब्राह्मण इध तथागतो लोके उप्पज्जति अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जा चरण सम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्म सारथि सत्था देव मनुस्सानं बुद्धो भगवा। सो इमं लोकं सदेवकं समारकं सब्रह्मकं सस्समण ब्राह्मणिं पजं सदेव मनुस्सं सयं अभिञ्ञा सच्छिकत्वा पवेदेति। सो धम्मं देसेति आदि कल्याणं मज्झे कल्याणं परियोसान कल्याणं सात्थं सव्यञ्जनं केवल परिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेति। तं धम्मं सुणाति गहपति वा गहपति पुत्तो वा अञ्ञतरस्मिं वा कुले पच्चाजातो। सो तं धम्मं सुत्वा तथागते सद्धं पटिलभति। सो तेन सद्धापटिलाभेन समन्नागतो इति पटिसञ्चिक्खति—सम्बाधो घरावासो रजापथो, अब्भोकासो पब्बज्जा नयिदं सुकरं अगारं अज्झावसता एकन्तपरिपुण्णं एकन्तपरिसुद्धं सङ्खलिखितं ब्रह्मचरियं चरितुं। यं नूनाहं केसमस्सुं ओहारेत्वा कासायानि वत्थानि अच्छादेत्वा अगारस्मा अनगारियं पब्बज्जेय्यन्ति। सो अपरेन समयेन अप्पं वा भोगक्खन्धं पहाय, अप्पं वा ञाति परिवट्टं पहाय महन्तं वा ञाति परिवट्टं पहाय केसमस्सुं ओहारेत्वा कासायानि वत्थानि अच्छादेत्वा अगारस्मा अनगारियं पब्बजति। (मज्झिम नि० चूलहत्थिपदो० सु० पृ० ८७-८८)

अर्थ—इस प्रकार हे ब्राह्मण इस लोक मे तथागत उत्पन्न होता है। वह अर्हन्, सम्यक् सम्बुद्ध, विद्याचरणसम्पन्न, सुगत लोकविद् श्रेष्ठ, पुरुषों मे धर्मसारथि, देव मनुष्यों को शास्ता और सम्बोधि प्राप्त ऐसा भगवान् वह देवसहित मनुष्यसहित, ब्रह्म सहित लोक को तथा श्रमण ब्राह्मण देव मनुष्य सहित प्रजा को स्वय जान कर प्रवचन करते है। वे धर्म की देशना करते है, जिसकी आदि म कल्याण है, मध्य मे कल्याण है, अन्तमे कल्याण है। अर्थसहित, शब्द सहित, सम्पूर्ण विशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाशन करते है। उस धर्म को सुनता है गृहपति वा गृहपतिपुत्र, जो अन्यतर कुल मे उत्पन्न हुआ होता है वह उस धर्म को सुनकर तथागत के ऊपर श्रद्धालाभ करता है। वह उस श्रद्धालाभ से युक्त होकर यह कहता है गृहवास बाधारूप है "रजापथो अब्भोकासो पब्बज्जा"

। एकान्त परिपूर्ण, एकान्त परिशुद्ध, शख जैसा उज्ज्वल ब्रह्मचर्य घर मे रहकर आचरण करना सुकर नहीं। इस वास्ते मैं केश श्मश्रु को निकाल कर काषायवस्त्रों को पहिन कर घर से निकल अनगार हो जाऊं। वह बाद मे अल्प अथवा महान् भाग सामग्री को छोड़कर थोड़े अथवा बडे परिवार को छोड़कर केश श्मश्रु को दूर कर काषाय वस्त्रों का पहिन कर घर से निकल अनगार बन जाता है।

अनगार

सो एव पब्बजितेन समानो भिक्खून सिक्खासाजीवसमापन्नो पाणातिपात पहाय पाणातिपाता पटिविरतो होति। निहितदण्डो

निहित सत्थो लज्जी दयापन्नो स पाणभूत-हितानुकम्पी विहरति। अदिन्ना दान पहाय अदिन्ना दाना पटिविरतो होति, दिन्नादायी दिन्नापाटिकङ्खी अथनेन सुचिभूतेन अत्तना विहरति। अब्रह्मचरियं पहाय ब्रह्मचारी होति आराचारी विरतो मेथुना गाम धम्मा मुसा वादं पहाय मुसावादा पटिविरतो होति, सच्चवादी सच्चसन्धो थेता पच्चयिको अविसंवादको लोकस्स। पिसुणं वाचं पहाय पिसुणाय वाचाय पटिविरतो होति, इतो सुत्वा न अमुत्र अक्खाता अमुस भेदाय इति भिन्नान सन्धाता सहितान वा अनुप्पदाता समग्गारामो समग्गरतो, समग्गन दी, समग्गकरणिं वाच भासिता होति। फरुसं वाचं पहाय फरुसाय वाचाय पटिविरतो होति। या सा वाचा नेला कण्णसुखा पेमनीया हदयंगमा पोरी बहुजन कन्ता बहुजन मनापा तथारूपिं वाचं भासिता होति। सम्फप्पलाप पहाय सम्फप्पलापा पटिविरतो होति, कालवादी, भूतवादी अत्थवादी, धम्मवादी विनयवादी, निधानवादी, निधानवतिं वाचं भासिता कालेन साप देश परियन्तवतिं अत्थसहितं। (मज्झिमनि० पृ० ८८)

अर्थ—अनगार बन कर भिक्षु नीचे लिखे गुणों से युक्त बनता है।

१ इस प्रकार वह प्रव्रजित हो, भिक्षुओं की शिक्षा से शिक्षित बनकर प्राणातिपात को छोड़कर प्राणातिपात से प्रतिविरत होता है। दण्ड से रहित, शस्त्र से रहित, लज्जावान् दयासम्पन्न सब प्राणधारी जन्तुओं का हितचिन्तक और दयावान् बनकर विचरता है।

२ अदत्तादान को छोड़ वह अदत्तादान से प्रति विरत होता है। दिया हुआ लेने वाला, दिये हुए की इच्छा रखने वाला, अपने स्वभाव से पवित्र बने हुए आत्मा से वह विचरता है।

३ अब्रह्मचर्य (मैथुन) को छोड़ कर वह ब्रह्मचारी बनता है। वस्ती से दूर विचरने वाला, मैथुन ग्राम्यधर्म से प्रतिविरत होता है।

४ मृषावाद को छोड़कर मृषावाद से प्रतिविरत होता है। वह सत्यवादी सत्यप्रतिज्ञ, स्थैर्यवान् और लोक में विश्वास पात्र तथा अविसंवादी बनता है।

५ पिशुनतापूर्ण वाणी को छोड़कर वह पैशुन्य से प्रतिविरत होता है। यहां सुनकर उधर नहीं कहे उनमें फूट डालने के लिए। भिन्नों में संधि कराने वाला मेल जोल वालों को प्रोत्साहन देने वाला, सर्वत्र सुखी, सर्वत्र प्रसन्न, सर्वत्र आनन्द में रहने वाला और सर्व कार्य में रस भाषा बोलने वाला होता है।

६ कठोर भाषा को छोड़कर परुष भाषा से प्रतिविरत होता है। जो भाषा यथार्थ कानों को सुख देने वाली, प्रेम उत्पन्न करने वाली, हृदय को आनन्दित करने वाली, प्रौढ़ा, बहु लोकप्रिय बहु जनों का मनोरञ्जन करने वाली इस प्रकार की भाषा को वह बोलता है।

७ निरर्थक प्रलाप छोड़ निरर्थक प्रलाप से प्रतिविरत होता है। कालवादी, भूतवादी, अर्थवादी, धर्मवादी, विनयवादी,

निधानवादी, निधानवती समयानुसार सापेक्ष परिणाम वाली और अर्थबाज़ी भाषा का बोलने वाला होता है।

बौद्धभिक्षु के पालनीय नियम

बौद्धधर्म की प्रव्रज्या लेने के बाद भिक्षुओं को क्या क्या नियम पालन करने चाहिये और किन किन पदार्थों का उनको त्याग करना चाहिए इस सम्बन्ध में मज्झिम निकाय के चूलहत्थिपदोपम सुत्त में निम्नलिखित वर्णन मिलता है।

'सो बीजगाम भूतगाम समारम्भा पटिविरतो होति। एकभत्तिको रत्तूपरतो, विरतो विकाल भोजना। नच्च गीतवादित विसूकदस्सना पटिविरतो होति। मालागन्धविलेपन धारण मण्डन विभूसनट्ठाना ... ... । उच्चासयन महासयना ... ... । जातरूपरजत पटिग्गहणा । आमकधञ्ञपटिग्गहणा । इत्थिकुमारिक पटिग्गहणा ... । दासीदास पटिग्गहणा । अजेळक पटिग्गहणा । कुक्कुट सूकर पटिग्गहणा । हत्थिगवास्सवलवा पटिग्गहणा । खेत्तवत्थु पटिग्गहणा ...। दूतय्यपहिणगमनानुयोगा । कय विक्कया । तुलाकूट कंसकूट मानकूटा ... । उक्कोटन वञ्चन निकति साचियोगा ...। छेदन वध व बन्धविपरामोस आलोप सहसाकारा पटिविरता होति।

"मज्झिम निकाय" पृ ८६

अर्थ—वह बीजग्राम (सबजाति के बीज) और भूतग्राम (सर्व प्राणिसमूह के समारम्भ=हिंसा) से निवृत्त है। वह एक बार

भोजन करने वाला होता है। वह रात्रि में नहीं चलने वाला होता है। विकाल भोजन से विरत होता है। नृत्य गीत, वादित्र और अश्लील खेला से दूर रहता है। माला, सुगंध, चन्दनादि विलेपन धारण मण्डन और विभूषण से निवृत्त होता है। उच्चासन पर बैठने तथा शय्या पर सोने से निवृत्त होता है। सोना, चांदी को ग्रहण करने से दूर रहता है। कच्चा धनिया ग्रहण करने से प्रति विरत होता है। कच्चा मास ग्रहण करने से निवृत्त होता है। हाथी की छोटी बच्ची का लेने से दूर रहता है। दासी दास के स्वीकार से दूर रहता है। बकरे मढ को ग्रहण करने से निवृत्त होता है। मुर्गा तथा सूअर को ग्रहण करने से दूर रहता है। हाथी, बैल, घोड़ा, घोड़ी के ग्रहण से प्रतिविरत होता है। क्षेत्र वास्तु के ग्रहण से प्रतिविरत होता है। दौत्यार्थ प्रेषणगमन से प्रति विरत होता है। लेन देन के व्यापार से प्रतिविरत होता है। कूट तुला (तराजू अथवा तोलने के बाट) कूटकाश्य (द्रव पदार्थ भर कर देने का नाप) और कूटमान (गज आदि नापने का उपकरण) को रखने से प्रतिविरत होता है। उत्कोटन आत्मोत्सर्ग, वञ्चना, निकृति-कपट, साचियोग से प्रतिविरत होता है। छेदन वध, बन्धन, विपमरामर्श, आरोप, महसाकार से प्रतिविरत होता है।

बौद्ध भिक्षु का परिग्रह

बौद्ध भिक्षु आज कल किस ढग से रहते हैं, उनके पास क्या क्या उपकरण रहते हैं यह तो ज्ञात नहीं है परन्तु भिक्षुओं के प्राचीन वर्णन से तो यही पाया जाता है कि वे बहुत ही अल्पपरि ग्रही रहते होंगे।

सामञ फल सुत्त म लिखा है—

"सेय्यथापि महाराज पक्खी सकुणो येन येनव डेति सपत्त भाराव डेति। एवमेव महाराज भिक्खू सतुट्ठो होति, कायपरिहार येन चीवरेन कुच्छिपरिहारिकेन पिण्डपातेन। सो येन येनव पक्क मति समादायव पक्कमति।'

अर्थ— 'हे महाराज! जिस प्रकार कोइ पक्षी जिम जिस दिशा म उड़ता ह, उस उस दिशा म अपने पर्णो के साथ ही उड़ता है, उसी प्रकार ह महाराज! भिक्षु तो शरीर क लिये आव श्यक चावर से और पट के लिय आवश्यक अन्न (भिक्षा) से सन्तुष्ट होता है। वह जिस जिस दिशा मे जाता है, उस उस दिशा म अपना सामान साथ लकर ही जाता है।"

एसे भिक्षु क पास अधिक से अधिक निम्नलिखित गाथा मे बताइ हुइ आठ वस्तुए रहती थी।

तिचीवर च पत्तो च वासि सुचि च बन्धनम्।
परिस्सावनेन अट्ठेते युक्त योगस्स भिक्खुनो॥

अर्थ—' तीन चीवर, पात्र, वासि (कुल्हाड़ी) सुइ, कमरबन्ध और पानी छानने का कपड़ा य आठ वस्तुएँ योगी भिक्षु क लिय पर्याप्त ह।"

बौद्ध भिक्षु के आचार सम्बन्धी नियम

बुद्ध भगवान का यह उपदेश था कि भिक्षु इस प्रकार अत्यन्त सादगी से रहे तथापि मनुष्य स्वभाव के अनुसार भिक्षु इन

वस्तुओं को स्वीकार करने में भी नियम का उल्लंघन करते अर्थात् तीन चीवरों से अधिक वस्त्र लेते, मिट्टी या लोहे का पात्र रखने के बजाय ताम्बे या पीतल का पात्र लेते और चीवर बहुत बडे बनाते। इससे परिग्रह के लिये अवसर मिल जाता। उसे रोकने के लिये बहुत से नियम बनाने पड़े। ऐसे नियमों की संख्या काफी बड़ी है।

"विनय पिटक" में भिक्षु संघ के लिये कुल २२७ निषेधात्मक नियम दिये गये हैं। उन्हें पातिमोक्ख कहते हैं। उनमें से दो अनियत (अनियमित) और अन्तिम ७५ सेखिय यानी खाने पीने, रहन, सहन, बात चीत आदि में सभ्यता के नियम बताने वाले हैं। इन्हें छोड़कर बाकी एक सौ पचास नियमों को ही अशोक काल में "पाति मोक्ख" कहते थे ऐसा लगता है। उससे पहले ये सारे नियम बने नहीं थे, और जो बने भी थे उनमें से बुनियादी नियमों को छोड़कर अन्य नियमों में उचित हेर फेर करने का संघ को पूरा अधिकार था। परिनिर्वाण से पहले भगवान् बुद्ध ने आनन्द से कहा था, हे आनन्द ! यदि संघ की इच्छा हो तो वह मेरी मृत्यु के पश्चात् साधारण नियमों को छोड दे।"

इससे यह स्पष्ट होता है कि छोटे मोटे या मामूली नियमों को छोड़ने या देश काल के अनुसार साधारण नियम में हेर फेर करने के लिये भगवान् ने संघ को पूरी अनुमति दे दी थी।

शरीरोपयोगी पदार्थों के प्रयोग में सावधानी

भिक्षुओं के लिये आवश्यक वस्तुओं में चीवर पिण्डपात (अन्न) शयनासन (निवास स्थान) और दवा चार मुख्य होती

थी। भगवान् का कहना था कि "पाति मोक्ख" के नियमों के अनुसार इन वस्तुओं का उपभोग करते समय भी विचार पूर्वक आचरण किया जाय।

चीवर का प्रयोग करते समय भिक्षु को कहना पड़ता था—मैं अच्छी तरह सोच कर यह चीवर पहनता हूँ। इसका उद्देश्य केवल यही है कि ठण्डक, गर्मी, मच्छर, मक्खियां, हवा, धूप, सांप, आदि से कष्ट न पहुंचे और गुह्य इन्द्रियां को ढाक लिया जाय।

पिण्डपात सेवन करते समय उसे यह कहना पड़ता था—मैं अच्छी तरह सोच विचार कर पिण्डपात सेवन करता हूँ। इसका उद्देश्य यह नहीं है कि मेरा शरीर क्रीड़ा करने के लिये समर्थ बन जाय, मत्त हो जाय, मण्डित और विभूषित हो जाय बल्कि केवल यह है कि इस शरीर की रक्षा हो, कष्ट दूर हो और ब्रह्मचर्य में सहायता मिले। इस प्रकार मैं (भूख की) पुरानी वेदना को नष्ट कर दूँगा और (अधिक खा कर) नई वेदना का निर्माण नहीं करूँगा। इससे मेरी शरीर यात्रा चलेगी, लोकापवाद नहीं रहेगा और जीवन सुखकारी होगा।

शयनासन का प्रयोग करते समय उसे कहना पड़ता-"मैं भली भांति सोच विचार कर इस शयनासन का प्रयोग करता हूँ, इसका उद्देश्य केवल यही है कि ठण्डक, गर्मी, मच्छर मक्खियां, हवा, धूप, सांप, आदि से कष्ट न पहुँचे और एकान्त वास में विश्राम मिल सके।

, औषधियों के प्रयोग करते समय उसे कहना पड़ता—मैं अच्छी तरह सोच विचार कर इस औषधीय वस्तु का प्रयोग करता हूँ। यह प्रयोग केवल उत्पन्न हुए रोग के नाश के लिये ही है और आरोग्य (स्वास्थ्य) की प्राप्ति होने तक ही यह करना है[१]।

बौद्ध भिक्षु की भिक्षाचर्या और भिक्षान्न

बौद्ध भिक्षाचर्या और भिक्षान्न के सम्बन्ध में हम विशेष विवरण नहीं मिला, जैन श्रमणों के लिये भिक्षाचर्या के दोषों, भिक्षा ग्रहण योग्य कुलों, आदि का जितना विस्तृत वर्णन मिलता है, उसकी अपेक्षा से बौद्ध भिक्षु के भिक्षा तथा भिक्षान्न सम्बन्धी नियम नहीं मिलता यही कहना चाहिए। इसका कारण यह है कि बुद्ध ने अपने शिष्यों को कोरा भिक्षु ही नहीं बनाया था, किन्तु उन्हें अतिथि का रूप भी दे रक्खा था, और उन्हें भोजन का आमन्त्रण स्वीकार करने की छूट दे दी थी। परिणाम स्वरूप गृहस्थों का आमन्त्रण मिलने पर वे सब के सब गृहस्थ के घर जाकर भोजन कर लेते थे। इससे सिद्ध होता है कि बौद्ध भिक्षुओं के भिक्षा ग्रहण करने में ऐसा कोई विधान होना ही सम्भव नहीं था, जो सूत्रों में लिखा जाता। "मज्झिम निकाय" के चूल हत्थि पदोपम सुत्त के नवम सुत्त में बौद्ध भिक्षु की भिक्षाचर्या में कुछ खाद्य पदार्थ हेय बताये गये हैं जो ये हैं—

---

१ इस प्रकार चार शरीरोपयुक्त पदार्थों को सावधानी के साथ प्रयोग में लाने को 'पचवक्खण' (प्रत्यवेक्षण) कहते हैं और यह प्रथा आज भी चलता है।

'सा बीज गाम भूत गाम समारम्भा पटि विरतो होति + + +। आमकगन्ध पटिग्गहणा "। आमकमंस पटिग्गहणा ।

अर्थात्—"वह बीज ग्राम यानि हरेक प्रकार के सजीव धान्यों का और अन्य वनस्पति आदि भूतग्रामों का समारम्भ करने से निवृत्त होता है। कच्चा हरा धनिया और कच्चा मांस लेने से प्रतिविरत होता है।"

इससे प्रतीत होता है कि बौद्ध भिक्षु किसी प्रकार के धान्यों के बीज नहीं लेते थे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पका हुआ अथवा सेका हुआ धान्य ही भिक्षा में ग्रहण करते होंगे। कच्चे मांस का प्रतिषेध करने से यह सिद्ध है कि वे पकाया हुआ मांस भिक्षा में लेते थे इसमें कोई शङ्का नहीं रहती।

धम्मपद में भिक्षु की भिक्षाचर्या को माधुकरी वृत्ति की उपमा दी गई है। वह नीचे की गाथा से स्पष्ट होता है—

यथापि भमरो पुप्पं वण्णगन्धं अहेठयं ।
फलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे ॥६॥

अर्थ—जैसे भौंरा पुष्प के वर्ण तथा गन्ध को हानि नहीं पहुंचाता हुआ उसका मकरन्द रस लेकर अपना पोषण करता है, उसी तरह मुनि ग्राम में मधुकरी वृत्ति से भिक्षा ग्रहण करता है। इत्यादि पद्यों से यह प्रतीत होता है कि बुद्ध के समय माधुकरी वृत्ति करने वाले भिक्षु भी विद्यमान होंगे, परन्तु उनकी संख्या परिमित होनी चाहिए, और इसी कारण से देवदत्त ने सभी भिक्षुओं के

लिये माधुकरी वृत्ति से भिक्षा लेने और भोजन का आमन्त्रण न स्वीकार का नियम बनाने का आग्रह किया होगा जिसको कि बुद्ध ने स्वीकार नहीं किया।

बुद्ध कालीन भिक्षुओं में खान पान सम्बन्धी कड़े नियम नहीं थे, फिर भी भिक्षुओं का जीवन सरल सादा और खान पान साधारण होता था। परन्तु ज्यों ज्यों समय वितता गया उनके खान पान की सादगी में भी परिवर्तन होता गया। बुद्ध के जीवन काल में जो पदार्थ भिक्षुओं के लिये अयोग्य माने जाते थे वे ही धीरे धीरे भिक्षु के जीवन की उपयोगी सामग्री मानी जाने लगी। विमान वत्थु में भिक्षुओं के देने योग्य अनेक वस्तुओं के दान की प्रशंसा की गई है, और उस प्रकार के दान से देव विमान की प्राप्ति होना बताया है। जो नीचे लिखे कतिपय उद्धरणों से ज्ञात होगा—

फाणित, उच्छुखण्डिक, तिंबरुक, कक्कारिक, एलालुक, वल्लीफल फारुसक, हत्थप्पतापक, साकमुट्ठि, मूलक ।

निम्बमुट्ठि, अहं अदासिं भिक्खुनो पिण्डाय चरतस्स पे ॥५४॥
अवकञ्जिक, द्रोणि निमुज्जन, कायबन्धन, असवट्टक, अयोग पट्ट, विधूपन, तालवण्ठ, मोरहत्थ, छत्त, उपानह पूव, मोदक, सक्खलि। (विमान वत्थु पृ० ३०)

अर्थ—फाणित (गन्ने का परिपक्वरस-राब शक्कर की पूर्वावस्था) ऊख का टुकड़ा, टिम्बरूफल, ककड़ी, खीभड़ा, बेल का

फल, धिम्बिफ्लादि, पर्सक, हरत प्रताक, शाकमुट्टि, मूली और निम्बमुट्टि भिक्षाचर्या में फिरते भिक्षु को मैंने दिया।

खट्टी काञ्जी, दोणि निमुञ्जन, कमरबन्ध, असवर्त्तक, अयोग पट्ट, विभूपन, पखा, मोरपिच्छ छत्र, जूता, पूप, लड्डू, शाकलि, ""इन चीजों के दान से देव विमान की प्राप्ति बताई गई है।

विमानवत्थु के उक्त उद्धरणों में कई ऐसे खाद्य पदार्थों को भिक्षु देय बताया है, जो शायद बुद्ध के समय में वे ग्राह्य नहीं थे। जैसे कि गन्ना तिम्बरू ककड़ी, चीभड़ा, शाकमुट्टि, मूली आदि।

इसी प्रकार अयोपट्ट, तालवृन्त मोरहत्तक, छत्र जूता, आदि उपकरण प्रारम्भ में बौद्ध भिक्षु के उपकरणों में परिगणित नहीं थे, पर बाद में ग्रहण किए गये। यही नहीं किन्तु उनके दान का फल स्वर्ग विमान की प्राप्ति बताया गया।

अहं अन्धक विन्दस्मिं बुद्धं सादिच्च बन्धुनो।
अदासिं कोल सम्पाकं, कञ्जिक तेल धूपितं ॥५॥

पिप्पल्या लसुणेन च, मिस्सं लाभञ्जकं च।
अदासिं उजुभूतस्मिं, विप्पसन्नेन चेतसा ॥६॥

(विमान वत्थु पृ० ३८)

इन्दीवरान हत्थकं अहमदासिं भिक्खुनो पिण्डाय चरन्तस्स।
एसिकान उण्णतस्मि नगरे वर पण्णकते रम्मे ॥१२॥
ओदातमूलकं हरीतपत्तं उदकम्हि सरे जातमहमदासि।
भिक्खुनो पिण्डाय चरन्तस्स एसिकान नगरे वरे पेण्णकते रम्मे ॥१३॥

यह सुमनमा मनुस्स सुमन मतुलानि दन्तमयणानि यद्द-
मदासि।

भिक्खुनो पिण्डाय चरन्तस्स एसिकान उग्गतम्मि नगरे
नरे पुण्णकते रम्मे ॥२६॥

अर्थ—मैंने ग्राम के वृन्त ग्राम में आदित्यों के बन्धु भगवान्
बुद्ध को कालपाक का दान दिया, और ऋजुभूत में प्रसन्न चित्त से
तेल से बघारा हुआ पीपर लहसुन और लामञ्जक से मिश्रित
शाकिक प्रदान किया।

मैंने एसिकों के पेण्णकत नामक रम्य नगर में भिक्षा भ्रमण
करते हुए भिक्षु को इन्दीवर कमल में पुष्पों का गुच्छा प्रदान किया।

एसिकों के पेण्णकत रम्य नगर में भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए
भिक्षु को मैंने तालाब के जल में उत्पन्न हुई नीले पत्रों वाली
श्वेतमूलिका का दान दिया।

एसिकों के पेण्णकत रम्य नगर में भिक्षा भ्रमण करते हुए
भिक्षु को मैंने प्रसन्न मन से दातुनों का दान दिया।

ऊपर के पद्यों में लहसुन मिश्रित शाकिक बुद्ध को दान का
निर्देश मिलता है, इससे जाना जाता है कि जैन वैदिक श्रमणों
की तरह बुद्ध और उनके श्रमण लहसुन प्याज आदि खाने में दोष
नहीं गिनते होंगे।

"मज्झिम निकाय" में बौद्ध भिक्षु को पुष्पमाला गन्ध का
त्यागी बताया है, तब "विमान वत्थु" में भिक्षु को इन्दीवर आदि

पुण्यहस्त का दान करके देव विमान का लाभ बताया गया है। इसी प्रकार "मज्झिम निकाय' में भिक्षु को हरा धनिया अथवा कच्च हरे धान्य (आमधञ्ञिय) से प्रतिविरत माना गया है तब "विमान वत्थु' में हरे पत्तों वाली रवत मूलिका दान देने वाले दाता का देव विमान आदि का लाभ बताया है। इन सब बातों से इतना तो निश्चित हो जाता है कि 'मज्झिम निकाय' के समय के भिक्षुओं के आचार में "विमान वत्थु" के निर्माण काल तक बहुत कुछ परिवर्त्तन हो चुका था। इस परिवर्त्तन की प्रतिध्वनि आगे लिखी जाने वाली थेर गाथाओं में भी पाई जाती है।

बौद्धभिक्षु का अहिंसोपदेश

जैन ग्रन्थों में जिस प्रकार प्राणातिपातादि विरति और अहिंसक वचन का उपदेश मिलता है, वैसे बौद्ध ग्रन्थों में भी अनेक स्थलों पर अहिंसा का महत्त्व बताने वाला उपदेश दृष्टिगोचर होता है। इस बात के समर्थन में हम कतिपय में थोड़े से अवतरण देंगे।

> सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
> अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये ॥१॥
>
> (धम्मपद पृ० ?)

अर्थ—सर्वजीव दण्ड से त्रस्त होते हैं, सब मृत्यु से भयभीत रहते हैं, इस वास्ते अपनी आत्मा की उपमान करके न किसी प्राणी को मारे न मरवावे।

यो प्राणमतिपातेति, मुसावाद च भासति ।
लोके अदिन्न आदीयति परदार च गच्छति ॥१२॥
सुरामेरयपान च यो नरो, अनुयुञ्जति ।
इधेऽव मेसो लोकस्मिं, मूल खणति अत्तनो ॥१३॥
(धम्मपद पृ० ३८)

अर्थ—जो प्राणियो को प्राणमुक्त करता है, झूठ बोलता है, लोकों मे अदत्त (परचीज) उठाता है, पर स्त्री गमन करता है, और जो पुरुष मदिरा मैरेय नामक मादक पदार्थ पीता है, वह इसी लोक मे अपनी जड़ को खोदता है।

न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति ।
अहिंसा सब्बपाणान, अरियोति पवुच्चति ॥
(धम्मपद पृ० ४१)

अर्थ—जिस कार्य के करने से पर प्राणी की हिंसा होती है, उस कार्य के करने से कोई आर्य नहीं बनता, सर्व प्राणी का अहिंसक ही आर्य नाम से पुकारा जाता है।

निधाय दण्ड भूतेसु, तसेसु थावरसु च ।
यो न हन्ति न घातेति, तमह ब्रूमि ब्राह्मणम् ॥
(सुत्त निपात पृ० ५८)

अर्थ—त्रस और स्थावर को मारने की मानसिक, वाचिक, कायिक, प्रवृत्तियाँ को छोड़ कर न स्वय प्राणिघात करता है न दूसरों से करवाता है मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ।

विरतो मेथुना धम्मा, हित्वा गाम परोवरं ।
अविरुद्धो असारत्तो, पाणेसु तस थावरे ॥२६॥
यथा अहं तथा एते, यथा एते तथा अहं ।
अत्तान उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये ॥२७॥
(सुत्त निपात पृ० ७५)

अर्थ—मैथुन प्रवृत्ति से निवृत्त हो, परम्परागत काम भोगों को छोड़ कर त्रस स्थावर प्राणियों के ऊपर अरुष्ट दृष्टि बन और जैसा मैं हूँ वैसे ये हैं, तथा जैसे ये हैं वैसा मैं हूँ इस प्रकार आत्म सदृश मानकर न किसी का घात करे न करवाये।

यो न हन्ति न घातति, न जिनाति न जापये ।
मित्तं सो सब्बभूतेसु वेरं तस्स न केनचीति ॥
(इति वुत्तक पृ० २०)

अर्थ—जो न स्वयं किसी का घात करता है न दूसरों से करवाता है, न स्वयं किसी को जीतता है, वह सब प्राणियों का मित्र होता है, उसका किसी के साथ वैर नहीं होता।

तथागतस्स बुद्धस्स, सब्बभूतानुकम्पिनो ।
परियायवचनं पस्स, द्वे च धम्मापकासिता ॥
पापकं पस्सथ चेकं, तत्थ चापि विरज्जथ ।
ततो विरत्त चित्ता से, दुक्खस्सन्तं करिस्सथ ॥
(इति वुत्तक पृ० ३०)

अर्थ—सर्व जीवों पर दया रखने वाले तथागत बुद्ध का परियाय वचन देखो, जिनसे धर्म प्रकाशित किया है।

पाप को देखो और उससे विरक्त हो, यदि तुम पाप से विरक्त चित्त हो जाओगे तो सब दुःखों का नाश कर दोगे।

यत चरे यत चिट्ठे, यत अच्छे यत सये।
यत सम्मिञ्जये भिक्खु, यत मेन पसारय॥
(इतिवुत्तक पृ० १०१)

अर्थ—भिक्षु यतना से खड़ा रहे, यतना से बैठ, यतना से सोये, यतना से सकुचित कर, और यतना से फैलाये।

सुख कामानि भूतानि, यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो पेच सो न लभते सुखं॥
सुख कामानि भूतानि, यो दण्डेन न विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो, पेच सो लभते सुखान्ति॥
(उदान पृ० १२)

अर्थ—सर्व प्राणी सुख का चाहने वाले है, इनका जो दण्ड (मानसिक, वाचिक, कायिक प्रहार) से घात करता है, वह अगले जन्म में इष्ट सुख को नहीं पाता।

सर्व प्राणी सुख के चाहने वाले हैं, इनका जो दण्ड से घात नहीं करता है, वह सुख का अभिलाषी मनुष्य अगले जन्म में सुख को प्राप्त करता है।

उद्दिष्टकृत और आमगन्ध

बुद्ध के समय में उनके भोजन के सम्बन्ध में टीका टिप्पणियाँ होती हो रहती थीं, क्योंकि समकालीन अन्य सम्प्रदायों के श्रमणों की भिक्षाचर्या में उद्दिष्टकृत (उनके लिये बनाया गया) भोजन तथा मांस लेने का कड़ा प्रतिबन्ध था, तब बुद्ध व भिक्षुओं में इन दोनों बातों की छूट थी। वे निमन्त्रण को स्वीकार कर उनके लिये बनाया गया भोजन निमन्त्रण दाता के घर जाकर खा लेते थे। उनके लिये बनाया हुआ भोजन वे अपने स्थान पर भी ले आते थे और मांस मत्स्य भी भिक्षान्न में ग्रहण कर लेते थे। इन दो प्रकार के भोजनों में से भगवान् महावीर के अनुयायी निग्रन्थ श्रमण दोनों का विरोध करते थे। तब पूर्ण काश्यप आदि अन्य सम्प्रदायों के नेता आमगन्ध का खास विरोध करते थे क्योंकि वैदिक सम्प्रदाय के सन्यासियों को उद्दिष्टकृत सर्वथा वर्जित नहीं था, जब कि आमगन्ध उनके लिये सर्वथा हेय था।

बौद्ध भिक्षुओं के आमन्त्रित भोजन पर जैन श्रमण कैसे कठोर वाक्य प्रहार करते थे उसका एक उदाहरण यहां देते हैं—

> नेव वीओदगं चैव, तमुद्दिसाय जं कडं।
> भोच्चा झाणं झियायंति, अखेयन्ना समाहिया ॥२६॥
> जहा ढंका य कंका य, कुलला मग्गु कासिही।
> मच्छेसणं झियायंति, झाणं ते कलुसाधमं ॥२७॥

अर्थ—सर्व जीवों पर दया रख
वचन दबो, जिनन रो धर्म प्रकाशित

पाप का दबो और उससे विरत
चित्त हो जाओगे तो सबदु खों का नाश

यत चरे यत चिट्ठे, यत अच्छे
यत सम्मिञ्जये भिक्खू, यत मेन
(६

अर्थ—भिक्षु यतना से खड़ा रहे, यतना
सोये, यतना से सकुचित करे, और यतना से प

सुख कामानि भूतानि, यो दण्डेन वि
अत्तनो सुखमेसानो पच्च सो न लभते
सुख कामानि भूतानि, यो दण्डेन न हिंसति
अत्तनो सुखमेसानो, पेच सो लभते सुखं
(उदान

अर्थ—सर्व प्राणी सुख को चाहने वाले हैं, इनको
(मानसिक, वाचिक, कायिक प्रहार) से घात करता है, व
जन्म में इष्ट सुख को नहीं पाता।

सर्व प्राणी सुख के चाहने वाले हैं, इनको जो दण्ड
नहीं करता है, वह सुख का अभिलाषी मनुष्य अगले जन्म
को प्राप्त करता है।

अर्थ—सर्व जीवों की दया के खातिर सावद्य दोष को वर्जित करने वाले ज्ञातपुत्रीय ऋषि उस दोष की शङ्का करते हुए उद्दिष्ट भक्त को वर्जित करते हैं।

आमगध के विषय मे बुद्ध और पूरण कश्यप का सवाद

पूरण कश्यप यद्यपि आत्मा को अमर मानने वाले थे, फिर भी ब्राह्मण स यासी होने के नाते मास नहीं खाते थे, इतना ही नहीं बल्कि वे मास खाने वाले आजीविक मक्खलि गोशाल और बुद्ध की टीका किया करते थे। एक समय कश्यप की बुद्ध से भेंट हो गई, कश्यप ने उद्दिष्टकृत भोजन की तरफ सकेत कर बुद्ध से कहा—

यदग्गतो मज्झतो सेसतो वा, पिण्ड लभेथ परदत्तूपजीवी।
नाल थुतु नोऽपि निपच्चवादी, त वापिधीरा मुनि वेदयन्ति॥

अर्थ—जो प्रथम मध्य में अथवा अन्त में परदत्त पिण्ड को पाकर अपना निर्वाह करता है, न दाता की स्तुति करता है, न उसके विरुद्ध कोई शब्द बोलता है उसको धीर पुरुष मुनि बताते हैं।

काश्यप के इस आकूत को समझ कर बुद्ध ने उसे तुर त नीचे मुजब उत्तर दिया—

यदस्नमानो सुकत सुनिट्ठित, परेहि दिन्न पयत पणीतम्।
सालीनमन्न परिभुञ्जमानो, सो भुञ्जसि कस्सप आमगध॥
(सुत्त निपात पृ० २४)

एव तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
विम एसण झियायति, ककाकर कलुसाहमा ॥१८॥
(सूत्रकृताङ्ग एकादश अ०)

अर्थ—आग, सचीवधान्य, पथा पानी का उपयोग कर अपने लिये बनाया हुआ अन्न खाकर जो ध्यान करते हैं उन्हें पर पीड़ा के अनभिज्ञ असमाधि प्राप्त कहना चाहिए ।

जैसे ढक, कक, कुरर, मद्गु, आदि पक्षी मत्स्य की खोज में स्थिर चित्त होकर ध्यान करते हैं वह ध्यान मलिन और अधर्म्य है

इसी प्रकार अमुक श्रमण जो मिथ्यादृष्टि और अनार्य हैं, वे एक पक्षी से भी अधम इन्द्रियों की विषयैषणा का ध्यान करते हैं ।

निर्ग्रन्थ श्रमण उद्दिष्टकृत आहार और आमगन्ध दोनों को समान मानते थे । उनका कहना था कि श्रमण के निमित्त अन्य जन्तुओं का समारम्भ करके बनाया गया भोजन भी एक प्रकार का आमगन्ध ही है ।

भगवान महावीर ने इस बात की ताकीद कर रक्खी थी कि—

आमगन्धं परिन्नाय निरामगन्धो परिव्वये ।

अर्थ—आमगन्ध को समझ कर निर्ग्रन्थ श्रमण निरामगन्ध होकर विचरे ।

सव्वेसिं जीवाणं दयट्ठयाए सावज्जं दोसं परिवज्जयंता ।
तस्संकिणो इसिणो नायपुत्ता, उद्दिट्ठ भत्तं परिवज्जयंति ॥

अर्थ—सर्व जीवों की दया के खातिर सावद्य दोष को वर्जित करने वाले ज्ञातपुत्रीय ऋषि उस दोष की शङ्का करते हुए उद्दिष्ट भक्त को वर्जित करते हैं।

यामगध के विषय में बुद्ध और पूरण कश्यप का सवाद

पूरण कश्यप यद्यपि आत्मा का अमर मानने वाले थ, फिर भी ब्राह्मण स मासी होने के नाते मास नहीं खाते थ, इतना ही नहीं बल्कि वे मास खाने वाले आजीविक मक्खलि गोशाल और बुद्ध की टीका किया करते थ। एक समय कश्यप की बुद्ध से भेंट हो गई, कश्यप ने उद्दिष्टकृत भोजन की तरफ सकेत कर बुद्ध से कहा—

यदग्गतो मज्झतो सेसतो वा, पिण्ड लभेथ परदत्त पजीवी।
नाल थुतु नोऽपि निपच्चवादी, त वापिधीरा मुनिं वेदयन्ति॥

अर्थ—जो प्रथम मध्य में अथवा अ त में परदत्त पिण्ड को पाकर अपना निर्वाह करता है, न दाता की स्तुति करता है, न उसके विरुद्ध कोई शब्द बोलता है, उसको धीर पुरुष मुनि बताते हैं।

काश्यप क इस आकूत को समझ कर बुद्ध न उसे तुर त नीचे मुजब उत्तर दिया—

यदस्नमानो सुकृत सुनिट्ठित, परहि दिन्न पयत पणीतम्।
मालीनमन्न परिभुञ्जमानो, सो भुञ्जसि कस्सप आमगध॥
(सुत्त निपात पृ० २४)

बुद्ध और इनके भिक्षुओं की दान प्रशंसा

जिस प्रकार ब्राह्मणों ने यज्ञ विधियों के प्रसंग में सुवर्ण दक्षिणा का और ग्रहण मकराति में भूम्यादि दानों का महत्त्व बताया है, उसी प्रकार बौद्ध ग्रंथकारों ने उनके संघ को आवश्यक पदार्थों का दान देने का महान् फल बताया है। इस सम्बन्ध में सामान्य बौद्ध ग्रंथकारों की तो बात ही जाने दीजिये बुद्ध स्वयं किस प्रकार दान की प्रशंसा करते थे, वह निम्नोद्धृत पद्यों से जाना जा सकता है—

अञ्जेन च केवलिन महेसिं, खीणासवं कुक्कुचवूपसंत ।
अन्नेन पानेन उपट्ठहस्सु, खेत्तं हि तं पुञ्ञ पेक्खस्स होति।।२७
ये अन्त दीपा विचरन्ति लोके, अकिंचना सब्ब निधिप्पमुत्ता।
कालेसु तेसु हव्यं पवेच्छे, यो ब्राह्मणो पुञ्ञपक्खोयजेथ ।।१५

(सुत्त निपात)

अर्थ—(भगवान् बुद्ध कहते हैं) स्वयं तथा अन्य द्वारा केवली क्षीणाश्रव महर्षि की अन्न पान द्वारा उपचर्या करो, पुण्यार्थी दाता के लिये ऐसा ही दान क्षेत्र होता है।

पदार्थों के प्रकाशन में दीपक समान, त्यागी, सर्व विधि प्रवृत्तियों से मुक्त ऐसे ज्ञानी जो लोक में विचरते हैं उनके लिये पुण्यार्थ यज्ञ करने वाला ब्राह्मण समय पर दान के लिये हाथ लम्बाय।

उपर्युक्त दान प्रशंसा बुद्ध ने स्वयं संयत भावों में की है, परन्तु इनके भिक्षु अपने पूज्य तथागत की दान प्रशंसा का अनुसरण करते हुए कहां तक पहुँच हैं, यह सचमुच दर्शनीय प्रसङ्ग है। यहां हम 'विमान वत्थु' के कुछ उद्धरण देंगे। जिससे पाठक गण जान सकेंगे, कि बौद्ध भिक्षु अपने उपयोग में आने वाले पदार्थ दानों की किस प्रकार से बढ़ा चढ़ा कर प्रशंसा करते थे।

यो अन्धकारम्हि तिमीसकाय, पदीपकालम्हि ददाति दीपं।
उपज्जति जोतिरसं विमानं, पहूतमल्लं बहुपुण्डरीकं ॥७॥
(विमान वत्थु पृ० ७)

अर्थ—जो अन्धकार में दीपक काल में भिक्षुओं के स्थान पर अन्धकार नाशक दीपक रखता है, वह अनेक पुष्पमालाओं से शोभित और श्वेतकमलों की रचना से अलङ्कृत ज्योतीरस विमान में उत्पन्न होता है।

नारी सव्वङ्ग कल्याणी, भत्तु च नोमदस्सिका।
एतस्सा चामदानस्स, कलं नाग्घति सोलसीं ॥७॥
सतं कञ्जा सहस्सानि, आमुक्त मणिकुण्डला।
एतस्सा चामदानस्स, कलं नाग्घति सोलसीं ॥८॥
सतं हेमवता नागा, ईसा दन्ता उरूल्हवा।
सुवर्णकच्छा मातङ्गा, हेमकप्प निवासरा ॥
एतस्सा चामदानस्स, कलं नाग्घति सोलसीं ॥९॥

लोग पूछते—श्रमण के निमित्त रसोई बना कर उन्हें जिमाना चाहिए या नहीं ? तब दूसरे कहते जो मत्स्य मांस तक को नहीं छोड़ते उनको दान से क्या पुण्य होता होगा, इत्यादि एक दूसरे के विरोध में पूछी जाने वाली बातें सुनकर भगवान् महावीर अपना सिद्धान्त व्यक्त करते हुए उनके प्रश्नों का उत्तर देते थे। जिसका संक्षिप्त निरूपण नीचे मुजब "सूत्रकृताङ्ग" सूत्र में मिलता है—

भूयाइं च समारम्भ, तमुद्दिसाय जं कडं।
तारिसं तु न गिण्हेज्जा, अन्नपाणं सुसंजए ॥१४॥
पूइ कम्मं न सेविज्जा, एस धम्मं वुसीमओ।
यं किंचि अभिकं खेज्जा, सव्वसो तं न कप्पए ॥१५॥
हणंतं णाणुजाणेज्जा, आयगुत्ते जिइंदिए।
ठाणाइं संति सड्ढीणं, गामेसु नगरे सु वा ॥१६॥
तहागिरं समारम्भ, अत्थि पुण्णंति णो वए।
अहवा णत्थि पुण्णंति, एवमेयं महब्भयं ॥१७॥
दाणट्ठयाय ये पाणा, हम्मंति तस थावरा।
तेसिं सारक्खणट्ठाए, तम्हा अत्थिति णो वये ॥१८॥
जेसिं तं उवकप्पंति, अन्नपाणं तहा विहं।
तेसिं लाभ तरायंति, तम्हा णत्थित्ति णो वये ॥१९॥
जेय दाणं पसं संति, वहमिच्छंति पाणिणं।
जे य णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करंति ते ॥२०॥

जो उसे दान की प्रशंसा करते हैं, वे प्राणियों का वध चाहते हैं और जो इसका निषेध करते हैं, वे इस दान पर निर्भर रहने वालों की जीविका का नाश करते हैं।

इस कारण से सच्चे श्रमण ऐसे दानों के सम्बन्ध में पुण्य है, पुण्य नहीं है, यह दोनों प्रकार की भाषा नहीं बोलते। इस प्रकार आरम्भ तथा अन्तराय जनक वचन न बोलने वाले श्रमण आत्मा को कर्मरज से मुक्त करके निर्वाण को प्राप्त हुए।

बौद्ध ग्रन्थों में लेखकों की अतिशयोक्तियां

बुद्ध के निर्वाण के सातवें दिन एकत्रित हुए भिक्षुओं में से सुभद्र नामक एक वृद्ध भिक्षु ने महाकश्यप से कहा—हे आयुष्मन्! शोक न करो, विलाप न करो, हम मुक्त हुए हैं, यह तुम को कल्पता है यह नहीं कल्पता है इस प्रकार से उस महा श्रमण ने हम बहुत तंग कर दिया था, अब हम जो चाहेंगे वह करेंगे जो न चाहेंगे वह न करेंगे। उक्त वचन को स्मरण करते हुए महाकश्यप ने सोचा इस प्रकार के भिक्षु शास्ता के बिना धर्म के खरे स्वरूप को बहुत जल्दी बदल देंगे। यह सोच कर भिक्षु संघ में से महाकश्यप उपालि आदि राजगृह पहुँचे और सात महिनों तक रह कर बुद्ध के उपदेशों और आगमों को सुना सुना कर व्यवस्थित किये।

राजगृह की संगीति के बाद भी धीरे धीरे भिक्षुओं ने अपने आचरणों में परिवर्तन करना जारी रक्खा। बुद्ध के इस कथन का यह परिणाम था कि जो उन्होंने अपने अन्तिम जीवन में भिक्षुओं

ने कहा था "हे भिक्षुओं। मेरी कही हुई बातों पर ही निर्भर न रहना, परिस्थिति के वश तुम मेरे बताये गये नियमों में परिवर्त्तन भी कर सकते हो।"

मौर्य सम्राट् अशोक के समय तक राजगृह में व्यवस्थित किये गये बौद्ध साहित्य में बहुत सा परिवर्त्तन हो चुका था। भिक्षुओं ने अपने आचार नियमों का अनुकूल आने वाले बहुत से नये ग्रंथ बना कर पुराने ग्रन्थों में दाखिल कर दिये थे। कई नये ग्रन्थ तो पुराने ग्रन्थों के अङ्ग बन चुके थे, परिणाम स्वरूप अशोक के समय में दुबारा व्यवस्थित किया गया।

यह सब होते हुए भी बौद्धपिटकों में प्रक्षेप आदि बन्द होना सर्वथा बन्द नहीं हुआ। इसका परिणाम यह है कि आज हम बौद्ध ग्रन्थों में अनेक एक दूसरी से विरुद्ध और अतिशयोक्ति पूर्ण बातें पाते हैं।

बौद्ध धर्म के अभ्यासी और अनुयायी धर्मानन्द कौशाम्बी जैसे व्यक्ति बुद्ध के निर्वाण समय में बौद्ध भिक्षुओं की संख्या पांच सौ की बताते हैं तब "बाहीर निदान वर्णना" नामक बौद्ध-ग्रन्थ बुद्ध के निर्वाण स्थान पर सात लाख बौद्ध भिक्षुओं का इकट्ठा होना बताता है। देखिये नीचे की पंक्तियां—

"परिनिब्बुते भगवति लोकनाथे भगवतो परिनिब्बान मञ्चे पतितानं सत्तन्नं भिक्खुसतसहस्सानं सघत्थेरो, आयस्मा महाकस्सपो सत्ताह परिनिब्बुते भगवति सुभद्देन बुड्ढपब्बजितेन अलं आवुसो मा सोचित्थ इत्यादि"

अर्थात्—भगवान् लोकनाथ के निर्वाण होने पर निर्वाण स्थान पर आये हुए सात लाख भिक्षुओं के समस्त संघ स्थविर आयुष्मान् महाकश्यप को निर्वाण के सातवें दिन सुभद्र नामक वृद्ध भिक्षु ने कहा–हे आयुष्मन् शोक न करा इत्यादि।

उपर्युक्त उद्धरण में बुद्ध निर्वाण के सातवें दिन निर्वाण स्थान पर एकत्रित हुए भिक्षुओं की सख्या सात लाख बताई है, तब अन्य भिक्षु संख्या कितनी होगी, सात दिन में तो पचास पचहत्तर कोश के अन्दर के ही भिक्षु आ सकते हैं, तब बुद्ध ने सारे उत्तर भारत में अपने धर्म का प्रचार किया था और बौद्ध भिक्षु उन सारे प्रदेशों में घूमा करते थे। इस स्थिति में "वाहिर निदान वएणना" लेखक के मत से भिक्षुओं की सख्या कितनी होनी चाहिए, इसका पाठक गण स्वयं विचार करेंगे।

इसी प्रकार अशोक के समय में द्वितीय धर्म संगीति पर उपस्थित होने वाले भिक्षु भिक्षुणियों की सख्या का आकड़ा बताते हुए वाहिर निदान वएणनाकार ने निम्नलिखित वर्णन किया है देखिये–

तस्मिं च समये सनिपतिता असीति भिक्खू कोटियो अहेसु भिक्खुनीन च छन्नवुति सत सहस्सानि तत्थ खीणा सवा भिक्खू एव सत सहस्स सख्या अहेसु।

(वाहिर नि० पृ० ४६)

अर्थ—उस मेले में अस्सी करोड़ भिक्षु एकत्रित हुए जिनमें क्षीणाश्रव भिक्षु ही एक लाख परिमित थे और भिक्षुणिया छ्यानवें लाख की सख्या में थीं।

उपर्युक्त जो भिक्षुओं की संख्या दी है, उस पर हम टीका टिप्पणी करना नहीं चाहते। पाठक वर्ग से केवल यह प्रश्न करना चाहते हैं कि तत्कालीन भारतवर्ष की जनसंख्या का आंकड़ा भी अरबों करोड़ का था या नहीं इसका कोई निर्णय होतो कहिए। हम जानना चाहते हैं "पाली ग्रन्थ में विपस्सी बुद्ध से लेकर गौतम तक सात बुद्ध होना लिखा है, तब "बुद्धवंश" में तण्हंकर १ मेधंकर २, शरणंकर ३, दीपंकर ४ कौण्डिन्य ५, मंगल ६, सुमनस ७, रैवत ८ शोभित ९, अनोमदस्सी १०, पदुम ११, नारद १२, पदुमोत्तर १३, सुमेध १४, सुजात १५, पियदस्सी १६, अत्थदस्सी १७, धम्मदस्सी १८, सिद्धार्थ १९, तिष्य २०, पुष्य २१, विपस्सी २२, सिक्खी २३, विश्वभू २४, ककुसंधो २५, कोणागम २६ कस्सप २७, गौतम २८, मैत्रेय २९, इन उनतीस बुद्धों की नामावली दी है। इसमें दीपङ्कर से लेकर गौतम बुद्ध तक के पचीस बुद्धों का शरीर, मान तथा आयुष्य का भी वर्णन कर दिया है यह सब हकीकत गौतम बुद्ध के मुख से कहलाई गई है। अन्त में गौतम अपने खुद के लिये कहते हैं—

> अहं एतरहि बुद्धो गोतमो सक्य-वड्ढनो ।
> पधानं पदं हित्वान पत्तो सम्बोधि उत्तमं ॥
> ब्यामप्पभा सदा मह्यं सोलस हत्थ मुग्गतो ।
> अप्पं वस्स सत आयु, इदानेतरहि विज्जति ॥

अर्थ—इस समय में गौतम बुद्ध हूँ मैं शाक्य कुलीन हूँ मैंने प्रधान पद का त्याग करके उत्तम सम्बोधि ज्ञान को प्राप्त किया है।

मेरे चारों तरफ सदा व्यायाम प्रमाण प्रभा मण्डल रहता है, मेरे शरीर की ऊंचाई सोलह हाथ की है, और मेरा आयुष्मान् सौ वर्ष का है।

अंतिम चातुर्मास्य में वैशाली के निकटवर्ती "वेलु" गांव में रोगमुक्त होने के बाद बुद्ध अपने शरीर की दशा वर्णन करते हुए अपने प्रधान शिष्य आनन्द से कहते हैं, आनन्द! अब मैं अस्सी वर्ष का हो गया हूँ, मेरा शरीर जरा जीर्ण पुराने शकट की तरह ज्यों त्यों चलता है, इत्यादि बातों से यह तो निश्चित है कि निर्वाण के समय बुद्ध की अवस्था अस्सी वर्ष की थी, बुद्ध चरित्र लेखकों का भी यही मन्तव्य है, फिर भी "बुद्धवंशों" में उनके मुख से अपना आयुप्रमाण सौ वर्ष का कहलाया है यह विचारणीय है, और विशेष विचारणीय तो उनका देहमान है। गौतम बुद्ध के समकालीन भगवान् महावीर तथा उनके प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम का देहमान जैन सूत्रों में सात हाथ का बताया है, तब उनके समकालीन गौतम बुद्ध अपना शरीर सोलह हाथ ऊँचा बताते हैं, इतिहासकार इस विषमता का कारण खोजेंगे तो उन्हें अवश्य सफलता मिलेगी। यह तो उदाहरण के रूप में दो चार बातों का निर्देश किया है बाकी बौद्ध ग्रन्थों में परस्पर विरुद्ध और अतिशयोक्ति पूर्ण बातों की इतनी भरमार है कि उन सब को लिख कर एक छोटा बड़ा ग्रन्थ बनाया जा सकता है। इस विषय की यहां चर्चा करने का प्रयोजन मात्र यही है कि बौद्ध लेखकों ने अपने पड़ौसी वैदिक जैन आदि सम्प्रदायों के सम्बन्ध में बहुत सी ऊट

[illegible] बातें लिख डाली हैं जिनमें झूठ और अतिशयोक्ति का [illegible] पार ही नहीं मिलता।

इस सम्बन्ध में एक दो उदाहरण देकर हम इस प्रकरण को पूरा करेंगे। थेरगाथा में जम्बुक थेर की लिखी हुई चार गाथाएं पढ़ने योग्य हैं—

> पच पचास वस्सानि, रजो जल्लमधारयि ।
> भुंज तो मासिक भत्त, केस मस्सु अलोचयि ॥२८३॥
> एक पादेन अट्ठासि, आसन परिवज्जयि ।
> सुक्ख गूथानि च खादि, उद्देस च न सादियि ॥२८४॥
> एतादिस करित्वान, बहु दुग्गति गामिन ।
> वुय्हमानो महोघेन, बुद्ध सरणमागम ॥२८५॥
> सरण गमन पस्स, पस्स धम्म सुधम्मता ।
> तिस्सो विज्जा अनुप्पत्ता, कत बुद्धस्स सासनति ॥२८६॥
>
> (जम्बुक थेर [illegible])

अर्थ—जम्बुक थेर कहता है [illegible] वर्ष तक [illegible] पर रज तथा मैल [illegible] किया, [illegible] सिर तथा मुख के बालों का लुञ्चन किया।

एक पैर [illegible] आसन [illegible] आसन से [illegible] नहीं हुआ।

इस प्रकार ने बहुत से दुर्गति कारक दुष्ट कार्य किये फिर भी ससार के प्रवाह म वहने लगा तब बुद्ध के शरण में आया।

शरण गमन का प्रभाव देखो और धर्म की सुधर्मता को देखो तीनो ही विद्याय पाली और बुद्ध के शासन का पालन किया।

ऊपर के वर्णन में जम्बुक नामक स्थविर प्रथम जैन श्रमण था और पचपन वर्ष तक अनेक कड़ी तपस्याय की थीं, फिर भी सफलता न मिलने पर वह बुद्ध के पास गया और बुद्ध का शरण लेते ही उसे तीन विद्या प्राप्त हो गई थीं। इस सम्बन्ध में हम कोई टीका टिप्पणी नहीं करते। अनेक बौद्ध भिक्षु बौद्ध सम्प्रदाय से निकल कर निर्ग्रन्थ जैन श्रमण बने थे, वैसे जम्बुक भी जैन सम्प्रदाय से निकल कर बौद्ध भिक्षु बना होतो आश्चर्य नहीं है, परन्तु उसके मुख से निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय म रह कर किये हुए कष्टाप वर्णन में शुष्क गूथ (सूखी विष्ठा) खान की बात कहलाई है, वह सफेद झूठ है क्योंकि ऐसी बीभत्स तपस्या न निर्ग्रन्थ धर्म में थी न जैन सूत्रों मे ही इसका कहीं सूचन मिलता है।

इसी प्रकार थेरी गाथा मे भद्दा थेरी के मुख से नीचे की गाथायें कहलायी है—

> लून कमी पङ्कधारी, एक साटी पुरे चरिं।
> अवज्जे वज्ज मतिनी, वज्जे चावज्ज दासिनी ॥१०७॥
> दिवा विहारा निक्खम्म, गिज्झ कूटम्हि पब्बते।
> अद्दस विरज बुद्ध, भिक्खु सघ पुरक्खतम् ॥१०८॥

निह्च जानु वदित्वा, सम्मुखापञ्जलि अह ।
एहि भद्दे ति अवच, सा मे आसूप सम्पदा ॥१०६॥
चिण्णा अंगा च मगधा, वज्जी काशी च कोशला ।
अनणा पण्णासवस्सानि, रट्ठपिंड अभुं जिह ॥११०॥
पुञ्ज च पसवि बहु सपञ्जो वताय मुपासको ।
जो भद्दाय चीवरमदासि, मुत्ताय सव्वगन्थेहि ॥१११॥

(भद्दा पुराण निग० पृ० ११)

अथ—केशों का लुञ्चन करने वाली मलधारिणी, एक वस्त्र धारण करने वाली, नगर में भिक्षावृत्ति करने वाली अवद्य को पाप मानने वाली, और पाप में निष्पापता देखने वाली, दिन को विहार करने वाली, ऐसी मैं एक दिन अपने उपाश्रय स्थान से निकल कर गृध्रकूट पर्वत पर गई, जहा पर संघ के साथ रहे हुए पापरज मुक्त बुद्ध को देखा। मैं घुटने टेक कर बुद्ध को वन्दन करके दोनों हाथ जोड़ उनके सम्मुख खड़ी रही, उस समय हे भद्दे! "आ" यह कहा और मुझे उपसम्पदा दे दी। अङ्ग, मगध, विदेह काशी, कोशल आदि देशों में पचास वर्ष तक भ्रमण करके जो राष्ट्र पिण्ड भोगा था, उससे मैं उऋण हुई। वहा जो सप्रज्ञ उपासक था, उसने भद्रा को वस्त्र दान देकर बहुत पुण्य उपार्जन किया।

उपर्युक्त गाथाओं के अन्त में "भद्दा पुराण निगण्ठी" ऐसा नाम लिखा गया है, कि भद्दा पहले निर्ग्रन्थ श्रमणी रह कर वह बुद्ध के हाथ से बौद्ध भिक्षुणी बनी थी। भद्रा ने आत्म निरूपण

के सम्बन्ध मे हम कुछ भी नहीं कहना है, परन्तु भद्रा को एक साटी कहा गया है, वह लेखक के अज्ञान का नमूना है। उसने निग्रन्थ श्रमणों को एक साटक देख कर निर्ग्रन्थ श्रमणी को भी एक साटी कह डाला है। इन गाथाओं की रचयित्री भद्रा स्वय होती तो वह अपने को एक साटी कभी नहीं कहती। जिन्होंने निर्ग्रन्थ श्रमणियों की उपाधि का निरूपण जैन सूत्रों म पढा है वे ता यही कहेंगे कि भद्रा का यह बयान बिल्कुल झूठा है। जैन श्रमण का यथा जात रूप मुखवस्त्रिका रजोहरण, चोलपट्टक मात्र माना गया है पर तु श्रमणियों के लिये यह बात नहीं है। इनके लिये शास्त्रकारों न अनेक प्रकार के विशेष वस्त्र माने हैं, जिनसे कि इनकी मान मर्यादा और शील सम्पत्ति की रक्षा हो।

बुद्ध का अन्तिम भोजन "सूकर मद्दव"

बुद्ध न बौद्ध भिक्षुओं के लिये भोजन मे मास लेने का निषेध नहीं किया था यह बात पहले कही जा चुकी है। बुद्ध स्वयं मास का भोजन करते होंगे यह भी सम्भावित हो सकता है, परन्तु उनका अन्तिम भोजन 'सूकरमद्दव" सूअर का मास था यह बात हम मानने को तैयार नहीं हैं। वाङ्मय म मास आमिष शब्द अनेक स्थलों म आये हैं जिन का अर्थ कहीं प्राण्यग धातु और कहीं गाद्यपदार्थ होता है, पर तु मद्दव शब्द मास क अर्थ म प्रयुक्त होन का कोई प्रमाण नहीं मिलता, मात्र सूकर शब्द क साहचर्य से सूकर मद्दव को सूअर का मास मान लिया गया है, फिर भी इस मा यता मे लेखकों का ऐक मत्य नहीं है।

बौद्ध साहित्य के प्रसिद्ध टीकाकार बुद्धघोषाचार्य जो ईसा की पञ्चमी शताब्दी के विद्वान् हैं, सूकर मद्दव का अर्थ लिखते हुए कहते हैं —

सूकर मद्दवन्ति नातितरुणस्स नातिजिण्णस्स एक जेट्ठक सूकरस्स पवत्त मंसं। तं किर मुदु चेव सिनिद्ध च होति। तं पटियादापेत्वा साधुकं पचापेत्वाति अत्थो। एके भणन्ति सूकर मद्दवन्ति पन मुदु ओदनस्स पञ्च गोरस यूसपाचन विधानस्स नाममेतं यथा गवपानं नाम पाकनामन्ति। केचि भणन्ति सूकर मद्दवं नाम रसायन विधि तं पन रसायनसत्थे आगच्छति तं चुन्देन भगवतो परिनिब्बानं न भवेय्याति रसायनं पटियत्तन्ति"। यदि पन सूकर मद्दवन्ति न सूकर मंसं सूकरेहि मद्दित वंसकळीरोति वदन्ति। अञ्ञे सूकरेहि मद्दितपदेसे जातं अहिच्छत्तकन्ति"।[१]

अर्थ —सूकर मद्दव, यह जो छोटा बच्चा भी नहीं है और अति बूढ़ा भी नहीं ऐसे एक बड़े सूअर का तैयार किया हुआ मांस था, वह कोमल स्निग्ध होता है, उसको लेकर अच्छी रीति से पकाया गया यह तात्पर्य है।

कोई कहते हैं-सूकर मद्दव पञ्च गोरस से पकाये हुए मृदु ओदन का नाम है जैसे गवपान यह एक पाक विशेष नाम है।

कोई कहते हैं-सूकर मद्दव यह रसायन विधि का नाम है। इस विधि से बनाया हुआ खाद्य पदार्थ रसायन का काम करता है, कर्मारपुत्र चुन्द ने भगवान् निर्वाण प्राप्त न हों इस बुद्धि से इसको तैयार करवाया था।

कोई कहते हैं- सूकर मद्दव का अर्थ सूअर मास नहीं पर सूअरा द्वारा कुचला हुआ वॉस का अकुर ऐसा होता है।

दूसरे कहते हैं-सूअरा द्वारा मर्दित भूमि भाग में उत्पन्न हुआ अहिच्छत्रक सूकर मद्दव है।

उपर्युक्त पॉच मतों में से केवल बुद्धघोषाचार्य का मत ही सूकर मद्दव-सूअर मास ऐसा अर्थ मानता है शेष सभी सूकर मद्दव को अ यान्य पदार्थ होने का अपना अभिप्राय व्यक्त करते हैं। हमारी राय में इन पॉच मतों से एक भी मत ग्राह्य प्रतीत नहीं होता।

बुद्ध घोषाचार्य ने सूकर मद्दव का सूकर मास अर्थ किया, इसका एक ही कारण हो सकता है, वह यह कि उग्गगहपति द्वारा बुद्ध को सूअर का मास दिये जान का "अगुत्तर निकाय" के पञ्चक निपात में उल्लेख मिलता है, परन्तु टीकाकार आचार्य ने बुद्ध की अवस्था और थाडे समय पहले भुगती हुई बिमारी का विचार नहीं किया। बुद्ध तो क्या दूसरा भी समझदार मनुष्य अस्सी वर्ष की उम्र में पहुँच कर रोगशय्या से उठ चलता फिरता बन कर सूअर का मास खाने की कभी इच्छा नहीं करेगा जो सूकरमद्दव का अर्थ गोरस से पकाया हुआ ओदन का मृदु भोजन बताते हैं यह विचार युक्तिसङ्गत हो सकता है। परन्तु चुन्द ने जब बुद्ध को भोजन का आमन्त्रण दिया। उस समय बुद्ध या उनके शिष्यों द्वारा यह सूचना मिलने का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि भगवान् बुद्ध की शारीरिक प्रकृति

और स्वास्थ्य साधारण हान से उनके लिये अमुक प्रकार का लघु भोजन तैयार होना आवश्यक है। इस प्रकार के इशारे बिना चुन्द उनके लिये अन्न या मृदु भोजन तैयार कराये यह सम्भवित नहीं लगता। वरन् अद्भुर और अहिच्छत्रक से चुन्द अपने पूज्य पुरुष के लिये भोजन तैयार कराय यह बात बहुत ही अयोग्य है। अब रही रसायन विधि की बात सो चुन्द स्वयं बुद्ध के लिये रसायन विधि से तैयार करवा लेता और न बुद्ध ही अपने निर्बल स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए उस रसायनात्मक गरिष्ठ भोजन का खाना पसन्द करते।

जहाँ तक हमारा खयाल है बुद्ध का वह भोजन न मांस था न रसायन आदि किन्तु वह था बाहर कन्द का सिरा। आज भी भारत के हिन्दू उपवास के दिनों में सूकर कन्द का सेक कर अथवा कच्चे का फलाहार करते हैं, पर पेट भर नहीं खाते। यह बड़ा मधुर कन्द होता है सूअर इसको देखा नहीं छोड़ते इसका नाम सूकर कन्द होने पर भी लोग इसे सक्कर कन्द के नाम से पहचानते हैं। चुन्द ने इसको स्वादु होने के कारण से ही इसका भोजन बुद्ध के लिये अलग तैयार कर वाया था, परन्तु चुन्द को क्या मालूम कि यह हल्का खाना भी घृत के मिलने से बड़ा गरिष्ठ बन जाता है। उसने तो अपनी बुद्धि से तो अच्छा ही किया था, परन्तु इस भोजन का परिणाम बुद्ध के लिये प्राणघातक हुआ। आज भी अनुभवी वैद्यगन भोजनों को [illegible] शरीर वालों के लिये वर्जित करते

बिमार अथवा दुर्बल मनुष्यों को इसका घृत शक्कर से बनाया हुआ शिरा पेट भर खाने से तुरन्त हानि पहुँचती है, विशेष कर रक्तातिसार हो जाता है। चुन्द का यह खाना खाने के बाद बुद्ध का स्वास्थ्य तुरन्त बिगड़ गया और अवशेष सूकर मद्दव को गड्ढे में डाल देने की सूचना दी। इससे हमारी दृढ़ धारणा हो गई है कि यह सूकर मद्दव और कोई नहीं पर सूकर य द वा शिरा ही था। जिसने बुद्ध की निर्बल आतों में अपना दुष्प्रभाव डाल कर स्वास्थ्य बिगाड़ दिया।

चुन्द के इस भोजन वाले प्रकरण को नीचे उद्धृत कर हम हमारे इस मन्तव्य को विशेष समर्थित करेंगे।—

"अथ खो चुन्दो कम्मार पुत्तो तस्सा रत्तिया अच्चयेन सके निवसने पणीत खादनीय भोजनीय पटियादापेत्वा पहुत च सूकर मद्दव भगवतो काल आरोचापेसि" कालो भन्ते ! निट्ठित भत्त ति।

अथ खो भगवा पुब्बण्हसमय निवासेत्वा पत्त चीवर आदाय सद्धि भिक्खुसंघेन येन चुन्दस्स कम्मारपुत्तस्स निवेसन तेनुप सङ्कमि, उपसङ्कमित्वा पञ्ञत्ते आसने निसीदि निसज्ज खो भगवा चुन्द कम्मारपुत्त आमन्तेसी–य ते चुन्द सूकर–मद्दव पटियत्त तेन म परिविस य पनञ्ञ खादनीय भोजनीय पटियत्त तेन भिक्खु सघ परिविसाति। एव भन्ते ति खो चुन्दो कम्मार पुत्तो भगवतो पटिस्सुत्वाय अहोसि सूकरमद्दव पटियत्त तेन भगवन्त

परिविसि। य पनञ्ञ खादनीय भोजनीय पटियत्त तन भिक्खू सघ परिविसि'त।

अथ खो भगवा चु द कम्मार पुत्त आमतेसि य त चु द। सूकर मद्दव अवसिट्ठ त सोब्भे निखणाहि नाह चु द पस्सामि सदेवके लोके समारके सब्रह्मके सस्समण ब्राह्मणिया पजाय सदेव मनुस्साय, यस्स त परिभुत्त सम्मा परिणाम गच्छेय्य अञ्ञत्र तथागतस्साति।

एव भन्तेति खो चु न्दो कम्मारपुत्तो भगवतो पटिस्सुत्वा य अह सि सूकर मद्दव अवसिट्ठ त सोब्भे निखणित्वा येन भगवा तनुपसकमि उपसकमित्वा भगवन्त अभिवादेत्वा एकमत निसीदि एकमत निसीन्न खो चु न्द कम्मारपुत्त भगवा धम्मियाय कथाय सदस्सेत्वा समादपेत्वा समुत्तेजेत्वा सम्पहसेत्वा उट्ठायसना पक्कामि अथ खो भगवतो चु दस्स कम्मार पुत्तस्स भत्त भुत्ताविस्स खरो आबाधो उप्पज्जि लोहित पक्खन्दिका बाल्हा वेदना वत्त न्ति मारणन्तिका तत्र सूद भगवा सतो सपजानो अधिवासेसि अविहञ्ञमानो।

अथ खो भगवा आयस्मत आनद आमन्तेसि आयामानन्द! येन कुसिनारा तनुपसकमिस्सामाति। एव भन्तेति खो आयस्मा आनन्दो भगवतो पच्चस्सोसि।

"उदान" पृ० ४ १

अर्थ—वह चु द लोहार उस रात्रि के बीत जाने पर अपने घर में बहुत सा स्वादिष्ट प्रणीत भोजन तथा एक से अधिक व्यक्तियों के योग्य सूकर मद्दव तैयार करवा कर बुद्ध के मुकाम प

गया और भोजन का समय होजाने की सूचना दी। तब भगवान् पूर्वाह्न समय के अन्त में अपने वस्त्र पात्र साथ में ले भिक्षुसंघ के साथ चुन्द के घर गये और बिछाये हुए आसन पर बैठ गये, उस समय भगवान् ने चुन्द को बुला कर सूकर मद्दव अपने पात्र में परसने की सूचना की और अन्य खादनीय भोजन भिक्षु संघ को देने आज्ञा दी। यह सुन कर चुन्द ने भगवान की सूचना को स्वीकार किया और सूकर मद्दव भगवान् को परसा तथा अन्य खादनीय भोजन भिक्षु संघ को। भोजनोत्तर भगवान् ने चुन्द को बुला कर कहा कि हे चुन्द! देव, मार और ब्रह्मा से युक्त इस लोक में श्रमण ब्राह्मणात्मक प्रजा में तथा देव और मनुष्यों में ऐसा किसी को मैं नहीं देखता कि तथागत के बिना दूसरा कोई इस सूकर मद्दव को खाकर पचा सके। अत शेष रहे सूकर-का मद्दव को गड्ढा खोदकर उसमें डाल दो, चुन्द ने बुद्ध की इस आज्ञा को स्वीकार किया। अवशिष्ट सूकर मद्दव को एकान्त में खड्डा खोदकर जमीनदोज कर दिया और बुद्ध को अभिवादन कर उनके पास आकर बैठ गया, भगवान् आसन से उठ कर रवाना हुए।

चुन्द लोहार का वह खाना खाने पर भगवान् को कठोर उदर व्याधि उत्पन्न हुआ और खून के दस्त शुरू हुये, बड़े जोरों की मारणान्तिक वेदना उत्पन्न हुई।

अब भगवान् ने आयुष्मान् आनन्द को बुला कर कहा हे आनन्द अब कुशिनारा को जायेंगे, आनन्द ने भगवान् के विचार का अनुमोदन किया।

बुद्ध के अंतिम भोजन सम्बन्धी इस प्रकरण में कुछ बातें ऐसी हैं जो सूकर मद्दव और बुद्ध की मानसिक शारीरिक स्थिति पर प्रकाश डालती हैं।

१—चुन्द के घर जाकर आसन पर बैठते ही बुद्ध चुन्द को बुलाते हैं, और सूकर मद्दव अपने पात्र में परसने की सूचना करते हैं। इससे विदित होता है कि सूकर मद्दव की हकीकत चुन्द द्वारा भिक्षुओं और भिक्षु द्वारा बुद्ध तक पहुँच चुकी थी कि वह एक विशेष प्रकार से बनवाया हुआ विशिष्ट खाद्य है और उसमें मूल्यवान् पदार्थ डाले गये हैं। बुद्ध यह नहीं चाहते थे कि ऐसे विकृति कारक उत्तेजक चीज टाल कर बनाया गया खाना अपने भिक्षु खायें, यही कारण है कि वे जमीनदोज करवा देते हैं। इससे पाया जाता है कि सूकर मद्दव सूकर कन्द की बनावट होने पर भी उसमें केशर कस्तूरी आदि बहुमूल्य उत्तेजक पदार्थ डाले गये थे।

२—सूकर मद्दव की दुर्जरता के सम्बन्ध में बुद्ध कहते हैं—यह भोजन बुद्ध को छोड़कर संसार भर में ऐसा कोई देव मनुष्य नहीं है जो इसे खाकर पचा सके। बुद्ध की यह कोरी डींग नहीं है पर उनके अनुभव का निचोड़ है। बुद्ध की जठराग्नि बड़ी व्यवस्थित थी, वे प्रतिदिन नियमित समय में एक बार भोजन करते थे, और उनका आहार बहुधा प्रणीत होता था। इसी कारण से वे उसे आमिष कहा करते थे। अपनी इस तन्दुरस्ती और जठर शक्ति से उनका ख्याल बन गया था कि मेरे जैसा गरिष्ठ भोजन को पचाने वाला दूसरा कोई नहीं है।

(३)—सूकर मद्दव के भोजन से बुद्ध का तात्कालिक स्वास्थ्य बिगड़ने और मारणान्तिक कष्ट होने का मूल कारण सूकर मद्दव नहीं पर उस महिनों पहले भुगती हुई बिमारी से उत्पन्न आँतों की दुर्बलता था।

अंतिम चातुर्मास्य म बुद्ध को एक भयङ्कर बिमारी हुई थी। वह बिमारी क्या थी इसका कहीं स्पष्टीकरण नहीं मिला, फिर भी यह बिमारी थी बड़ी भयङ्कर, बुद्ध इस बिमारी से मानसिक शक्ति का अवलम्बन लेकर ही बचे थ। चातुर्मास्य की समाप्ति तक वे रोग मुक्त हो गये थे, पर तु भयङ्कर बिमारी मनुष्य के शरीर म कुछ न कुछ अपना प्रभाव छोड़कर ही जाती है। हमारी राय में बुद्ध का यह रोग रक्तातिसार अथवा समहणी इन दो मे से कोइ एक होना चाहिए, क्यों कि यही दो रोग जठर शक्ति को अधिक से अधिक हानि पहुचाते हैं। बुद्ध निरोग होकर पाद विहार करने लगे थे, उनका शरीर जराजीर्ण हो गया था और जठर भी पहले जैसा नहीं रहा था, फिर भी उ होंने पूर्वाभ्यास से अपनी पाचन शक्ति को ठीक समझा और सूकर मद्दव जैसा गरिष्ठ भोजन कर के वे तत्काल रोगाका त हो गये।

समहणी रोग से मुक्त हुए मनुष्यों को कालान्तर मे पेट भर दुर्जर पकान्न खाने से बिमार हो कर दो चार ही दिन मे मरजाने के अनेक दृष्टा त हमारे सामने हैं, पर तु विस्तार के भय से यहाँ उनकी चर्चा नहीं कर सकते। बुद्ध ने स्वय सूकर का मास किसी समय खाया था, बुद्ध के भिक्षु भी वैसा मास खाते थे, पर तु न

बुद्ध उमसे विमार पड, न भिक्षुओं को उ होंन वैसा मास खान से रोका। इस से निर्विवार सिद्ध हा जाता है कि सूकर मद्दव न सूअर का मास था, न अ य टीकाकारां के बताये हुए खाने, यह सब चीजें डाल कर घृत शक्कर से बनाया हुआ सूकर क द का लेह मात्र था। बुद्ध को उसके खान स तात्कालिक दुष्परिणाम मालूम हुआ और शेष बचे भाग को उ होने जमीन दोज करवा दिया।

बुद्ध निर्वाण के बाद बौद्ध भिक्षुओं की स्थिति

विशति निपात म पाराप्य स्थविर कहते हैं—

अञ्जथा लोकनाथम्हि, तिट्ठ त पुरिसुत्तमे।
इरिय आसि भिक्खून, अञ्जथा दानि दिस्सते॥६२१॥
सीतवात परित्तान, हिरि कोपीन छादन।
मत्तट्ठिय अभुञ्जि सु, सतुट्ठा इतरीतर ॥६२२॥
पणीत यदि वा लूख अप्प वा यदि वा बहु।
यापनत्थ अभु जिसु, अगिद्धा नाधिमुच्छिता॥६२३॥

अर्थ—हे पुरुषोत्तम ! लोकनाथ बुद्ध के जीवित रहते भिक्षुओं की विहारचर्या और थी, और आज कल और ही दीखती है। उस समय शीत तथा ताप के रक्षार्थ तथा लज्जा निवारणार्थ वस्त्र रखत थे, और भिक्षु भिक्षुणी मात्रायुक्त भोजन करते थे उस समय क भिक्षु स्निग्ध अथवा रूक्ष अल्प मात्रा में वा पर्याप्त मात्रा म

(३)—सूकर मद्दव के भोजन से बुद्ध का तात्कालिक स्वास्थ्य बिगड़ने और मारणान्तिक कष्ट होने का मूल कारण सूकर मद्दव नहीं पर बुद्ध महिनों पहले भुगती हुई बिमारी से उत्पन्न आँतों की दुर्बलता था।

अंतिम चातुर्मास्य में बुद्ध को एक भयङ्कर बिमारी हुई थी। यह बिमारी क्या थी इसका कहीं स्पष्टीकरण नहीं मिला, फिर भी यह बिमारी थी बड़ी भयङ्कर, बुद्ध इस बिमारी से मानसिक शक्ति का अवलम्बन लेकर ही बचे थे। चातुर्मास्य की समाप्ति तक वे रोग मुक्त हो गये थे, परन्तु भयङ्कर बिमारी मनुष्य के शरीर में कुछ न कुछ अपना प्रभाव छोड़कर ही जाती है। हमारी राय में बुद्ध का यह रोग रक्तातिसार अथवा सग्रहणी इन दो में से कोई एक होना चाहिए, क्योंकि यही दो रोग जाठर शक्ति को अधिक से अधिक हानि पहुंचाते हैं। बुद्ध निरोग होकर पाद विहार करने लगे थे, उनका शरीर जराजीर्ण हो गया था और जठर भी पहले जैसा नहीं रहा था, फिर भी उन्होंने पूर्वाभ्यास से अपनी पाचन शक्ति को ठीक समझा और सूकर मद्दव जैसा गरिष्ठ भोजन कर के वे तत्काल रोगाक्रान्त हो गये।

सग्रहणी रोग से मुक्त हुए मनुष्यों को कालान्तर में पेट भर दुर्जर पकान्न खाने से बिमार हो कर दो चार ही दिन में मरजाने के अनेक दृष्टान्त हमारे सामने हैं, परन्तु विस्तार के भय से यहाँ उनकी चर्चा नहीं कर सकते। बुद्ध ने स्वयं सूकर का मांस किसी समय खाया था, बुद्ध के भिक्षु भी वैसा मांस खाते थे, परन्तु न

बुद्ध उनसे बिमार पड़े न कि सुअर का उन्होंने वैसा मांस खाने से खाया। इस से निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि सूकर मद्दव न सूअर का मांस था, न कुछ टीकाकारों के बताये हुए अन्न, वह सब चीजें डाल कर पूत शक्कर से बनाया हुआ सुस्वादु पक्वान्न मात्र था। बुद्ध को उसके खाने से तात्कालिक दुष्परिणाम मालूम हुआ और शेष बचे भाग को उन्होंने जमीन में गड़वा दिया।

बुद्ध निर्वाण के बाद बौद्ध भिक्षुओं की स्थिति

विसुद्धि निदान में पारापर्य स्थविर कहते हैं—

अञ्ञथा लोकनाथम्हि, तिट्ठन्ते पुरिसुत्तमे।
इरियं आसि भिक्खूनं, अञ्ञथा दानि दिस्सति॥२१॥
सीतवात परित्ताणं, हिरि कोपीन छादनं।
मत्तट्ठिय अभुञ्जिंसु, सन्तुट्ठा इतरीतरे॥२२॥
पणीतं यदि वा लूखं अप्पं वा यदि वा बहुं।
यापनत्थं अभुञ्जिंसु, अगिद्धा नाधिमुच्छिता॥२३॥

अर्थ—हे पुरुषोत्तम! लोकनाथ बुद्ध के जीवित रहते भिक्षुओं की विहारचर्या और थी, और आज कल और हो रही है। उस समय शीत तथा ताप के रक्षार्थ तथा लज्जा निवारणार्थ वस्त्र रखते थे, और भिक्षु भिक्षुणी मात्रायुक्त भोजन करते थे। उस समय के भिक्षु स्निग्ध अथवा रूक्ष अल्प मात्रा में या अधिक मात्रा में

शरीर निर्वाह के लिये आसक्ति तथा मोह रहित होकर भोजन करते थे।

सब्बासव परिक्खीणा, महाझायी महाहिता।
निब्बुता दानि ते थेरा, परित्ता दानि तादिसा ॥९२८॥
कुसलान च धम्मान, पञ्ञाय च परिक्खया।
सब्बाकार वरूपेत, लुज्जते जिन सासन ॥९२९॥
पापकान च धम्मान, किलेसानञ्च यो उतु।
उपट्ठिता विवेकाय, ये च सद्धम्म सेसका ॥९३०॥

अर्थ—सर्वाश्रवमुक्त, महाध्यायी, महाहित कारक, परिमित पदार्थग्राही ऐसे स्थविर आज कल निर्वृति प्राप्त कर गये, वैसे प्रकार के आज नहीं रहे। कुशल धर्मों के तथा प्रज्ञा के नाश होने से आज तथागत का शासन सर्व प्रकार से विरूपता को प्राप्त होकर लज्जित हो रहा है। पापक धर्म तथा क्लेशों का समूह जो सद्धर्म के उपासक शेष रहे हैं, उनके अविवेक का कारण बन रहा है।

मत्तिक तेल चुण्ण च, उदकासन भोजन।
गिहीन उपनामेति, आकङ्खता बहुत्तर ॥९३७॥
दन्त पोण कपिट्ठ च, पुप्फ खादनीयानि च।
पिण्डपाते च सम्पन्ने, अम्बे आमलकानि च ॥९३८॥

अर्थ—मृत्तिका, तैल, चूर्ण, पानी, आसन, खाद्यवस्तु, अधिक प्राप्ति की इच्छा करते हुए गृहस्थों को देते हैं।

न्तधावन कपित्थ, नाग पुष्पों का उपयोग करते हैं, और पश्चात् भिक्षा मिल जाने पर भी आम, आमले आदि ग्रहण करते हैं।

नेकतिका वञ्चनिका, कूटसक्खी अपाटुका।
बहूहि परिकप्पहि, आमिसं परि भुञ्जिरे ॥६४०॥
लेस कप्प परियाय, परिकप्पेनुधाविता।
जिविका उपायेन, सङ्कड्ढन्ति बहु धनं ॥६४१॥

अर्थ—कपटी, ठगने कूटसाक्षी देने वाले अल्पभाषक अनेक उपायों से आमिष का भोजन करते हैं। आशिक कल्प की छूट मिलने पर सम्पूर्ण कल्प की तरफ दौड़ते हैं और जीविका के लिये उपाय द्वारा बहुतरा धन संचित है।

भावी बौद्ध संघ के सम्बन्ध में पुस्सथेर की भविष्य वाणी

थर गाथा के तिसनिपात में पुस्सथेर कहते हैं—

बहु आदी नगा लोके, उपज्जिसन्ति नागते।
सुदेसितं इमं धम्मं, किलिसिस्सन्ति दुम्मती ॥६५४॥
गुण हीनापि संघम्हि, वोहरन्ति विसारदा।
बलवन्तो भविस्सन्ति, मुखरा असुताविनो ॥६५५॥
गुणवन्तोऽपि संघम्हि, वोहरन्ता यथात्थतो।
दुब्बला ते भविस्सन्ति, हिरिमना अनत्थिका ॥६५६॥

रजत जातरूप, खेत्त वत्थु अजेलकम् ।
दासीदास च दुम्मेधा, सादियिस्सति नागते ॥६५७॥
उज्झान सञ्ञिनो वाला, सीलेसु असमाहिता ।
उनद्दा विचरिस्सति, कलहाभिरता मगा ॥६५८॥

अर्थ—बहुत दोष वाले भिक्षु आगामी काल में इस लोक में उत्पन्न होंगे जो दुर्बुद्धि भिक्षु बुद्ध द्वारा सुदेशित इस धर्म को क्लेशित करेंगे, गुण रहित होकर भी होशियार, वाचाल, प्राणपरितापी भिक्षु बलवान् बनेंगे और संघ में व्यवहार चलायेंगे। गुणवान् होते हुए भी संघ में यथास्थित व्यवहार चलाने वाले भिक्षु बलहीन, लज्जित और अप्रयोजनीय बनेंगे। चांदी, सोना, खेत, मकान, बकरे, मेढ़े और दासी दासों का स्वीकार करके आगामी काल में दुर्बुद्धि भिक्षु उनसे लाभ उठायेंगे। भविष्य में अज्ञानी शील के गुणों में असमाधियुक्त और सच्चे धर्म मार्ग से भ्रष्ट बने हुए भी भिक्षु बड़े ध्यानी का ढोंग कर क्लेश में तत्पर रहते हुए विचरेंगे।

अजे गुच्छ निमुत्तेहि, सुरत्त अरहद्धज ।
निगुच्छिस्सति कासाव, ओदातेसु समुच्छिता ॥६६१॥

अर्थ—भिक्षुओं द्वारा आरक्त रक्त और काषाय बुद्धध्वज की जुगुप्सा करेंगे और उज्ज्वल वस्त्र धारण करने को उत्कण्ठित होंगे।

मिलक्खु रजन रचे, गरहन्ता मरु धजं ।
तित्थियान धजं कत्वि, धार मन्त्वदावकं ॥६६५॥
अगारवो च कासावे, तदा ते भविस्सति ।
पटिसंखाय कासावे, भिक्खून न भविस्सति ॥६६६॥

अर्थ —"रक्त" यह म्लेच्छों का प्रिय रङ्ग है यह कहते हुए कई अपने काषाय वस्त्र की निंदा करेंगे और अन्य तीर्थिकों का श्वेतवस्त्र धारण करेंगे। उस समय भिक्षुओं का काषाय वस्त्र पर अनादर होगा और भिक्षुओं का काषाय वर्ण के वस्त्र पर प्रति संख्या (आदर) नहीं रहेगा।

भिक्खू च भिक्खुनियो च, दुट्ठचित्ता अनादरा ।
तदानी मेत्तचित्तानं, निग्गण्हिस्सन्ति नागतं ॥६७४॥

अर्थ —भविष्य में दुष्टचित्त भिक्षु और भिक्षुणियां अनादर से मैत्र चित्त वाले भिक्षु भिक्षुणियों का पराभव करेंगे।

काषाय वस्त्रधारी भिक्षुओं के प्रति धम्मपदस्थ के प्रहार—

अनिक्कसावो कासावं, यो वत्थं परिदहिस्सति ।
अपेतो दमसच्चेन, न सो कासाव मरहति ॥१॥पृ०३
कासाव कण्ठा बहवो, पापधम्मा असञ्ञता ।
पापा पापेहि कम्मेहि, निरयं उपपज्जरे ॥२॥
सेय्यो अयो गुलो भुत्तो, तत्तो अग्गिसिखूपमो ।
यञ्चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो, रट्ठपिंडं असञ्ञतो ॥३॥
कुसो यथा दुग्गहितो, हत्थ मेवानुकन्तति ।

सामञ्ज दुप्परामट्ठ, निरयायुपकड्ढति ॥१२॥

'धम्मपद' पृ० ८

अर्थ—जो कषाय से मुक्त नहीं है और काषाय वस्त्र धारण करने की इच्छा करता है, पर इन्द्रियदमन और सत्यता से विमुक्त वह काषाय वस्त्र धारण के योग्य नहीं है।

काषाय वस्त्र को गले में लगाने वाले बहुतेरे पाप धर्म रत तथा असंयत पापी अपने पाप धर्मों से नरक गतियों में उत्पन्न हुये।

दुश्शील असंयत जो राष्ट्रपिण्ड खाता है, उससे तो अग्नि ज्वालोपम तपा हुआ लोह का गोला खाना श्रेष्ठ है।

जैसे ठीक न पकड़ा हुआ दर्भ पकड़ने वाले के हाथ को चीर देता है, वैसे ही यथार्थ न पाला जाता हुआ श्रमण धर्म श्रमण को नरक के समीप ले जाता है।

इति पष्ठाऽध्याय

समाप्ति मंगल

जैनागम–वेदागम–बौद्धागम कृतिततिं समवलोक्य।
गुणिजनबोधनिमित्तं, मीमांसा निर्मिता भोज्ये ॥१॥
मनुगगनयुग वर्षे, फाल्गुणमासे सिताष्टमी दिवसे।
जानालिपुरे रम्ये, मीमांसा पूर्णतामगमत् ॥२॥
मङ्गलं श्री महावीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं त्रिपदी वाणी मङ्गलं धर्म आर्हतं ॥३॥

॥ इति मानव भोज्य मीमांसा समाप्ता ॥